हर्षवर्द्धन

श्री गौरीशंकर चटर्जी, एम्० ए०

लेक्चरर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०

१९३८

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०
इलाहाबाद

मूल्य	कपड़े की जिल्द ३)
	साधारण जिल्द २)

मुद्रक—रामनरेश त्रिपाठी, हिंदी-मंदिर प्रेस, इलाहाबाद

प्राक्कथन

विदेशी भाषाओं में, श्रीहर्षवर्द्धन के जीवन तथा उन के शासन-काल के विषय में प्रचुर सामग्री वर्तमान है। कतिपय पांडित्यपूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुरातत्वान्वेषी पंडितों के गवेषणापूर्ण प्रबंध उपलब्ध हैं। इतिहास के प्रेमी पाठक, सम्यक्रूप से इन का उपयोग कर उक्त विषय का यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस संबंध में, 'रूलर्स आफ़ इंडिया सीरीज़' में प्रकाशित, लखनऊ विश्व-विद्यालय के इतिहासाचार्य डा० राधाकुमुद मुकर्जी का 'हर्ष' नामक ग्रंथ विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि यह पुस्तक ग्रंथकार के मौलिक प्रयास तथा पांडित्य का परिचायक है; तथापि विगत दश वर्षों के ऐतिहासिक अनुसंधान-कार्य को देखते हुए यह अब कुछ पुरानी पड़ गई है; अतः इस पर अब पूर्णतया निर्भर नहीं रहा जा सकता।

हिंदी भाषा में, इस विषय पर अभी तक कोई भी ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है। इस अभाव की पूर्ति के लिए ही मैंने प्रस्तुत प्रयास किया है। इस उद्योग के लिए प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी ने मुझे उपयुक्त अवसर प्रदान किया है; इस के लिए मैं उस का कृतज्ञ हूं।

इस पुस्तक के प्रणयन में मैंने प्राचीन पुस्तकों, लेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों का यथाशक्ति उपयोग किया है। मैंने केवल राजनीतिक घटनाओं का ही विस्तार-पूर्ण वर्णन नहीं किया है, अपितु धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य पर भी पूर्ण प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इन विभिन्न अंगों की विवेचना करने के लिए, चीनी यात्री ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत तथा महाकवि बाणभट्ट-रचित 'हर्षचरित' एवं 'कादंबरी' विशेष रूप से उपयोगी हैं। अपनी इस प्रस्तुत पुस्तक की रचना के संबंध में, मैंने इन ग्रंथों का पर्याप्त अध्ययन-अनुशीलन किया है। बाण के श्लेष, उपमा प्रभृति अलंकारों में तत्कालीन शासन-प्रबंध, धर्म, साहित्य तथा सभ्यता-संबंधी बहुत-सी बातें प्रच्छन्नरूप में निहित हैं। उन का उद्घाटन करना बड़े परिश्रम का काम है। मैंने यथाशक्ति इस संबंध में कुछ उद्योग किया है।

इस पुस्तक की रचना में नवीन लेखकों की अनेक पुस्तकों तथा लेखों से बहुत सहायता ली गई है। उन की एक सूची मैंने ग्रंथ के अंत में दे दी है। विशेष कर हिंदू विश्व-विद्यालय के अध्यापक श्रीयुत रमाशंकर त्रिपाठी, विश्व-भारती (शांति-निकेतन) के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री प्रभातकुमार मुकर्जी, लखनऊ विश्व-विद्यालय के इतिहासाचार्य डा० राधाकुमुद मुकर्जी, श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल, कोलंबिया युनिवर्सिटी सीरीज़ में प्रकाशित 'प्रियदर्शिका' के संपादकों तथा प्रसिद्ध कलातत्वविद् श्री आनंद कुमारस्वामी के विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों तथा लेखों से अधिक सहायता मिली है। यहां पर मैं उन सब के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाश करता हूं।

हिंदी मेरी मातृ-भाषा नहीं है। इस पुस्तक की रचना में श्रीयुत शंकरदयालु श्रीवास्तव, एम० ए०, महोदय से भाषा-संबंधी जो सहायता प्राप्त हुई है, उस के लिए मैं उन का बहुत आभारी हूँ। मेरे प्रिय छात्र श्रीयुत जीवनचंद्र पांडे जी बी० ए० ने इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति को दुहराने में निरंतर बड़े परिश्रम के साथ मेरी सहायता की है; अतः मैं उन का भी बड़ा कृतज्ञ हूं।

इस पुस्तक का संपूर्ण प्रूफ़ पं० पंचम द्विवेदी जी ने बड़े परिश्रम के साथ देखा है। मैं उन की सहायता के लिए हार्दिक कृतज्ञ हूं। पर मेरी अस्वस्थता तथा गृह-संबंधी अन्यान्य कठिनाइयों के कारण पुस्तक में यत्रतत्र, विशेषकर संस्कृत-टिप्पणियों में, जो अशुद्धियां रह गईं हैं, उन को ग्रंथ के अंत में एक अशुद्धि-पत्र के रूप में एकत्र कर दिया गया है। जहां तक हो सका है इस अशुद्धि-पत्र में संपूर्ण अशुद्धियों को शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है; फिर भी संभव है कि कुछ अशुद्धियां छूट गई हों, तो उन के लिए पाठक क्षमा कर सूचित करेंगे। उन के इस कष्ट के लिए मैं सदैव आभारी रहूँगा।

ग्रंथकार

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

भारत की राजनीतिक अवस्था

(५५०—६१२ ई०)

छठी शताब्दी के मध्यकाल से ले कर सातवीं शताब्दी के प्रारंभ तक—जब कि महाराज हर्षवर्द्धन ने उत्तरी भारत के एक बड़े भाग पर अपनी प्रभुता स्थापित की—भारत के राजनीतिक इतिहास का न्यूनाधिक पूर्ण विवरण हमें उपलब्ध है। इस अध्याय में यह बताने का प्रयत्न किया जायगा कि छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् से ले कर हर्ष के साम्राज्य के दृढ़-निर्माण तक भारत की राजनीतिक अवस्था कैसी थी। इस सिलसिले में हम उन अनेक राज्यों की राजनीतिक अवस्था का भी उल्लेख करेंगे जो हर्ष के समय में वर्तमान थे। महाराज हर्षवर्द्धन के शासन-काल का समुचित अध्ययन हम इसी प्रकार प्रारंभ कर सकते हैं। हमें संक्षेप में इस बात का भी उल्लेख करना होगा कि गुप्त-साम्राज्य के पतन के पूर्व देश की राजनीतिक अवस्था कैसी थी।

डाक्टर विंसेंट स्मिथ का कथन है कि "छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के इतिहास के संबंध में हमारा ज्ञान अल्प है। यह निश्चय है कि उस समय कोई सार्वभौमिक राजा नहीं था और गंगा के मैदान में स्थित सभी राज्यों को हूणों तथा उन से संबंध रखनेवाली अन्य जातियों की लूटपाट से बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। किंतु कतिपय स्थानीय वंशतालिकाओं में, नाम-संग्रह के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य बातों का उल्लेख नहीं किया गया है।"[१] डा० स्मिथ के इतिहास के लिखे जाने के पश्चात्, इस क्षेत्र में जो अनुसंधान किए गए हैं उन के परिणाम-स्वरूप, उन का यह उपरोक्त कथन अब सत्य नहीं ठहरता।

---

[१] 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३४१

पाँचवीं शताब्दी के मध्यकाल में प्रायः समस्त उत्तरी भारत गुप्तवंशीय सम्राटों के अधीन था। कुमारगुप्त प्रथम (४१५--४५५ ई०) का आधिपत्य बंगाल से ले कर काठियावाड़ तक विस्तृत विशाल साम्राज्य पर स्थापित था। किंतु कुमारगुप्त के शासन-काल के अंतिम दिनों में साम्राज्य के कुछ भाग में उपद्रव खड़े हो गए। कुमारगुप्त एक ऐसी जाति के साथ घोर युद्ध करने में संलग्न था जिस के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। यह जाति पुष्यमित्रों की थी। कुछ समय के लिए साम्राज्य का गौरव-सूर्य मंद पड़ गया। किंतु कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त (४५५—४६७ ई०) की वीरता एवं सैनिक कुशलता के कारण गुप्त-साम्राज्य ने अपने लुप्त गौरव को पुनः प्राप्त कर लिया। पुष्यमित्रों के साथ युद्ध करने में स्कंदगुप्त को बड़े-बड़े संकटों का सामना करना पड़ा। एक रात तो उस ने खाली ज़मीन पर सो कर बिताई थी। किंतु गुप्त-साम्राज्य के दुर्भाग्य के दिन अभी प्रारंभ ही हुए थे। पुष्यमित्रों के भय से त्राण पाते ही एक दूसरी आपत्ति ने आ कर उसे घेर लिया। यह आपत्ति बर्बर हूणों के आक्रमण के रूप में आई। हूण लोग पुष्यमित्रों से भी अधिक बलशाली थे और वे समस्त गुप्त-साम्राज्य को एकदम ध्वस्त कर देना चाहते थे। स्कंदगुप्त ने एक बार फिर साम्राज्य को संकट से बचाया। उस ने हूणों को एक गहरी पराजय दी। हूणों पर यह विजय उस ने अपने शासन-काल के प्रारंभ ही में—४५८ ई० के पूर्व ही—प्राप्त की थी। इस विजय द्वारा उस ने समुद्रगुप्त से भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। इस युद्ध की ख्याति म्लेच्छ देशों में भी फैल गई[1]। इस के पश्चात् और भी अनेक युद्ध हुए जो लगातार बारह वर्षों तक जारी रहे[2]। स्कंदगुप्त ने पश्चिमी प्रांतों (सौराष्ट्र एवं मालवा), पूर्वी प्रांतों (बिहार एवं बंगाल) तथा मध्य प्रांतों (अंतर्वेदी अथवा दोआबा आदि) पर अपनी प्रभुता सुरक्षित रक्खी। उस का शासन-काल ४६७ ई० के लगभग समाप्त हुआ।

स्कंदगुप्त का साम्राज्य उस के उत्तराधिकारियों को प्रायः ज्यों-का-त्यों समूचा प्राप्त हुआ। विंसेंट स्मिथ के इतिहास के लिखे जाने के बाद जो नवीन तथ्य प्रकाश में आए हैं उन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि स्कंदगुप्त के समय में हूणों के अनवरत आक्रमणों के सम्मुख, गुप्त-साम्राज्य ने अपना सिर नहीं झुकाया। स्कंदगुप्त ने पूर्ण-रूप से उन्हें मार भगाया। पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त, बालादित्य प्रथम, कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुद्धगुप्त (४७६-४९६ ई०) ने एक बड़े साम्राज्य पर शासन किया। बुद्धगुप्त के अधीन जो प्रदेश थे वे बंगाल से ले कर कम से कम पूर्वी मालवा तक फैले थे। उस की मृत्यु के पश्चात्, ५०० ई० के लगभग गुप्त-साम्राज्य का ह्रास होना प्रारंभ हुआ। इस स्थल पर हूणों का संक्षिप्त विवरण देना असंगत न होगा।

हूणों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें स्कंदगुप्त के भिटारीवाले लेख में मिलता है। मध्ययुग के बहुसंख्यक लेखों में भी बहुधा उन का उल्लेख पाया जाता है। ऐसा प्रतीत

---

[1] महाराज स्कंदगुप्त का जूनागढ़ का लेख।

[2] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६

होता है कि भारत के अनेक राजाओं ने उन्हें देश से मार भगाने के लिए उन पर आक्रमण किए थे। महाभारत, पुराण, रघुवंश, हर्षचरित तथा चंद्र-रचित प्राकृत व्याकरण[1] आदि ग्रंथों में भी हूणों का उल्लेख मिलता है। वे एक खानाबदोश जाति के लोग थे और एशिया के घास के मैदानों में निवास करते थे। जीविका की खोज में उन के दो प्रधान दल बाहर निकले, और वालगा तथा वंक्षु (आक्सस) नदी की तरेटियों में बस गए। जो लोग वंक्षु की तरेटी में जा कर बसे वे श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध हुए और थोड़े ही काल में मध्य-एशिया के अंदर फैल गए। उन्हों ने ४८४ ई० में ईरान को जीत लिया और काबुल के कुशान राज्य को नष्ट कर दिया। वहाँ से वे भारत के मैदानों में घुस आए। वास्तव में हूणों के दल ने ४५५ ई० के लगभग ही पूर्व की ओर बढ़ना प्रारंभ कर दिया था और स्कंदगुप्त ने अपने शासन-काल के प्रारंभ में उन को रोका था। ४६५ ई० के लगभग स्कंदगुप्त को हूणों के एक दूसरे आक्रमण का सामना करना पड़ा था। ईरानी राज्य के पतन (४८४ ई०) के पश्चात् इन बर्बर हूणों की पूर्वाभिमुखी प्रगति को रोकना कठिन प्रतीत हुआ। कुछ काल के अनंतर वे टिड्डी दल की भाँति गुप्त-साम्राज्य पर टूट पड़े। उन के नेता तोरमाण[2] ने ५०० ई० के पूर्व मालवा में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली किंतु मध्य-भारत में हूणों की सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। तथागतगुप्त के पुत्र बालादित्य द्वितीय के प्रयत्न से वे मध्यभारत के बाहर निकाल दिए गए। संभव हो सकता है कि बालादित्य ही भानुगुप्त नामक राजा रहा हो "जो पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ वीर और पार्थ के समान शक्तिशाली नरेश" था जिस के साथ सेनापति गोपराज अरिकिण (एरण) गया और "एक प्रसिद्ध युद्ध" में लड़कर ५१० ई० के कुछ पहले मर गया। भानुगुप्त ने जिस हूण-राज को पराजित किया वह संभवतः मिहिरकुल रहा होगा जो एक रक्तपिपासु अत्याचारी

[1] अजयत् जर्टो हूणान्।

[2] तोरमाण के चाँदी के सिक्कों पर जो तारीख़ मिलती है वह ५२ है। इस का अब्द अज्ञात है। अनुमान किया जाता है कि इसी का प्रारंभ लगभग ४४८ ई० में हुआ होगा, इस के अनुसार सिक्कों की तारीख़ ५०० ई० ठहरती है। देखिए, स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया,' पृष्ठ २२५

[3] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया,' पृष्ठ ४०२। जायसवाल महोदय के अनुसार, जिन का कथन 'मंजुश्रीमूलकल्प' पर अवलंबित है, हूणों का आक्रमण गुप्त-साम्राज्य के पतन का परिणाम था, न कि उसका कारण। उन का कथन है कि बुद्धगुप्त की मृत्यु के उपरांत गुप्तवंश वाले दो दलों में विभक्त हो गए। भानुगुप्त मालवा में राज्य करता था और तथागतगुप्त (बालादित्य द्वितीय का पूर्वगामी) मगध में। इस फूट के कारण तोरमाण का तुरंत आविर्भाव हुआ। तोरमाण और भानुगुप्त में अरिकिण (एरण) के युद्ध-स्थल पर ५१२ ई० के लगभग युद्ध हुआ जिस के कारण मालवा का पतन हुआ (देखिए, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया' पृष्ठ ३६)। तोरमाण बंगाल की ओर रवाना हुआ और बालादित्य को बंगाल चले जाने के लिए विवश किया। उस ने बालादित्य के पुत्र

नरेश था। मिहिरकुल पर बालादित्य की विजय ही अंतिम विजय नहीं थी। मिहिरकुल के अत्याचारों से भारत का उद्धार अंत में मांडसोर के राजा जनेंद्र यशोधर्मन् ने ५३३ ई० के पूर्व किया था। कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होता था कि हूणों के निरंतर आक्रमण से जर्जरित गुप्त-साम्राज्य एक बार फिर किसी सार्वभौमिक राजा के आधिपत्य में एकता-सूत्र में आबद्ध हो जायगा। गुप्त-साम्राज्य के समस्त प्रांतों और हूणों के प्रदेशों को अपनी प्रभुता के अधीन करके यशोधर्मन् ने सार्वभौमिक राजा की उपाधि धारण की। इस शासक की महानता का कुछ अनुमान हम उस के दरबारी कवि वासुलि के कथन से कर सकते हैं। वह कहता है[1] कि 'यशोधर्मन् का राज्य उन देशों पर था जो गुप्त राजाओं के अधिकार में नहीं थे। ... ... वह महाशक्तिशाली था और संपूर्ण पृथ्वी को जीत कर उस ने अपने अधीन कर लिया था। हूणों का सम्राट भी, जिस के अधीन अनेक करद राजा थे, उन राज्यों पर अपना अधिकार नहीं जमा सका जो यशोधर्मन् के अधीन थे। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से ले कर महेंद्र पर्वत तक और हिमालय से लेकर पश्चिमी सागर तक के देश के विभिन्न प्रदेशों के सामंत उस के चरणों पर लोटते थे। अपने बाहुबल से उस ने उन के दर्प को चूर कर दिया था। यही नहीं, मिहिरकुल ने भी जिस ने स्थाणु (शिव) के अतिरिक्त अन्य किसी के सम्मुख नतमस्तक होने की दीनता[2] (प्रणति-कृपणता) नहीं स्वीकार की, उस के चरणों

को कारागार से मुक्त कर मगध-राज के रूप में बनारस में गद्दी पर बैठाया। यहां पर ५१२ ई० के लगभग आक्रमणकारी स्वयं मर गया। उस के बाद उस का लड़का मिहिरकुल गद्दी का अधिकारी हुआ। मगध उस के अधीन था। अगले १५ वर्षों में भानुगुप्त ने अपनी शक्ति को दृढ़ किया और मिहिरकुल को नीचा दिखाया। उसे प्रलोभन दे कर निम्नस्थ बंगाल के जलमय प्रदेश में ले गया और परास्त किया (देखिए, वाटर्स, पृष्ठ २८८-८९)। ५२६ ई० के ठीक बाद ही बालादित्य की मृत्यु हो गई। मिहिरकुल अभी जीवित था और काबुल में अपने देशवासियों के ऊपर अत्याचार करता था। मगध-साम्राज्य के सिंहासन पर भानुगुप्त का पुत्र प्रकटादित्य आसीन था। उसी समय थानेश्वर के यशोधर्मन्-विष्णुवर्द्धन का आविर्भाव हुआ और उस ने अंत में मिहिरकुल को परास्त किया। प्रकटादित्य तथा मौखरि राजा उस के अधीन थे। यशोधर्मन् के पश्चात् प्रकटादित्य ने दीर्घकाल तक—लगभग ५० वर्ष (५३० -५८८ ई०) तक—एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। अंत में पूर्ण वृद्ध होकर ८४ वर्ष की अवस्था में उस का शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ। प्रकटादित्य ने मौखरि-सम्राट सर्ववर्मा (५५४—५७० ई०) को अपना अधिपति स्वीकार कर लिया। पटना के पूर्वस्थित मगध और बंगाल मौखरियों के आधिपत्य के अंतर्गत गुप्तवंश वालों के अधिकार में रहा। मगध के तथोक्त गुप्त राजा बंगाल के स्थानिक शासक थे। उन का संबंध प्रकटादित्य तथा बालादित्य द्वितीय के वंश से था। बाद को (देवगुप्त के समय से) वे मगध के राजा हो गए। थानेश्वर के राजवंश के अंत होने के उपरांत वे एक बार फिर उत्तरी भारत में सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुए। देखिए, जायसवाल 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ५३—६१

[1] मांडसोर का लेख 'कारपस इंसक्रिप्टियोनुम इंडिकारुम', जिल्द ३, पृष्ठ १४६

[2] स्थाणोरन्यत्र प्रणतिकृपणत्वं प्रापितं नोत्तमाङ्गम्।

की वंदना की थी।" यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि यशोधर्मन् का आधिपत्य लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी तक स्थापित था।

उस का एक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उस ने हूणों के आधिपत्य से भारत का उद्धार किया था। एलन का कथन है[1] कि हूण-साम्राज्य के पतन का कारण यह था कि वे किसी प्राचीन परिपाटी की सभ्यता के सम्मुख टिक सकने में असमर्थ थे। किसी भारतीय राजा ने उन्हें पूर्णतः पराजित कर देशोद्धारक बनने का श्रेय नहीं प्राप्त किया था। किंतु वास्तव में वे युद्ध-क्षेत्र में परास्त हुए थे और भारतीय सम्राट की सैनिक शक्ति के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा था।

ऐसे देशोद्धारक वीर पुरुष यशोधर्मन् के विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं जानते। जायसवाल महोदय के कथनानुसार संभव है कि उन के वंश का संबंध थानेश्वर से रहा हो। उस की 'बर्द्धन' उपाधि से हमें यह अनुमान करने का अवकाश मिलता है कि वह संभवतः वैश्य जाति का था। उसने मालवा में एक शासक नियुक्त कर रक्खा था जिस का नाम धर्मदास था और जो दक्ष का भाई था। संभव है कि उस की राजधानी थानेश्वर में रही हो। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में आए हुए एक पद की जो व्याख्या जायसवाल महाशय ने की है उस के अनुसार विष्णुवर्द्धन अथवा यशोधर्मन् का एक वंशधर हुए था। मौखरि-वंश के लोग, जिन का उल्लेख हम अभी आगे चल कर करेंगे, पहले विष्णुवर्द्धन के वंश के अधीन थे। बाद को वे स्वतंत्र हो गए और ईशानवर्मा के समय से उत्तरी भारत के सम्राट बन गए।[2] यशोधर्मन् विष्णुवर्द्धन ने भारत की प्रभुता या तो बालादित्य द्वितीय के हाथ से छीनी या उस के पुत्र वज्र से, जिस का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। भारत के प्राचीन इतिहास के रंगमंच पर यशोधर्मन् का लोप हो जाना उतना ही रहस्यमय है जितना कि उस पर उस का प्रवेश करना। ५४३-४४ ई० में, मांडसोर वाले लेख के १० वर्ष के उपरांत, गुप्तवंश का एक प्रतिनिधि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथ्वीपति' पुंड्रवर्द्धन-भुक्ति पर शासन करता था। मिहिरकुल कश्मीर का शासक बना और उस ने गंधार को जीत लिया। अपने जीवन के अंतिम समय तक वह अपनी पैशाचिक निर्दयता का प्रचुर परिचय देता रहा। उस का देहावसान ५४२ ई० के लगभग हुआ था।

यशोधर्मन् के पश्चात् संगठित साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करनेवाली शक्तियाँ भारत में फिर काम करने लगीं। यशोधर्मन् की मृत्यु के बाद आर्यावर्त्त का आधिपत्य मौखरियों के हाथ में चला गया। इन मौखरि लोगों का आदिम निवास-स्थान मगध था। उन्हों ने गुप्त राजाओं की निर्बलता से लाभ उठा कर अपने लिए कन्नौज में एक राज्य स्थापित कर लिया और थोड़े ही समय में उन्नति कर के भारत के सम्राट पद को प्राप्त कर लिया। रायचौधुरी के कथनानुसार मगध के बदले कन्नौज राजनीतिक जीवन का केंद्र बन गया[3]। कन्नौज उत्तरी भारत का राजनगर बन गया। वह उसी पद पर पहुँच

---

[1] एलन, 'कैटेलाग आफ़ इंडियन क्वायंस', भूमिका, पृष्ठ ६०

[2] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ २८, २९

[3] 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४२४

गया जिस पर पहले पाटलिपुत्र प्रतिष्ठित था। अब हम उन्हीं मौखरियों का वर्णन करेंगे जो गुप्त-सम्राटों के पद के उत्तराधिकारी बने।

छठी शताब्दी के अधिकांश भाग में उत्तरी भारत के अंदर कोई न कोई सम्राट अवश्य शासन करता था। यह अनुमान करना भ्रांति-मूलक है कि देश बहुत से ऐसे छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जो आपस में एक दूसरे से लड़ा-झगड़ा करते थे और उन सब के ऊपर कोई एक महाराजा न था जिस की आज्ञा का पालन वे सब करते। प्रतिद्वंद्वी राजवंशों के बीच, अवश्य लड़ाई-झगड़ा मचा रहता था। परंतु यह याद रखना चाहिए कि सभी हिंदू सम्राट विजय को राजत्व का आवश्यक अंग मानते थे। अतः इन युद्धों से अनिवार्यतः यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि सारे देश में अराजकता फैली हुई थी। प्रत्येक राजा के चित्त में दिग्विजय के विचार उठा करते थे। वह राजा वास्तव में बड़ा अकर्मण्य समझा जाता था जो विजय प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता था और जो अन्य सारी शक्तियों को जीत कर अपने अधीन नहीं कर लेता था।

मौखरि लोग अपने को वैवस्वत के वर से प्राप्त अश्वपति के सौ पुत्रों के वंशधर बतलाते थे। इस प्रसिद्ध वंश की उत्पत्ति की यह कथा वस्तुतः जनश्रुति के आधार पर अवलंबित है। उस की वास्तविक उत्पत्ति का हाल हमें ज्ञात नहीं है। मौखरि लोग संभवतः एक बहुत प्राचीन कुल से संबंध रखते थे। उन का वास्तविक अथवा कल्पित मुखर नाम का एक वंशज हुआ था और उसी के नाम पर इस वंश का नाम मौखरि पड़ा। शुंग एवं कण्व की भाँति मौखरियों का एक गोत्र था।—पतंजलि के महाभाष्य पर कैय्यट की जो टीका है उस में तथा जयादित्य एवं वामन की 'काशिकावृत्ति' में 'मौखर्याः' शब्द का प्रयोग गोत्र-नाम के रूप में ही हुआ है[1]। मृत्तिका-निर्मित एक मुद्रा में 'मोखलीनां' (=मौखरीणाम्) शब्द का उल्लेख ब्राह्मी लिपि में मिलता है[2]। वह लिपि ई० तीसरी शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती। उस के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि यह गोत्र मौर्य-काल में भी उपस्थित था। उसे मुखर और मौखरि दोनों कहते थे।[3]

मौखरि-वंश के राजे चौथी सदी में मगध देश पर राज्य करते थे। कदंब राजवंश के प्रतिष्ठाता मयूरशर्म्मा का, जिस के राज्यारोहण का समय लगभग २८५ ई० माना गया है, एक लेख हाल में प्राप्त हुआ है। इस लेख से यह पता लगता है कि प्रारंभिक कदंबों के समय में (ई० चौथी सदी) मौखरि लोग मगध पर राज्य करते थे। इस के

---

[1] 'एपिग्राफ़िआ इंडिका' जिल्द १४, पृष्ठ ११०

[2] 'कारपस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम्' (जिल्द ३) की भूमिका, पृष्ठ १४

[3] क. सोमसूर्यवंशाविव पुष्पभूतिमुखरवंशौ—हर्षचरित पृष्ठ २०६

ख. वन्दिरागपरं च परप्रयुक्ता जयशब्दमुखरमुखा मङ्खा मौखरिं मूर्ख क्षत्रवर्माणमुदखनन्—हर्षचरित, पृष्ठ २७०

बाणभट्ट ने अपने गुरु के लिए "सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्"—अर्थात् मुकुट-धारी-मौखरि राजे उन की पूजा करते थे— ऐसा लिखा है।—कादंबरी, पृष्ठ ३

अतिरिक्त संभव है कि गुप्तवंश के प्रतिष्ठाता चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों की सहायता से जिस 'मगधकुल' के राजा से मगध देश को जीत लिया था वह मौखरि वंश का ही रहा हो। यह अनुमान हाल में आविष्कृत 'कौमुदीमहोत्सव' नामक नाटक पर अवलंबित है।[1]

मौखरि नाम के दो विभिन्न राजवंश थे। उन की मुख्य शाखा उस प्रदेश पर शासन करती थी जिसे आजकल संयुक्तप्रांत कहते हैं। बाण के एक कथन से प्रकट होता है कि उन की राजधानी शायद कन्नौज में थी[2]। मुख्य शाखा के अतिरिक्त एक करद वंश था जो गया प्रदेश पर राज करता था। गया के उत्तर-पूर्व १५ मील की दूरी पर स्थित बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों के गुफा-मंदिर के लेखों से हमें इस वंश के तीन नाम ज्ञात हैं—अनंतवर्मा, उस के पिता शार्दूलवर्मा तथा पितामह यज्ञवर्मा[3]। इन तीनों राजाओं का शासन-काल पाँचवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है[4]। लिपि-प्रमाण के आधार पर वे छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पीछे नहीं हो सकते[5]। इतना स्पष्ट है कि वे गुप्त सम्राटों के सामंत थे। मौखरियों की प्रधान शाखा जो आरंभ में गुप्त राजाओं की अधीनता स्वीकार करती थी, अपनी उन्नति कर के उत्तरी भारत की प्रधान शक्ति बन गई। इस वंश के प्रथम तीन मौखरि राजाओं के नाम हरिवर्मा, आदित्यवर्मा तथा ईश्वरवर्मा थे। इन तीनों में से ईश्वरवर्मा (५२४—५५० ई०) वस्तुतः एक वीर पुरुष था। सर्वप्रथम उसी ने अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाई।[6] ज्ञात होता है कि इन प्रारंभिक मौखरि राजाओं ने गुप्त-राजाओं के साथ वैवाहिक संबंध जोड़ा था। प्राचीन भारत में दो राजवंशों के बीच, विवाह का संबंध प्रायः राजनीतिक दृष्टिकोण से स्थापित किया जाता था। यूरोप के इतिहास में भी इस प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। गुप्तवंश के राजा कूटनीति-विद्या में बड़े निपुण होते थे। अवसर पा कर वे ऐसा संबंध जोड़ने में कभी चूकते नहीं थे। चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ जो विवाह-संबंध स्थापित किया था उस का क्या फल हुआ यह हमें भली भाँति ज्ञात है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह, दक्षिण के मध्य भाग के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ किया था। बुंदेलखंड

---

[1] देखिए, एडवार्ड ए. पिरेज़, 'दि मौखरिज़'—(१९३४)- प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ २४-३९

[2] भर्तृदारिकापि राज्यश्रीः कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता—हर्षचरित, पृष्ठ २५१

[3] फ़्लीट—'कार्पस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम्' जिल्द ३, लेख नं० ४८-५१, पृष्ठ २२१-२२८

[4] भगवानलाल इंद्रजी और ब्यूलर—'इंडियन एंटिक्वेरी', जिल्द ११, पृष्ठ ४८८ की टिप्पणी।

[5] कीलहार्न—'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ ३

[6] जौनपुर का लेख जो बहुत अस्पष्ट है, शायद ईशानवर्मा की विजयों का उल्लेख करता है, जैसे—आंध्रपति को 'जो बिलकुल भयभीत हो गए थे' अपने अधीन करना—देखिए, 'कार्पस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम्' जिल्द ३, पृष्ठ २३०

तथा करनाल के बीच स्थित प्रदेश में वाकाटक राजाओं की शक्ति ही सर्वप्रधान थी। इस विवाह द्वारा चंद्रगुप्त द्वितीय ने रुद्रसेन द्वितीय जैसे शक्तिशाली राजा को अपना अधीनस्थ मित्र बना लिया।[1]

मौखरि राजाओं ने भी गुप्तवंशीय राजाओं के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया। मालूम होता है कि इन विवाहों से उन की स्थिति अधिक दृढ़ बन गई। आदित्य-वर्मा तथा उस के पुत्र और उत्तराधिकारी ईश्वरवर्मा दोनों की स्त्रियाँ गुप्तवंश की राज-कुमारियाँ थीं। आगे चल कर हम देखेंगे कि थानेश्वर के बर्द्धन राजाओं ने भी कन्नौज के मौखरि वंश के साथ विवाह-संबंध जोड़ा और इस नीति से अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ा लिया।

ईश्वरवर्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी ईशानवर्मा (लगभग ५५०-५७६ ई०) था। पहले-पहल उसी ने महाराजाधिराज की पदवी धारण की। ईशानवर्मा के समय से गुप्त और मौखरि राजाओं के प्रेम-पूर्ण संबंध में कुछ परिवर्तन हो गया। ईशानवर्मा उत्तर-कालीन गुप्तवंश के राजा कुमारगुप्त तृतीय का समकालीन था और दोनों राजघरानों की खुल्लमखुल्ला अनबन ईशानवर्मा के शासन-काल की एक महत्वपूर्ण घटना थी।[2] उत्तर काल के गुप्तवंशीय राजा आदित्यसेन का अफ़सड़वाला लेख कुमारगुप्त तृतीय द्वारा ईशानवर्मा की पराजय की ओर ऐसे शब्दों में संकेत करता है जिन से कि मौखरि राजा की महान् शक्ति के विषय में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता। इस समय भारत की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ, आंध्र, सुलिक, और गौड़ आदि थीं। ईशानवर्मा के शासन-काल का एक लेख हराहा में उपलब्ध हुआ है।[3] वह इस काल का बहुत महत्वपूर्ण लेख है। उपरोक्त शक्तियों के साथ ईशानवर्मा के युद्धों का बड़ा ही सजीव वर्णन इस लेख में मिलता है। तेलुगू प्रदेश के अंदर छठी शताब्दी में विष्णुकुंडी जाति के लोगों की ही प्रधानता थी[4]। खोज से यह निश्चय किया गया है कि आंध्र और विष्णुकुंडी दोनों एक ही थे। सुलिक और दक्षिण भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में रहनेवाले चालुक्य-वंश के लोगों को एक बतलाया गया है[5]। किंतु यह बात अभी पूर्ण-रूप से निश्चित नहीं हो सकी है। चालुक्य लोग इस समय अपनी शक्ति को खूब बढ़ा रहे थे। गौड़ लोगों का उल्लेख सब से पहले इसी लेख में मिलता है। उन्हें 'समुद्राश्रय' कहा गया है और यह बात स्पष्ट है कि वे समुद्र-तट के समीप रहते थे। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गौड़ों का इतिहास एकदम अंधकार-पूर्ण है। डाक्टर आर० जी० बसाक का कथन है कि ईशानवर्मा का समकालीन गौड़ राजा

[1]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ३६८

[2]रमाशंकर त्रिपाठी का लेख—'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द २०, पृष्ठ ६७

[3]'एपिग्राफ़िया इंडिका', जिल्द १४, पृष्ठ १२० तथा आगे।

[4]के० सुब्रमनियन, 'हिस्ट्री आफ़ आन्ध्र', २२५—६१० ई०, पृष्ठ २।

[5]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४०६

जयनाग नामक कोई व्यक्ति था।[1] उस ने अपनी राजधानी कर्णसुवर्ण से एक दानपत्र निकाला। लिपि-प्रमाण के आधार पर यह छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का कहा जा सकता है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि हूणों का उपद्रव अभी बंद नहीं हुआ था। ये हूण लोग थानेश्वर के आस-पास के प्रदेश तथा उस के आगे भी आक्रमण किया करते थे—जैसा कि आगे चल कर दिल्ली की सल्तनत के ज़माने में मंगोलों ने किया। मौखरि लोग सदा उन से सजग रहने के लिए विवश थे। मौखरि सरदारों को बहुधा हूण-सेना का सामना करना पड़ता था। अपने 'मदमत्त हाथियों' की सहायता से वे उन्हें परास्त कर देते थे।[2] गजारोही उन की सेना के एक मुख्य अंग थे। जायसवाल महोदय का कथन है[3] कि अफ़सड़ के लेख में जिस मौखरि सेना की ओर संकेत किया गया है वह वही विजयी सेना थी जिस ने यशोधर्मन् की अध्यक्षता में उस की उत्तरी विजय के सिलसिले में हूणों के साथ युद्ध कर उन्हें पराजित किया। उस सेना ने हूणों को हराया था, उत्तरकाल के गुप्तवंशीय राजा कुमारगुप्त तृतीय के पुत्र दामोदरगुप्त को मारा था और जब ईशानवर्मा ने उसे ले कर कुमारगुप्त तृतीय पर चढ़ाई की थी तब उस का सफलता-पूर्वक विरोध किया गया था। जायसवाल महाशय के मतानुसार ईशानवर्मा यशोधर्मन् के एक सेनापति के रूप में लड़ा था और बाद को उसे पदच्युत कर उत्तरी भारत का सम्राट बन गया था। ईशानवर्मा ने सामरिक विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। हूणों के आक्रमणों के कारण भारत का सामाजिक संगठन बहुत शिथिल हो गया था। सारे देश में सामाजिक अव्यवस्था फैल गई थी। हराहा के लेख में लिखा है कि उस ने "भूमि-रूपी टूटी हुई नौका (स्फुटितनौः) को ऊपर उठा लिया और सैकड़ों राजसी गुण-रूपी रस्सियों से उसे चारों ओर से बाँध कर ऐसे समय में डूबने से बचा लिया जब वह कलिकाल के झंझा-वात से डगमगा कर रसातल-रूपी समुद्र में बैठ रही थी।"[4] इस का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि ईशानवर्मा ने, स्कंदगुप्त की भाँति अपने वंश के नष्ट होते हुए वैभव को बचा लिया। वास्तव में उस का वैभव अवनति नहीं बल्कि उन्नति कर रहा था। उपरोक्त लेख का स्पष्ट अर्थ यह है कि ईशानवर्मा ने सामाजिक अव्यवस्था को बढ़ने से रोका था।[5] हूणों के आक्रमणों का एक परिणाम वर्णसंकरता का फैलना था। ईशानवर्मा ने संभवतः उस की वृद्धि को रोका था। पूर्ववर्ती काल में धर्म का पतन हो गया था। उस के शासन-काल ने हिंदूधर्म के पुनरुद्धार में कुछ योग अवश्य ही दिया होगा। कुछ काल के अंधकार और म्लेच्छों की प्रभुता के पश्चात् तीनों वेदों का नया जन्म हुआ।

---

[1] बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ ११२

[2] देखिए, आदित्यसेन का अफ़सड़वाला लेख, श्लोक ११—

यो मौखरेः समितिषूद्धतहूणसैन्या वल्गद्घटा विघटयन्नुरुवारणानाम्।

[3] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४७

[4] हराहा लेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द १४, पृष्ठ ११० तथा आगे।

[5] रमाशंकर त्रिपाठी, 'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द २०, पृष्ठ ६८

ईशानवर्मा के बाद सर्ववर्मा मौखरि-राज्य का उत्तराधिकारी बना। असीरगढ़ की मुहर[1] में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। इस से ज्ञात होता है कि वह सर्वश्रेष्ठ राजा सर्ववर्मा का समकालीन गुप्त-राजा दामोदरगुप्त था। मालूम होता है कि उसे मौखरि राजा ने गहरी पराजय दी थी। दामोदर गुप्त संभवतः युद्ध-क्षेत्र में मारा गया था।[2] विजय-लाभ करने के पश्चात् सर्ववर्मा ने मगध को अपने राज्य में मिला लिया। जीवितगुप्त द्वितीय के देवबरनर्कवाले लेख[3] में लिखा है कि सर्ववर्मा ने बालादित्य द्वारा पूर्व में स्वीकृत किए हुए दानपत्र को दृढ़ किया। यह सर्ववर्मा मौखरि राजा ही बताया जाता है, और बालादित्य, हूणों का विजेता बालादित्य द्वितीय था। दूसरे शब्दों में मौखरि लोग मगध के शासक बन गए थे। जायसवाल महोदय का मत है कि उत्तरकालीन गुप्त राजे बंगाल पर शासन करते थे और मगध, बालादित्य द्वितीय तथा उस के उत्तराधिकारी प्रकटादित्य के अधिकार में था। "उत्तरकाल के गुप्त राजाओं ने अपने प्रभु, गुप्तवंश की मूल शाखा के राजा बालादित्य की ओर से पूर्व में मौखरियों के आक्रमण का प्रतिरोध किया। सर्ववर्मा के समय तक युद्ध समाप्त हो गया था। सर्ववर्मा मौखरि सर्वमान्य 'परमेश्वर' अथवा सम्राट बन गए, जैसा कि जीवितगुप्त द्वितीय के देवबरनर्कवाले लेख से प्रमाणित होता है। सर्ववर्मा के शासन-काल में मौखरियों का प्रत्यक्ष शासन सोन नदी तक फैला था। पटना से पूरब दिशा में स्थित मगध तथा बंगाल पर गुप्तवंशीय राजे मौखरियों की अधीनता में राज करते थे।[4]"

सर्ववर्मा के उत्तराधिकारी के संबंध में, विद्वानों में कुछ मतभेद है। फ्लीट, चिंतामणि विनायक वैद्य तथा डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि सर्ववर्मा के पश्चात् सुस्थितवर्मा गद्दी पर बैठा। किंतु यह मत अफ़सड़वाले लेख के उस पद की भ्रांति-पूर्ण व्याख्या पर अवलंबित है जिस में दामोदरगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी महासेनगुप्त का उल्लेख है। उस पद में लिखा है कि सुस्थितवर्मा के ऊपर विजय-लाभ करने के कारण वीराग्रगण्य महासेनगुप्त की कीर्ति का गुण-गान लौहित्य नदी के तट पर सिद्ध लोग अब भी करते हैं।[5] कहा जाता है कि सुस्थितवर्मा जिसे महासेनगुप्त ने पराजित किया, मौखरि राजा था। किंतु इस लेख में उल्लिखित सुस्थितवर्मा मौखरि राजा नहीं हो सकता। किसी भी साहित्य

---

[1] 'कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम इंडिकारुम', जिल्द ३, नं० ४७, पृष्ठ २१६

[2] अफ़सड़ का लेख, श्लोक ११।

[3] 'कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम इंडिकारुम', जिल्द ३, नं० ४६, पृष्ठ २१३

[4] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ६८

[5] श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्..

श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदांकं मुहुः

यस्याद्यापि..

लौहित्यस्य तटेषु...............स्फीतं यशो गीयते ॥

अफ़सड़ का लेख, श्लोक १३, १४।

अथवा लिपि के प्रमाण से हमें इस नाम का कोई मौखरि राजा नहीं मिलता। इस के विपरीत भास्करवर्मा के निधानपुरवाले ताम्र-पत्रों तथा नालंदा की मुहर से सुस्थितवर्मा नामक एक आसाम का राजा हमें ज्ञात है। बाण भी आसाम के राजा भास्करवर्मा के पिता सुस्थितवर्मा के रूप में इस नाम का उल्लेख करता है। भास्करवर्मा हर्षवर्द्धन का समकालीन था। डाक्टर रायचौधरी का कथन है[1] कि अफ़सड़ के लेख और निधानपुरवाले ताम्र-पत्र के सभी विचारवान् पाठक इस बात को तुरंत स्वीकार कर लेंगे कि अफ़सड़ के लेख का सुस्थितवर्मा आसाम का राजा था, यद्यपि कतिपय पाश्चात्य विद्वान् अब भी इस मत से सहमत नहीं हैं। ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर महासेनगुप्त की कीर्ति का गुण-गान होना इस बात को प्रायः निश्चयात्मक रूप से सिद्ध करता है कि जिस सुस्थितवर्मा पर उस ने विजय प्राप्त की थी वह आसाम का राजा था। अतः मौखरि राजाओं की तालिका से हमें इस का नाम निकाल देना होगा।

सर्ववर्मा का उत्तराधिकारी संभवतः अवंतिवर्मा था।[2] अवंतिवर्मा की राजधानी कन्नौज थी। इसी राजा के समय से मौखरियों के साथ पुष्यभूति वंश का—जिस में हर्ष का प्रादुर्भाव हुआ, मैत्री-संबंध प्रारंभ हुआ।

अवंतिवर्मा के पश्चात् ग्रहवर्मा (६००-६०६) सिंहासनारूढ़ हुए। उन का विवाह थानेश्वर की राजकुमारी राज्यश्री के साथ हुआ था। राज्यश्री प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री और हर्षवर्द्धन की बहिन थी। कन्नौज और थानेश्वर के राज-वंशों के बीच मैत्री-संबंध पहले से ही स्थापित था। इस विवाह से यह संबंध और भी अधिक दृढ़ हो गया। राजनीतिक दृष्टिकोण से पुष्यभूति और मौखरि राजा का मैत्री-संबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण था उस काल के इतिहास का रूप देने में इस का विशेष हाथ था। इस संधि के महत्त्व की विवेचना हम आगे चल कर करेंगे। ग्रहवर्मा के शासन-काल का अगला इतिहास थानेश्वर के इतिहास का भी एक अंक बन जाता है। अतः थानेश्वर के सिंहासन पर हर्ष के आरूढ़ होने के समय वहां की परिस्थितियों के संबंध में उस इतिहास का वर्णन करना उचित होगा।

मौखरियों का वर्णन समाप्त करने के पूर्व हमें संक्षेप में यह विचार कर लेना चाहिए कि महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के समय, मौखरि-साम्राज्य का विस्तार कितना था, क्योंकि हर्ष के साम्राज्य से उस का भी महत्त्वपूर्ण संबंध है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस वंश के प्रारंभिक शासक सामंत राजा थे और संभव है कि उज्जैन नगर से उन का संबंध भी रहा हो। ईश्वरवर्मा के जौनपुरवाले लेखों से हमें यह पता लगता है कि पूर्व की ओर मौखरियों के साम्राज्य का विस्तार कितना था। किंतु उन के युद्धों से यह नहीं समझना चाहिए कि विभिन्न प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर उस ने उन्हें अपने राज्य में मिला लिया था। उस ने बहुधा आत्म-रक्षा के लिए ही युद्धों में भाग लिया, यद्यपि इस में

---

[1] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', परिशिष्ट सी०, पृष्ठ ४२२
[2] बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ ११७

संदेह नहीं कि अपनी ओर से भी उस ने कुछ आक्रमण किए थे। किंतु प्राचीन भारत के राजा ऐसे युद्ध स्वाभाविक रूप से किया करते थे। इन युद्धों का परिणाम, अन्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर राज्य का विस्तार करना नहीं होता था। इस के अतिरिक्त जौनपुर का लेख ईश्वरवर्मा के नामोल्लेख के पश्चात् ही अस्पष्ट हो जाता है। अतः हम ठीक से नहीं कह सकते कि उन में जिन विजयों का उल्लेख है उन का संबंध उन्हीं से था अथवा और किसी से[1]। ईशानवर्मा पहला राजा था जिस ने साम्राज्य-सूचक पदवियां धारण कीं। उस के शासन-काल में राज्य का कुछ विस्तार निःसंदेह ही हुआ होगा। किंतु सुदूरस्थ गौड़ों तथा आंध्रों के विरुद्ध उस ने जो युद्ध किए वे किसी प्रकार उस के साम्राज्य-विस्तार की ओर नहीं संकेत करते।[2] संभवतः ईशानवर्मा का राज्य प्रयाग की सीमा तक विस्तृत था और मालूम होता है कि प्रयाग संभवतः उस के समकालीन गुप्त राजा कुमारगुप्त तृतीय के साम्राज्य में सम्मिलित था; क्योंकि वहीं उस की अंत्येष्टि-क्रिया हुई थी। परम माहेश्वर महाराजाधिराज सर्ववर्मा न केवल अपने पैतृक राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल हुआ वरन् मगध के गुप्त राजाओं को पराजित कर उस ने अपने साम्राज्य को लगभग सोन नदी तक बढ़ाया भी था। जीवितगुप्त द्वितीय के देव-वरनर्कवाले लेख के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सर्ववर्मा तथा अवंतिवर्मा नामक मौखरि राजाओं के अधिकार में मगध का अधिक भाग था। इस लेख में लिखा है कि दक्षिण विहार के एक गाँव[3] का दान-पत्र जिसे पहले बालादित्य द्वितीय ने जारी किया था और फिर सर्ववर्मा तथा अवंतिवर्मा ने दोहराया था फिर से स्वीकृत किया गया। महाशिव-गुप्त के सीरपुरवाले शिलालेख में भी, मगध पर मौखरियों की प्रभुता के स्थापित होने का उल्लेख पाया जाता है।[4] मगध के निकल जाने पर, उत्तर-काल के गुप्त राजाओं का राज्य केवल मालवा तक सीमित था। किंतु फिर दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त ने विजय प्राप्त कर के अपने राज्य को लौहित्य नदी तक बढ़ाया था और इस प्रकार गुप्त-वंश के नष्ट होते हुए गौरव की रक्षा की थी। परंतु उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के संबंध में यह मत

---

[1] देखिए, टी० जी० अरवमुथन, 'कावेरी, मौखरिज़ एंड संगम एज', पृष्ठ ८४; तथा बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १०६; और रमाशंकर त्रिपाठी का लेख, 'जर्नल आफ़ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ २६८

[2] हराहा के लेख से प्रकट होता है कि उस ने आंध्र, गौड़ तथा सुलिकों के ऊपर विजय प्राप्त की, किंतु हमारे पास यह कहने का कोई कारण नहीं है कि उन्हों ने ईशानवर्मा के आधिपत्य को स्वीकार किया। इस विषय में हम ननिगोपाल मजूमदार (इंडियन एंटिकेरी, १९१७, पृष्ठ १२७) के साथ सहमत नहीं हो सकते। इस संबंध में 'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द २० में प्रकाशित त्रिपाठी जी का लेख द्रष्टव्य है।

[3] इस गाँव का नाम वारनिक था। आजकल उसे देववरनर्क कहते हैं। आरा के दक्षिण-पश्चिम २५ मील की दूरी पर यह गाँव स्थित है।

[4] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४८७ की टिप्पणी।

विवादग्रस्त है। सर्ववर्मा की असीरगढ़ (बरार) वाली मुहर से वैद्य, अरवमुथन तथा जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि मौखरि-साम्राज्य दक्षिण की सीमा तक विस्तृत था। किंतु फ्लीट का अनुसरण करते हुए त्रिपाठी जी का यह परिणाम निकालना उचित ही है कि लेख का असीरगढ़ में पाया जाना ही किसी प्रकार इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि मौखरि-वंश के राजा वहाँ राज करते थे। उन का राज्य संभवतः वहाँ से सैकड़ों मील पूर्व की ओर था। मुद्राएँ तथा मुहरें छोटी वस्तु होने के कारण अपने मूलस्थान से बहुत दूर ले जाई जा सकती हैं। इस का एक उदाहरण हमारे सामने मौजूद है। आसाम के राजा भास्करवर्मा की एक मुहर नालंदा में पाई गई है, यद्यपि यह निश्चयात्मकरूप से ज्ञात है कि वह प्रदेश उस के राज्य के अंतर्गत सम्मिलित नहीं था[1]। मौखरि राजाओं ने अनेक आक्रमण किए थे। संभव है कि उक्त विवाद-ग्रस्त मुहर उन्हीं आक्रमणों के साथ कभी असीरगढ़ पहुँच गई हो। अंत में निरमंद के लेख[2] की ओर संकेत करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह लेख पंजाब के कांगड़ा ज़िले में सतलज नदीतट के पास स्थित एक स्थान पर मिला है। इस लेख में महाराजा सर्ववर्मा के एक दान का उल्लेख है। त्रिपाठी जी अरवमुथन के इस कथन का खंडन करते हैं कि इस लेख का सर्ववर्मा, दामोदर गुप्त का विजेता मौखरि राजा सर्ववर्मा ही था। उन का कहना है कि एक तो उस में सर्ववर्मा के नाम के साथ केवल महाराजा की उपाधि है, और दूसरे वह बात मान लेने से यह मानना भी आवश्यक हो जायगा कि बीच में स्थित वर्द्धन-राज्य पर भी मौखरियों की प्रभुता स्थापित थी। प्रथम आपत्ति तो अनिवारणीय नहीं है और दूसरी आपत्ति के संबंध में यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि उस समय वर्द्धन-राजा आदित्यवर्मा केवल एक स्थानिक शासक था। संभव है कि वह मौखरि-सम्राट का एक सामंत रहा हो। सर्वप्रथम प्रभाकरवर्द्धन ने ही अपनी स्वतंत्रता घोषित की थी। प्रश्न यह उठता है कि वह किस से स्वतंत्र हुआ। इस संबंध में यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि वह मौखरि राजा की अधीनता से स्वतंत्र हुआ था। मौखरियों के साथ पुष्यभूति का मैत्री-संबंध, प्रभाकर की पुत्री और ग्रहवर्मा के विवाह से दृढ़ हुआ था। संभवतः मौखरियों और वर्द्धन राजाओं के बीच होनेवाले किसी अज्ञात युद्ध के पश्चात् ही उक्त मैत्री-संबंध स्थापित हुआ था। युद्ध के उपरांत जो संधि हुई थी उस में प्रभाकर को उस प्रदेश का स्वतंत्र-शासक स्वीकार किया गया, जहाँ वह अब तक सामंत के रूप में शासन करता था। महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के समय जलंधर का ज़िला मौखरियों के राज्य में सम्मिलित नहीं था, यह बात निश्चित है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अवंतिवर्मा और उस के उत्तराधिकारी ग्रहवर्मा के समय में मौखरि-राज्य पश्चिम में थानेश्वर राज्य की सीमा को स्पर्श करता था। उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत की दक्षिणी रेखा थी। दक्षिण में उस का विस्तार आधुनिक संयुक्त-

---

[1]त्रिपाठी, 'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ २११

[2]फ़्लीट, 'कारपस इंसक्रिप्शियोनुम इंडिकारुम', पृष्ठ २८७

प्रांत की दक्षिणी सीमा तक था। कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा की हत्या के पश्चात् महाराज हर्षवर्द्धन मौखरि-राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

उत्तरकालीन गुप्त राजागण

हम पीछे संकेत कर आए हैं कि उत्तरकाल के गुप्त राजाओं और मौखरियों के बीच निरंतर लड़ाई-झगड़ा मचा रहता था। प्रश्न यह उठता है कि ये गुप्त राजा कौन थे और वे कहाँ शासन करते थे? हूणों के निरंतर आक्रमण के कारण गुप्त-सम्राट थोड़ा-बहुत निर्बल हो गए थे। ४६७ ई० में स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद उस के उत्तराधिकारी बंगाल से ले कर पूरबी मालवा तक के भू-भाग पर शासन करते रहे। पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र आदि प्रदेश उस समय हूणों के अधिकार में चले गए थे। डभाला (जबलपुर के आस-पास का प्रदेश) के परिव्राजक-वंश के महाराजे छठी शताब्दी के आरंभ तक गुप्त राजाओं की प्रभुता स्वीकार करते रहे। हूण लोग जो छठी सदी के ठीक आरंभ में मध्यभारत ही नहीं; बल्कि मगध तक बढ़ आए थे, भानुगुप्त उपनाम बालादित्य द्वितीय के हाथों से पराजित हुए। वे उत्तर की ओर भगा दिए गए, जहाँ उन्हें काश्मीर के छोटे राज्य से ही संतोष करना पड़ा।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है, जैसा कि हमारे अनुभवी विद्वान् जायसवाल महोदय हमें विश्वास दिलाते हैं—कि गुप्त राजाओं में खोई हुई शक्ति को लौटा लेने की विलक्षण क्षमता थी।[1] भानुगुप्त के पश्चात् हमें गुप्त-सम्राटों की वंश-परंपरा का कुछ पता नहीं लगता। ह्वेनसांग ने वज्र नामक एक राजा का उल्लेख किया है। 'आर्यमंजु श्रीमूलकल्प' में प्रकटादित्य नाम के राजा का उल्लेख है जिस ने दीर्घकाल (५२६ से ५८७ ई०) तक शासन किया। कतिपय लेखों में हमें वैन्यगुप्त का नाम मिलता है। वह ५०६ ई० में बंगाल में शासन करता था और हूणों का समकालीन था।[2] अंत में हम एक गुप्त राजा 'परमभट्टारक, महाराजाधिराज पृथ्वीपति' के प्रतिनिधि को पुंड्रवर्द्धन-भुक्ति (उत्तरी-बंगाल) पर ५४३-४४ ई० में शासन करते हुए पाते हैं।[3]

आदित्यसेन के अफ़सड़वाले लेख से हमें गुप्त-राजाओं के एक वंश का पता लगता है जिस का प्रारंभ कृष्णगुप्त से होता है। कृष्णगुप्त तथा उस के उत्तराधिकारियों का यही वंश है जिसे कभी कभी मगध के गुप्त राजाओं का वंश कहा जाता है। महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के समय की परिस्थितियों को ठीक से समझने के लिए कृष्णगुप्त की राजवंशावली का ज्ञान भी एक प्रकार से आवश्यक है।

---

[1] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४८

[2] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४०२, पाद-टिप्पणी १

[3] दामोदरपुर का ताम्रलेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द १५ पृष्ठ ११३। 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द १७ पृष्ठ १९३ में इस का संशोधन प्रकाशित हुआ है।

कृष्णगुप्त के वंश के प्रथम तीन राजाओं के नाम-मात्र ही हमें ज्ञात हैं। चौथा राजा कुमारगुप्त तृतीय था। वह मौखरि-राजा ईशानवर्मा का समकालीन था। ईशानवर्मा ५५४ ई० में शासन करता था[1]। कुमारगुप्त तृतीय को मौखरि राजा ईशानवर्मा के साथ एक घोर युद्ध करना पड़ा था[2]। लेख की भाषा से कुमारगुप्त का ही विजयी होना प्रमाणित होता है। किंतु हमें यह निश्चयात्मक रूप से ज्ञात है कि कुमारगुप्त प्रयाग में आत्म-हत्या कर के मरा था[3]। संभव हो सकता है कि वह अपने शत्रु ईशानवर्मा के हाथ से पराजित हुआ हो और लज्जा के मारे, प्रायश्चित्त के रूप में, उस ने अपना प्राणोत्सर्ग कर दिया हो।

कुमारगुप्त तृतीय का उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त था। यह बात बिल्कुल निश्चित है कि दामोदरगुप्त अपने मौखरि-प्रतिद्वंदी के हाथ पराजित हुआ था, जैसा कि पीछे कहा गया है। हम पीछे यह भी लिख चुके हैं कि मौखरि-राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार सोन नदी तक कर लिया था। दामोदरगुप्त का उत्तराधिकारी महासेनगुप्त था। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मालवा का वह राजा यही था, जिसका उल्लेख 'हर्षचरित' में किया गया है। उस के पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त, हर्षवर्द्धन और राज्यवर्द्धन के साथी थे।[4] अफ़सड़वाले लेख में भी महासेनगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी राजा माधवगुप्त का नाम हर्ष के एक घनिष्ठ मित्र के रूप में मिलता है। उस लेख में कहा गया है कि माधवगुप्त हर्ष का साथ करने के लिए लालायित था[5]। इस से निस्संदेह सिद्ध होता है कि 'हर्षचरित' में जिस मालवराज माधवगुप्त का उल्लेख है, वह वही माधवगुप्त है, जिस का नाम अफ़सड़वाले लेख में मिलता है और जिसे उस में महासेनगुप्त का पुत्र कहा गया है। इस प्रकार हमें कम से कम इतना पता लगता है कि महासेनगुप्त मालवा का राजा था। किंतु इस से यह परिणाम नहीं निकलता कि उस के पूर्ववर्ती सब राजे भी मालवा के शासक थे। हम कुछ आगे चल कर संक्षेप में इस बात पर विचार करेंगे कि कृष्णगुप्त के वंश के राजाओं का मूलराज्य कौन था।

---

[1]हराहा का लेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका' जिल्द १४, पृष्ठ ११० और आगे।

[2]श्रीमःश्रीशानवर्म्मक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिंधु—
लक्ष्मीसंप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मंदरीभूय येन ॥

अफ़सड़ का लेख, श्लोक ८

अर्थात् जिस कुमारगुप्त ने मंदर पर्वत बनकर, राजाओं में चंद्रमा-स्वरूप ईशानवर्मा की सेना-रूपी भीषण दुग्धसागर का—जो कि लक्ष्मी की प्राप्ति का हेतु था—शीघ्रता के साथ मंथन किया।

[3]अफ़सड़ का लेख, श्लोक ९

[4]कुमारगुप्तमाधवगुप्तनामानौ अस्माभिर्भवतोरनुचरत्वार्थमिमौ निर्दिष्टौ—हर्षचरित, पृष्ठ १९६

[5] 'श्रीहर्षदेवनिजसंगमवांछया च—' अफ़सड़ का लेख, श्लोक १८

महासेनगुप्त के शासन-काल में केवल एक उल्लेखनीय घटना घटित हुई। हर्षवर्द्धन के समकालीन राजा भास्करवर्मा के पिता कामरूप के राजा सुस्थितवर्मा और महासेनगुप्त के बीच एक युद्ध हुआ। हमारे इस कथन का आधार अफ़सड़ का लेख है। उस में लिखा है कि युद्ध में प्रसिद्ध राजा सुस्थितवर्मा के ऊपर प्राप्त विजय के सम्मान से चिह्नित महासेनगुप्त का महान् यश अभी तक लौहित्य नदी के तट पर गाया जाता है।[1]

महासेनगुप्त के पश्चात् माधवगुप्त गद्दी पर बैठा। वह हर्ष का समकालीन था। माधवगुप्त के बाद जो गुप्त राजे गद्दी पर बैठे, वे निश्चयतः मगध के शासक थे। माधव-गुप्त के उत्तराधिकारी आदित्यसेन के लेख मगध में प्राप्त हुए हैं। थानेश्वर के राजा हर्षवर्द्धन के इतिहास के लिए हमें उत्तरकाल के इन राजाओं से कुछ मतलब नहीं है। प्रश्न यह है कि इन राजाओं ने सर्वप्रथम अपना राज्य कहाँ स्थापित किया ?

फ़्लीट का मत है कि कृष्णगुप्त तथा उस के उत्तराधिकारी प्रारंभ से ही मगध के शासक थे,[2] किंतु यह बात वास्तव में असंभव है; क्योंकि देवबरनकवाले लेख निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध करते हैं कि सर्ववर्मा तथा अवंतिवर्मा नाम के मौखरि-राजा मगध पर शासन करते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उन के समकालीन गुप्त राजाओं की प्रभुता मगध पर स्थापित थी।[3] इस के अतिरिक्त हर्ष के सिंहासनारोहण के पूर्ववर्ती काल के लेखों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्रियों में मगध प्रदेश का संबंध गुप्त राजाओं के साथ नहीं बल्कि मौखरि-राजाओं के साथ बतलाया गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पूर्णवर्मा को मगध के सिंहासन का अधिकारी बतलाया है। इस बात की पूर्ण संभावना है कि यह पूर्णवर्मा एक मौखरि-राजा रहा हो। मगध के संबंध में वे माधवगुप्त अथवा महासेनगुप्त का उल्लेख नहीं करते हैं। बाण माधवगुप्त को मालवराज का पुत्र और हर्ष का साथी बतलाते हैं। यह माधवगुप्त और अफ़सड़ के लेख में उल्लिखित माधवगुप्त दोनों एक ही हैं। इस प्रकार हम अनिवार्य-रूप से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महासेनगुप्त वास्तव में मालवा का राजा था और हर्ष के सिंहासनारोहण के पूर्व, कम से कम कुछ समय तक, मगध गुप्त राजाओं के नहीं बल्कि मौखरि राजाओं के अधीन था। इन परिस्थितियों में केवल दो बातें संभव हो सकती हैं। पहली संभावना तो यह हो सकती है कि कृष्णगुप्त वंश के राजाओं ने पहले पहल मालवा में राज करना प्रारंभ किया हो और हर्ष के पश्चात् आदित्यसेन के समय से वे वहां से मगध चले गए हों। दूसरी संभावना यह है कि उस वंश का राज्य मगध में प्रारंभ हुआ हो और दामोदरगुप्त की पराजय तथा मृत्यु के पश्चात् छठा राजा महासेनगुप्त मालवा के किसी भाग में चला गया हो।

---

[1] श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदांकं मुहु—
यस्याद्यापि ······························
लौहित्यस्य तटेषु···············स्फीतं यशो गीयते। अफ़सड़ का लेख, श्लोक १४

[2] फ़्लीट, 'कॉरपस इंस्क्रिप्टियोनुम इंडिकारुम', जिल्द ३···················पृष्ठ १४

[3] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४२३

ऊपर जिन बातों की विवेचना की गई है, उन्हें अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। वे बातें आज भी सर्वमान्य हैं। जायसवाल महोदय ने जैन-ग्रंथ आर्यमंजु-श्रीमूलकल्प के कतिपय पदों की जो व्याख्या की है, उस से उत्तरकालीन गुप्त राजाओं की स्थिति बिल्कुल भिन्न दिखाई पड़ती है[1]। उन का कथन है कि "बालादित्य और मौखरियों के समय में भी उत्तर-काल के गुप्त राजा मगध पर शासन नहीं करते थे। ज्ञात होता है कि मगध के तथोक्त गुप्त राजा बंगाल के स्थानिक शासक थे, जिन्हों ने एक पृथक् गौड़वंश की स्थापना की; क्योंकि आदित्यसेन के पिता माधवगुप्त[2] ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मा को पराजित किया। आदित्यसेन के शासन-काल के प्रारंभ का एक लेख भागलपुर में उपलब्ध हुआ है। उस के कर्मचारी-विभाग (सेक्रेटरियट) में गौड़ कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।"[3] एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं कि "जैसा कि मंजुश्रीमूलकल्प निश्चयात्मक रूप से बतलाता है, उत्तरकाल के ये गुप्त राजा गौड़ों के राजा थे। बाद को आदित्यसेन के पुत्र देवगुप्त के समय से वे मगध के राजा हो गए। वे बंगाल के राज-प्रतिनिधि वंश के थे और उन्हों ने अपने स्वामी मूलगुप्त वंश के राजा बालादित्य की ओर से पूर्व में मौखरियों के आक्रमण का विरोध किया"।[3] आगे चल कर वे कहते हैं कि "प्रकटादित्य के शासन-काल से ही उत्तरकालीन गुप्त राजाओं की गणना होनी चाहिए। प्रकटादित्य और राजवर्द्धन के समय तक दो शाखाएं थीं। एक का शासन मगध में था और दूसरी का बंगाल में। दूसरी शाखा हर्ष के बाद आदित्यसेन के समय में बंगाल से मगध में चली गई। जब थानेश्वर के राज-वंश का अंत हो गया तब उत्तरी भारत में एक बार फिर उस का सर्वाधिपत्य स्थापित हो गया। यह बात मंजुश्रीमूलकल्प से पूर्णतया स्पष्ट है"।[4]

जायसवाल का मत संक्षेप में यह है। बालादित्य का उत्तराधिकारी प्रकटादित्य बंगाल तथा बिहार में गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। बंगाल में भी राजाओं का एक घराना था। ये लोग भी गुप्त-वंश के थे। बंगाल के इस राज-वंश तथा कृष्णगुप्त के वंश में कोई भेद न था, दोनों एक ही थे। बाद को प्रकटादित्य मौखरि राजा ईशानवर्मा का एक सामंत बन गया। इस पर चौथे गुप्त राजा कुमारगुप्त तृतीय ने बंगाल में अपनी प्रभुता घोषित कर दी और ईशानवर्मा को पराजित कर दिया। प्रकटादित्य और उस का उत्तराधिकारी वज्र दोनों मौखरि राजाओं के सामंत बन कर मगध में शासन करते रहे। बंगाल के राज-वंश ने भी अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रक्खा। किंतु इस मत को ग्रहण करने से 'हर्ष-चरित' के मालव-राजा के संबंध में एक कठिनाई आ उपस्थित होती है। हम पहले कह आए हैं कि हर्ष का साथी मालवराज माधवगुप्त का पुत्र, जिस का उल्लेख बाण ने

---

[1]जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४१

[2]आदित्यसेन के पिता माधवगुप्त के स्थान पर माधवगुप्त के पिता महासेन गुप्त होना चाहिए।

[3]जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४८

[4]वही

किया है, वही माधवगुप्त है जो अफसड़ के लेख के अनुसार महासेनगुप्त का पुत्र था तथा हर्ष का साथ करने के लिए लालायित था। दूसरे शब्दों में महासेनगुप्त मालवा का राजा था। बहुत संभव है कि महासेनगुप्त के पूर्ववर्ती राजाओं का भी संबंध मालवा से रहा हो। ऐसी अवस्था में यह मत ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि कृष्णगुप्त-वंश के उत्तरकालीन गुप्त-राजा मालवा के शासक थे। उन्हों ने अपने साम्राज्य को कुमारगुप्त तृतीय के समय में प्रयाग तक बढ़ा लिया था। हर्ष के बाद वे मगध चले गए। गौड़ देश में भी छोटे-छोटे गुप्त राजवंश थे। कृष्णगुप्त के वंश से उन का कुछ सरोकार न था। 'मंजुश्रीमूलकल्प' के 'महाविश्लेषण' शब्द[1] से आवश्यक-रूप से यह मतलब नहीं निकलता कि गौड़ों ने अपना स्वतंत्र एवं पृथक् राज-वंश स्थापित किया। उस का सीधा अर्थ केवल यह है कि गौड़ लोग सदा आपस में लड़ा-झगड़ा करते थे। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' अनेक स्थलों पर बंगाल की अराजकतापूर्ण अवस्था की ओर संकेत करता है।[2] ६७५ वें श्लोक में जिन गौड़ों का उल्लेख है उन का कृष्णगुप्त-वंश के साथ कुछ संबंध न समझना चाहिए।

उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के मालवा राज्य की सीमा निर्धारित करना कठिन है। किंतु इस में तनिक भी संदेह नहीं है कि मालवा नाम के कई विभिन्न देश थे। डा० राय चौधुरी के मतानुसार उत्तरकाल के गुप्त राजा पूर्वी मालवा (भीलसा) के शासक थे। हिंदू-विश्वविद्यालय के अध्यापक धीरेंद्रचंद गंगोली का कथन है कि मालवा देश से केवल एक देश का अभिप्राय था और वह देश, उत्तर में कोटा राज्य तक, पूर्व में भीलसा तथा दक्षिण में ताप्ती नदी तक और पश्चिम में माही तक फैला था।[3] वात्सायन कामसूत्र के भाष्य को देखने से यह ज्ञात होता है कि मालवा शब्द का प्रयोग, पूर्वी मालवा के अर्थ में होता था। किंतु गंगोली जी भाष्य के इस प्रमाण की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। इस संबंध में यह लिखना असंगत न होगा कि एक लेख, जिस का उल्लेख रायचौधुरी ने किया है,[4] यह प्रमाणित करता है कि मालवा नाम के सात देश वर्तमान थे। इस के अतिरिक्त बिना किसी पर्याप्त कारण के वात्सायन के टीकाकार के प्रमाण की अवहेलना करना उचित नहीं कहा जा सकता। 'मालवक' और 'मालव' दोनों आवश्यक रूप से एक ही देश नहीं थे। गंगोली महोदय ने अपने कथन का समर्थन करने के लिए एक ऐसे तर्क का आश्रय लिया है, जिसे हम एक क्षण के लिए भी स्वीकार नहीं कर सकते। उन का कथन है कि प्रयाग के स्तम्भ-लेख में, 'कोशल', 'कौराल', 'पिष्टपुर', 'काञ्ची' आदि शब्दों को कौश-

---

[1]महाविश्लेषणा ह्येते गौडा रौद्रचेतसाः (श्लोक ६७५)—जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', संस्कृत-भाग, पृष्ठ ५०

[2]मंजुश्रीमूलकल्प, श्लोक ७०८, ७०९, ७४५ इत्यादि।

[3]देखिए, गंगोली, 'मालवा इन दि सिक्स्थ एंड सेविंथ सेंच्युरी ए० डी०'—जर्नल आफ़ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १९, सन् १९३३, पृष्ठ ३९९-४१२

[4]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ३९२

लक, 'कौरालक', 'पौष्टपुरक' तथा 'काञ्चेयक' लिखा है। अतः 'मालवक' और 'मालवा' भी उसी तरह से एक ही है। डा० गंगोली को कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि कौशलक आदि शब्दों से कोशल आदि देशों से नहीं, वरन् उन देशों के शासकों का तात्पर्य है।

गंगोली महाशय का कथन है कि तत्कालीन प्रमाणों की आलोचनात्मक छान-बीन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ह्वेनसांग का 'मो-ला-पो' मध्य मालवा था और उस की राजधानी उज्जैन थी। ह्वेनसांग के 'व-शी-य-नो' से उज्जैन का नहीं, वरन् भैल्ल-स्वामी अथवा दशार्ण (भीलसा देश) का अभिप्राय है। यह निष्कर्ष ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में दी हुई भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर अवलंबित है। उज्जैन बरमेर से ३०० मील दक्षिण-पूर्व, भीमर से ३२८ मील दक्षिण-पूर्व और महोबा से २६५ मील दक्षिण-पश्चिम है। किंतु ह्वेनसांग का व-शी-यन् नो भीमर से ४६७ मील दक्षिण-पूर्व और महोबा से १६७ मील दक्षिण-पश्चिम है। परंतु जैसा कि दयाराम साहनी ने कौशांबी के संबंध में प्रमाणित कर के दिखलाया है,[१] ह्वेनसांग की भौगोलिक-परिस्थिति-संबंधी सभी बातें वेद-वाक्यों की भाँति सत्य नहीं हैं। इस के अतिरिक्त, जैसा कि गंगोली जी स्वयं मानते हैं, ह्वेनसांग ने दो देशों के बीच का जो फ़ासिला दिया है उसे राजधानी से राजधानी तक समझना चाहिए। किंतु यह समझ में नहीं आता कि उन्हों ने यह कैसे अनुमान कर लिया है कि ह्वेनसांग के समय में झझोटी की राजधानी महोबा और गुर्जर देश की राजधानी बरमेर थी।

मालवा नाम के सात नहीं तो तीन विभिन्न देश अवश्य ही प्रसिद्ध थे। एक तो मालवक आहार था जिस को ह्वेनसांग ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में 'मो-ला-पो' लिखा है। दूसरा अवंती था। यह मालवक के ठीक बाहर स्थित था, किंतु किसी समय यह पूर्वी मालवा में और किसी समय पश्चिमी मालवा मो-ला-पो में सम्मिलित था। तीसरा पूर्व मालवा था जो कि भीलसा के आस-पास स्थित था।

उत्तरी भारत में प्रभुता स्थापित करने के लिए उत्तरकालीन गुप्त राजाओं और मौखरियों के बीच बड़ी प्रतिद्वंद्विता रही। ५५० ई० से लेकर ६०० ई० तक मौखरि लोग ही उस के सम्राट् बने रहे। पुष्यभूति के वंश, जिस में हर्ष का जन्म हुआ था, और मौखरियों में मैत्री-संबंध स्थापित था। इस प्रकार पुष्यभूति लोग भी उक्त झगड़े में पड़ गए। आठवीं तथा नवीं शताब्दी में इसी प्रकार कन्नौज पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए तीन शक्तियों के बीच युद्ध होता रहा, जिस में राष्ट्रकूट, गुर्जर तथा पाल-वंश के लोग सम्मिलित थे। किंतु ज्ञात होता है, छठी शताब्दी के अंतिम समय में, दक्षिण की किसी भी शक्ति ने युद्ध में भाग नहीं लिया। इस का कारण यह था कि अभी तक दक्षिण भारत किसी एक महाराजा की अधीनता में संगठित नहीं हुआ था। चालुक्य लोग अपनी शक्ति

[१] दयाराम साहनी, कौशांबी, 'जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,' पृष्ठ ६६१

बढ़ा रहे थे अवश्य, किंतु अभी वे साम्राज्य स्थापित करने की प्रतिद्वंद्विता में सम्मिलित होने के योग्य नहीं थे।

अब हम उत्तरी भारत के उन राज्यों पर विचार करेंगे, जो छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर बन गए थे। इन राज्यों में वलभी में स्थापित मैत्रकों का राज्य बड़ा था। उस की स्थापना ४८५ ई० के लगभग, सेनापति भटार्क ने की थी। डा० रायचौधुरी का कथन है[1] कि हूणों के आक्रमणों के पश्चात्, सेनापतियों तथा सामंतों की महत्वाकांक्षा गुप्त-साम्राज्य के पतन का दूसरा प्रधान कारण थी। भटार्क के बाद के दो राजा—धरसेन प्रथम और द्रोणसिंह—संभवतः किसी चक्रवर्ती राजा की प्रभुता स्वीकार करते थे और जहां तक संभव है वह राजा हूणों का राजा था। हमारा यह भी अनुमान है कि जब तक बन पड़ा, इन राजाओं ने हूणों के आक्रमणों को रोकने की चेष्टा की। गुप्त राजाओं के सेनापति बन कर वे हूणों से लड़े। किंतु इन अंतपालों को यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि गुप्त राजा अपने साम्राज्य के दूरस्थ भाग पर अधिक काल तक अपनी प्रभुता स्थापित नहीं रख सकेंगे। उन्हों ने हूण साम्राज्य के विध्वंस की प्रतीक्षा की और उस के पश्चात् अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इस वंश के तीसरे राजा द्रोणसिंह ने महाराजा की उपाधि धारण की थी। उस का राज्याभिषेक 'संपूर्ण संसार के महाप्रभु' ने किया था। 'संसार के महाप्रभु' से हूणों के विजेता विष्णुवर्द्धन का अभिप्राय हो सकता है।

इस स्थल पर यह आवश्यक अथवा उचित नहीं प्रतीत होता कि हम विस्तार के साथ मैत्रकों के राजनीतिक इतिहास का वर्णन करें। धरसेन द्वितीय को महासामंत कहा गया है। सन् ५८१, ५८८ और ५८९ के उस के दान-पत्र उपलब्ध हुए हैं। ये तिथियां संभवतः यह सूचित करती हैं कि उस समय के मौखरि राजा ने वलभी के राजाओं को पराजित किया था। ईश्वरवर्मा के जौनपुरवाले लेख में लिखा है कि 'धार (नगर) से एक चिनगारी निकली'। धार पश्चिमी मालवा का नगर था और वह निश्चय ही वलभी राज्य में सम्मिलित था। मालूम होता है कि मौखरियों और मैत्रकों में बहुधा लड़ाई हुआ करती थी और किसी युद्ध में ही धरसेन ने मौखरि राजा की प्रभुता स्वीकार की थी।

धरसेन द्वितीय के दो लड़के थे—शीलादित्य प्रथम धर्मादित्य, और खरग्रह। विद्वानों का मत है कि यह शीलादित्य मो-ला-पो का वही शीलादित्य है जिस का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। वह एक धर्मपरायण बौद्ध था। चीनी यात्री के यहां पहुँचने के ६० वर्ष पूर्व ही वह शासन कर चुका था। उस में शासन करने की बड़ी योग्यता थी और वह बड़ा दयालु था। ह्वेनसांग ने मालवा को एक स्वतंत्र राज्य बतलाया है और लिखा है कि की-टा, आनंदपुर और सु-ल-च (सौराष्ट्र अथवा सूरत) उस के अधीनस्थ राज्य थे।

ह्वेनसांग ने वलभी को एक पृथक् देश बतलाया है। किंतु जैसा कि लिपि के

---

[1] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया,' परिशिष्ट डी, पृष्ठ २४४ तथा आगे।

प्रमाण[1] से ज्ञात होता है, चीनी यात्री का यह कथन ग़लत है। उस के समय में वलभी मालवा से कोई भिन्न राज्य नहीं था। किंतु इस से हम यह तात्पर्य निकाल सकते हैं कि यद्यपि उस के समय में वलभी और मालवा (मो-ला-पो) का एक संयुक्त राज्य था। परंतु शीलादित्य प्रथम के शासन-काल के थोड़े ही समय बाद, मैत्रकों का राज्य कुछ समय के लिए दो भागों में विभक्त हो गया था। एक भाग में मो-ला-पो अर्थात् पश्चिमी मालवा था और दूसरे में वलभी था। मो-ला-पो शीलादित्य के वंशवालों के अधिकार में था और वलभी खरग्रह और उस के पुत्र के अधीन था। वलभी के दानपत्रों में धरसेन द्वितीय के दोनों लड़के शीलादित्य और खरग्रह के झगड़े की ओर संकेत है। अलिन के दानपत्र में, इंद्र तथा उपेंद्र के साथ दोनों भाइयों की जो तुलना की गई है, उस की आलोचना करते हुए फ्लीट महोदय कहते हैं कि "इंद्र का छोटा भाई उपेंद्र, विष्णु है। ज्ञात होता है कि कल्पतरु के संबंध में इंद्र और विष्णु के बीच जो झगड़ा हुआ था, उसी की ओर संकेत है। उस झगड़े में विष्णु की जीत हुई थी और इन्द्र को विष्णु की प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी थी। इस रूपक के आधार पर यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि शीलादित्य प्रथम और खरग्रह प्रथम के बीच वंश का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए झगड़ा हुआ था और अंत में शीलादित्य प्रथम ने अपने छोटे भाई से हार मान ली थी।"[2] मेरी सम्मति में, विवाद-गत पद स्पष्टतः इस बात की ओर संकेत करता है कि दोनों भाइयों के जीवन-काल में ही वलभी का राज्य दो भागों में बँट गया था। छोटा भाई खरग्रह स्वतंत्र होना चाहता था और उस ने स्वतंत्रता प्राप्त भी कर ली; किंतु जब तक उस का बड़ा भाई जीवित रहा, तब तक वह ऊपर से उस की प्रभुता स्वीकार करता रहा। शीलादित्य की मृत्यु के पश्चात् खरग्रह वलभी का वास्तविक और बैध शासक बन गया। शीलादित्य का पुत्र धेरभट अपने पिता के राज्य मालवक का अधिकारी हुआ। धेरभट साधारणतः इस वंश का राजा नहीं माना जाता। किंतु अलिन के दानपत्र की भाषा से यह प्रकट होता है कि धेरभट राज करता था। 'सह्य और विंध्य-रूपी दो स्तनों से युक्त पृथ्वी-रूपी स्त्री का वह स्वामी था'।[3] यह उल्लेख संभवतः कनाड़ी देश पर धेरभट की विजय की ओर संकेत करता है।

खरग्रह का उत्तराधिकारी धरसेन तृतीय हुआ और फिर उस के बाद ध्रुवसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह ध्रुवसेन कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन का प्रसिद्ध समकालीन राजा था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उसी को ध्रुवभट्ट लिखा है। वह क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था,

---

[1] नगवा और नवलखी के दानपत्र। 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द, ८, पृष्ठ १८८ और आगे।

[2] 'कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम', जिल्द ३, पृष्ठ १८२, पादटिप्पणी १

[3] खंडितागुरुविलेपनपिंडश्यामलाविंध्यशैलविपुलपयोधरायाः क्षितेः पत्युः श्रीशीलादित्यस्य। अलिन का दानपत्र, 'फ़्लीट कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम', पृष्ठ १७१। कनाड़ी देश से वलभी-वंश के संबंध के लिए देखिए, मोरेज़, 'कदंबकुल', पृष्ठ ६४ (रायचौधुरी परिशिष्ट डी०, पृष्ठ ४२७)

मालवा के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का दामाद था।"[१] लिपि के प्रमाण से—जो उसे शीलादित्य के छोटे भाई खरग्रह प्रथम का पुत्र ठहराता है—यह कथन संगत खाता है। ध्रुवसेन द्वितीय के शासन-काल के तीन अब्द ६२६, ६४० और ६४१ हमें ज्ञात हैं। इस से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि वह ६२६ ई० के पूर्व ही गद्दी पर बैठा होगा। जैसे कि गुप्त-संवत् ३२० और ३२१ के नगवा के दानपत्रों से सूचित होता है, उस के अधिकार में मालवक का कम से कम कुछ भाग अवश्य था। वर्त्तमान रतलाम से १० मील उत्तर नगवा एक गाँव है। इस से ज्ञात होता है कि राजवंश की दूसरी शाखा के होते हुए भी ध्रुवसेन ने मालवा को अपने अधीन कर लिया था। इस प्रकार मालवा केवल एक पीढ़ी तक दो भागों में विभक्त रहा; क्योंकि यह संभव नहीं है कि ध्रुवसेन का उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ, जिस ने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परममाहेश्वर, चक्रवर्ती की उपाधियां धारण की थीं—वलभी राज्य के केवल कुछ ही भाग का शासक रहा हो। ध्रुवसेन द्वितीय उपनाम ध्रुवभट्ट को हर्ष ने पराजित किया था। गुर्जर-राज दद्द के नवसारी के दानपत्र में एक स्थल पर हर्ष और कन्नौज के राजा के युद्ध का उल्लेख है[२] उस में लिखा है, कि महाप्रभु हर्षदेव द्वारा पराजित होने के बाद वलभी के राजा की रक्षा कर के श्री दद्द ने बड़ा यश प्राप्त किया था। इस प्रकार ध्रुवसेन द्वितीय ने हर्ष से पराजित हो कर भड़ौंच के राजा की शरण ली। इस में संदेह नहीं कि यह घटना नवसारी के दानपत्र के समय ६३३ ई० के पूर्व ही घटित हुई होगी। आगे चल कर इस की विवेचना फिर की जायगी।

वलभी राज्य की स्थिति सैनिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। दक्षिण का जो विजेता उत्तरी भारत पर आक्रमण करना चाहता था, उसे वलभी से हो कर जाना पड़ता था। इसी प्रकार उत्तरी भारत का जो विजेता दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए चलता था उस के मार्ग में भी वलभी राज पड़ता था। किसी भी दशा में उत्तर अथवा दक्षिण का कोई भी सम्राट् वलभी देश के राजा के साथ शत्रुता करना नहीं चाहता था। नर्मदा सीमा-प्रांत एक समस्या के साथ वलभी राज्य का घनिष्ठ संबंध था। दक्षिण के आक्रमणकारी का उत्तरी भारत पर चढ़ाई करने के लिए नर्मदा नदी को पार करने का प्रयत्न करना पड़ता था, अथवा महानदी को पार करना होता था, जैसा कि गंगकोंड नामक चोल राजा ने किया। वलभी नर्मदा सीमा-प्रांत के बहुत समीप था। अतः उस की स्थिति उत्तरी और दक्षिणी दोनों आक्रमणकारियों के लिए स्वभावतः बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। वलभी के राजा के साथ उत्तरी भारत के सम्राट् का मैत्री-संबंध होता तो वह निःसंदेह दक्षिण से होनेवाले आक्रमण को रोकने की चेष्टा करता। इस समय पुलकेशी द्वितीय की अध्यक्षता में चालुक्य लोग बहुत शक्तिशाली हो गए थे। नर्मदा सीमा-प्रांत को उन से बहुत खतरा था। इसी कारण महाराज हर्ष इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे कि वलभी को पहले पराजित कर उस के साथ मैत्री-संबंध

---

[१] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४६

[२] 'इंडियन एंटिक्वेरी', जिल्द १३, पृष्ठ ७७, ७९

स्थापित कर लें। हर्ष की विजय की विवेचना करते समय इस प्रश्न पर फिर कुछ विचार करेंगे।

उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में दो अन्य बड़े राज्य—भड़ौंच और भिनमल थे। दोनों पर अलग-अलग गुर्जर लोगों की दो शाखाएं राज करती थीं। भड़ौंच के गुर्जर लोगों के राज्य की स्थापना दद्द प्रथम ने की थी। उन का संबंध उत्तर भारत की राजनीतिक तंत्र की अपेक्षा दक्षिण भारत की राजनीतिक तंत्र से अधिक था। इस वंश का तीसरा राजा दद्द द्वितीय वलभी के राजा ध्रुवभट्ट को शरण देने के लिए प्रसिद्ध है। हम पीछे लिख चुके हैं कि महाराज हर्ष से पराजित होने के उपरांत ध्रुवभट्ट भाग कर उस के यहां पहुँचा था। मालूम होता है कि दद्द द्वितीय, दक्षिण भारत के शक्तिशाली चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय की सहायता और बल पर निर्भर करता था। ऐहोड़े[1] के लेख से यह पता चलता है कि पुलकेशी से पराजित हो कर लाट, मालव और गुर्जर लोग यह सीख गए कि विजित सामंतों को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। भड़ौंच के गुर्जर अपने दानपत्रों में कलचुरि-संवत् का प्रयोग करते थे।

भिनमल—जिसे ह्वेनसांग ने पि-लो-मे-लो लिखा है, आमू के उत्तर-पश्चिम ५० मील की दूरी पर स्थित है। छठी शताब्दी में वहां के गुर्जरों ने सब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सेंट मार्टिन के कथनानुसार भिनमल का नाम आधुनिक बलमेर (बरमेर या बाल्मेर) के रूप में सुरक्षित है।[2] कनिंघम का कथन है कि यह वलभी के खँडहर से ३०० मील उत्तर है[3]। यहां के गुर्जर निश्चय ही बहुत उपद्रव मचाते रहे होंगे क्योंकि उन के विरुद्ध प्रभाकरवर्द्धन को अनेक बार आक्रमण करना पड़ा था। ह्वेनसांग के समय में भिनमल का राजा एक युवक क्षत्रिय था, जो अपने पराक्रम और बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध था। उत्तरी भारत के इतिहास में इन गुर्जरों को अपना नाम करना बदा था। उन्हों ने आठवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में गुजरात में अपनी प्रभुता स्थापित की थी। ८१६ ई० के लगभग उन के राजा नागभट्ट ने कन्नौज को अपनी राजधानी बना लिया और और वहां प्रतीहार वंश की स्थापना की, जिस में मिहिरभोज जैसे बड़े-बड़े राजा उत्पन्न हुए। छठी शताब्दी के गुर्जर शासक संभवतः चाप लोग थे, जिन का उल्लेख सातवीं और आठवीं सदी के लेखों में मिलता है।

सिंध

सिंध का उल्लेख संक्षेप में कर देना पर्याप्त होगा। भारतीय इतिहास के प्रमुख प्रवाह से वह पृथक् था। मालूम होता है कि गुर्जरों की भाँति सिंध के लोग भी उपद्रव मचाया करते थे। थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन को 'सिंधुराजज्वरः' लिखा गया है। इस से प्रकट होता है कि उस ने सिंध के राजा को पराजित किया था। हर्षवर्द्धन ने भी

---

[1] 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ १०

[2] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४०

[3] कनिंघम, 'एंशंट ज्यौगरफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३१२

सिंध देश के एक राजा के गर्व को चूर किया था। यह राजा कौन था, हम निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकते, किंतु यह निश्चय रूप से ज्ञात है कि वह बड़ा कर्मठ था और उस पर बार-बार आक्रमण करने की आवश्यकता पड़ा करती थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग ६४१ ई० में सिंध पहुँचा था। उस के कथनानुसार यहां का राजा शूद्र जाति का था। उस के समय में यह देश संपन्न और शक्तिशाली था। नमक के पहाड़ के आस-पास से ले कर सागर-पर्यंत सिंध नदी की संपूर्ण तरेटी सिंध राज्य में सम्मिलित थी। उस की राजधानी एलोर सिंध नदी के बाएं तट पर स्थित थी। कहा जाता है कि ह्वेनसांग गू-च-ल या गुर्जर देश से ३०० मील तक विस्तृत एक जंगली और ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में हो कर सिंध गया था। हकरा अथवा वहींदा नदी उस देश को भारत से पृथक् करती थी। यही नदी है, जिसे ह्वेनसांग ने शिंनू (सिराड़) लिखा है और जो अब लुप्त होगई है। इस प्रकार सिंध पूर्णतया पृथक् स्थित था, किंतु इतना होते हुए भी वह आक्रमण से बचा नहीं था।

ह्वेनसांग ने लिखा है कि वहां का राजा बौद्ध-धर्मावलंबी था और 'चाचनामा' के अनुसार उस बौद्ध राजा को चाच का भाई चंद्र होना चाहिए। चाच ने बलपूर्वक गद्दी पर अधिकार जमा लिया था। 'चाचनामा' के अनुसार उस के सिंहासनारोहण का समय ५९७ ई० के लगभग ठहरता है। उस ने ४० वर्ष तक राज्य किया। उस के पश्चात् चंद्र गद्दी पर बैठा और उस ने ७ वर्ष तक शासन किया। चाच ब्राह्मण जाति का था। किंतु ह्वेनसांग का कथन 'चाचनामा' से संगति नहीं रखता है। क्योंकि वह लिखता है कि राजा जाति का शूद्र था। 'चाचनामा' की विश्वसनीयता पर हम संदेह कर सकते हैं। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि उस में दिया हुआ ऐतिहासिक विवरण बिल्कुल सत्य है। 'चाचनामा', छठी शताब्दी में अरबी-भाषा में लिखे हुए विवरण का फ़ारसी अनुवाद है विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार[1] शूद्र जाति का बौद्ध राजा जिस का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है, निश्चय ही दीवजी का पुत्र सिहरसराय रहा होगा। सिहरसराय के पश्चात् उस का पुत्र साहसी उत्तराधिकारी हुआ। साहसी की मृत्यु के उपरांत ६४६ ई० के लगभग उस के ब्राह्मण मंत्री चाच ने बलपूर्वक सिंहासन पर अधिकार जमा लिया और लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया। उस के अनंतर दाहिर सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। दाहिर के शासन-काल में ७१०-११ ई० में मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। ६४१ ई० में जिस समय ह्वेनसांग वहां पहुँचा था उस समय पी-टो-शिह-लो-का और एफंता नामक दो राज्य सिंध के अधीन थे। पी-टो-शिह-लो को आधुनिक हैदराबाद थार और पार्कर का सम्मिलित प्रदेश बताया जाता है। एफंता कदाचित् मध्य-सिंध अथवा खैरपुर को कहते थे।[2]

छठी शताब्दी में सिंध की भाँति काश्मीर देश भी भारतीय इतिहास के प्रमुख प्रवाह से अलग था। वास्तव में इस राज्य का सच्चा इतिहास कारकोटा वंश से ही प्रारंभ होता है। इस कारकोटा वंश की स्थापना दुर्लभवर्द्धन ने महाराज हर्ष के जीवन-काल में की

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली, हिस्ट्री आफ़ इंडिया' पृष्ठ ३६९

[2] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २५१

थी। उस के सिंहासनारोहण का काल ६१० ई० है। हर्ष के समय में वह एक प्रसिद्ध राज्य था। उस के अधीन तक्षशिला, सिंहपुर (नमक की पहाड़ी के उत्तर स्थित नरसिंह अथवा क्वेटा), उरस (आधुनिक हिसार) पन-नि-त्सो (आधुनिक पंच) तथा हो-लो-शि-पु-लो (या राजवाड़ी) के राज्य थे। पंजाब देश छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था, वे राज्य विशेष महत्त्व के नहीं थे।

पूर्व के राज्य

पश्चिम के राज्यों का वर्णन हम संक्षेप में कर चुके। अब हम पाठकों का ध्यान पूर्व के राज्यों की ओर आकर्षित करेंगे। सर्वप्रथम हम इधर की मुख्य जाति गौड़ों के विषय में विचार करेंगे।

गौड़वंश

"गौड़" शब्द का प्रयोग प्रायः बंगाल के निवासियों के लिए होता था। पाणिनि के 'व्याकरण'[1], कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[2], वात्सायन के 'कामसूत्र'[3], पुराणों[4], वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता'[5] तथा बाण के 'हर्षचरित'[6] आदि प्राचीन ग्रंथों में यह नाम उपलब्ध होता है। उन के आदिम वास-स्थान के संबंध में संभवतः मतभेद हो सकता है; किंतु इतना निश्चयात्मकरूप से ज्ञात है कि छठी शताब्दी में उन का संबंध उस देश से था, जो चंपा अथवा भागलपुर के पूर्व, राजमहल की पहाड़ियों के उस पार स्थित था। यह देश अनेक भागों में विभक्त था—जैसे पुंड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल), कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद), समतट (फ़रीदपुर का ज़िला) और ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक)। सब से पहला लेख, जिस में गौड़ों का उल्लेख मिलता है, ईशानवर्मा का हराहावाला लेख है। उस में उन्हें 'समुद्राश्रयान्' कहा गया है। इस पद से यह ध्वनित होता है कि समुद्र उन का आश्रय था अर्थात् समुद्र के समीप वे निवास करते थे।

छठी शताब्दी में, बंगाल का इतिहास अंधकार से परिपूर्ण है। डाक्टर राधागोविंद बसाक का कथन है कि छठी और सातवीं शताब्दी में गौड़-राज्य की राजधानी कर्ण-सुवर्ण (राँगामाटी) भागीरथी के पश्चिमी तट पर, बरहमपुर के समीप स्थित थी।[7] उस की

[1] अदृष्टगौड़पूर्वे। पाणिनि, ६-२-१००

[2] अर्थशास्त्र, २-१३

[3] दाररक्षिक प्रकरण, (देखिए, रायचौधुरी, परिशिष्ट डी०, पृ० ४२०)

[4] मत्स्य, लिंग, कूर्म, वायु आदि पुराणों में। देखिए, रायचौधुरी, परिशिष्ट डी०, पृष्ठ ४२१

[5] 'बृहत्संहिता' के रचयिता वराहमिहिर बतलाते हैं कि गौड़ लोग भारत के पूर्वी भाग में रहते थे।

[6] "गौडानां शब्दडम्बरः" ('हर्षचरित' पृष्ठ २, श्लोक ४) तथा अन्य बहुसंख्यक उल्लेख।

[7] बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया', अध्याय ७, पृष्ठ १३३

सीमा के अंतर्गत पुंड्रवर्द्धन-भुक्ति अर्थात् उत्तरी बंगाल सम्मिलित था । बंग-समतट अर्थात् दक्षिणी और पूर्वीय बंगाल अपना स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व रखता था ।

चौथी तथा पाँचवी शताब्दियों में बंगाल के राज्य निःसंदेह गुप्त-साम्राज्य की प्रभुता स्वीकार करते थे। छठी शताब्दी में वे स्वतंत्र हो गए। पूर्वी बंगाल अथवा बंग-समतट के अनेक शासकों के नाम उपलब्ध होते हैं। बुद्धगुप्त के शासन-काल के अंतिम भाग में अथवा उस के उत्तराधिकारी भानुगुप्त के राजत्व-काल के प्रारंभिक भाग में 'महाराज' उपाधिधारी तथा शैव-मतावलंबी वैन्यगुप्त नाम का एक राजा पूर्वी बंगाल पर शासन करता था। उस की राजधानी ढाका—टिपरा ज़िला के आस-पास थी। उस की उपाधि 'महाराज' से प्रकट होता है कि वैन्यगुप्त एक सामंत था। पूर्वी बंगाल पर शासन करनेवाले वैन्यगुप्त के किसी उत्तराधिकारी के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। किंतु फ़रीदपुर में उपलब्ध चार लेखों तथा कतिपय मुद्राओं से हमें तीन स्वतंत्र राजाओं के अस्तित्व का पता लगता है। ये राजा सम्राट-पद-सूचक महाराजाधिराज की उपाधि धारण करते थे। इन तीनों राजाओं के नाम धर्मादित्य, गोपचंद्र तथा समाचारदेव थे। उन के राज्य-विस्तार के संबंध में निश्चयात्मक-रूप से कुछ कहना असंभव है। संभव है उन्हों ने मध्य एवं उत्तरी बंगाल पर शासन किया हो और यह भी संभव है कि न किया हो। किंतु उन के लेखों के प्राप्ति-स्थान से यह सूचित होता है कि वे पूर्वी बंगाल पर अवश्य ही शासन करते थे और उस में ढाका प्रदेश सम्मिलित था। गुप्त-सम्राटों तथा हूणों के विजेता यशोधर्मन् के साथ उन का संबंध दिखाने का प्रयत्न किया गया है। गौड़-राज्य में समाचारदेव शशांक का पूर्ववर्ती राजा माना गया है। किंतु ये सब केवल अनुमान हैं। यह निश्चय है कि धर्मादित्य के पश्चात् गोपचंद्र गद्दी पर बैठा, किंतु यह अब भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समाचारदेव धर्मादित्य के पूर्व हुआ था अथवा गोपचंद्र के अनंतर। लिपि-प्रमाण की सहायता से हम किसी राजा का ठीक-ठीक काल नहीं निश्चित कर सकते, हां, उस के समय की निकटतम अर्द्धशताब्दी अलबत्ता निर्धारित कर सकते हैं।

'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण करनेवाले जयनाग-नामक राजा का नाम एक दूसरे लेख में मिलता है, जिसे डा० बर्नेट ने प्रकाशित किया है।[१] जयनाग कर्णसुवर्ण का शासक था जिसे बाद को शशांक ने भी अपनी राजधानी बनाई थी। यह निश्चय किया गया है कि यह जयनाग तथा 'मंजुश्रीमूलकल्प' में उल्लिखित गौड़-राजा[२] जयनाग दोनों

---

[१] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', जिल्द १८, पृष्ठ ६०

[२] देखिए, जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ६१। जयनाग से संबंध रखनेवाला श्लोक इस प्रकार है :—

> नागराजसमाह्वयो गौड़राजा भविष्यति।
> अंते तस्य नृपे तिष्ठं जयाद्यावर्णतद्विशौ ॥
>
> —आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, श्लोक ७६०

एक ही हैं। बसाक का कथन है कि शशांक के पूर्व जयनाग और उस के पुत्र ही कर्ण-सुवर्ण के राजा हुए।[1] यह बात स्पष्ट है कि छठी शताब्दी में बंगाल देश अपनी कोई स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता नहीं रखता था। वह छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जो निरंतर आपस में लड़ा-झगड़ा करते थे। संभवतः कृष्णगुप्त-वंश का शासन भी कुछ काल तक मध्य तथा उत्तरी बंगाल पर स्थापित था। ५५४ ई० के लगभग ईशानवर्मा के समय में मौखरियों ने मध्य बंगाल तक के प्रदेशों को जीत लिया। विवश हो कर गौड़ लोग समुद्र के किनारे की ओर चले गए। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी बंगाल का राज्य कुछ समय तक स्वतंत्र रहा। शशांक के आविर्भाव के समय तक बंगाल का देश प्रभुता के लिए लड़नेवाले प्रतिद्वंद्वी राजवंशों का युद्धक्षेत्र बना रहा। इन लड़ाई-झगड़ों के कारण बंग-देश प्रायः उजाड़ हो गया था।

कामरूप

गौड़ देश के पूर्व में कामरूप का राज्य था, जिस का दूसरा नाम प्राग्ज्योतिष था। आधुनिक आसाम प्रांत का यह प्राचीन नाम है। कामरूप का प्रांत पश्चिम में करतोया नदी तक विस्तृत था। उस के अंतर्गत कूचविहार की रियासत और उत्तरी बंगाल का एक भाग (रंगपुर का ज़िला) सम्मिलित था। इस प्रकार उस का क्षेत्रफल आधुनिक आसाम की अपेक्षा अधिक था।

रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इस राज्य का उल्लेख मिलता है। रघुवंश में वर्णित, रघु-दिग्विजय के विस्तृत क्षेत्र में यह भी सम्मिलित था। ऐतिहासिक काल में इस राज्य का सर्व-प्रथम महत्त्वपूर्ण उल्लेख समुद्रगुप्त के लेख में पाया जाता है। इस लेख के अनुसार कामरूप एक सीमा-प्रांतीय (प्रत्यंत) राज्य था। वह समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था, वरन् एक करद-राज्य था और उस की अधीनता स्वीकार करता था।

चौथी शताब्दी के पूर्व इस राज्य की कथा न्यूनाधिक पौराणिक है, किंतु उस के मध्य-काल के बाद ही हम एक निश्चित आधार पर पहुँच जाते हैं। कामरूप के राजाओं की वंश-तालिका, कान्यकुब्जाधिपति हर्षवर्द्धन के समकालीन राजा भास्करवर्मा के निधानपुरवाले लेखों[2] में दी गई है। उसी राजा की नालंदावाली मुद्रा[3] में उस के आठ पूर्ववर्ती राजाओं और उन की रानियों के नाम उल्लिखित हैं। इन दो लिपियों की सहायता से आसाम के राजाओं की जो वंश-तालिका उपलब्ध है, उस की पुष्टि बाण के 'हर्षचरित' से भी होती है। प्रारंभ के राजाओं से हमें कुछ मतलब नहीं है। स्थूलरूप से

---

[1] बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १३८

[2] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', जिल्द १२, पृष्ठ ६५ तथा आगे।

[3] 'जनरल आफ़ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९१९, पृष्ठ ३०२ और आगे तथा १९२०, पृष्ठ १५१—५२

हम कह सकते हैं कि जिस वंश से भास्करवर्मा का संबंध था, उस में महाभूतिवर्मा, चंद्रमुखवर्मा, स्थितवर्मा तथा सुस्थितवर्मा (जिस का दूसरा नाम मृगांक था) नामक राजा हुए थे। आदित्यसेन के अफ़सड़वाले लेख में, सुस्थितवर्मा पर महासेनगुप्त की विजय का जो उल्लेख मिलता है, उस के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं। श्यामादेवी नाम की रानी से सुस्थितवर्मा के एक पुत्र था, जिस का नाम भास्करवर्मा अथवा भास्करद्युति उपनाम कुमार था। वह हर्षवर्द्धन का समकालीन था और उस का पूर्ववर्ती राजा संभवतः सुप्रतिष्ठितवर्मा था। किंतु यह नाम न तो नालंदा की मुद्रा में मिलता है और न 'हर्षचरित' में।

कामरूप का राज्य भारत की पूर्वतम सीमा पर स्थित था। इस देश के लोग अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। विदेशी आक्रमणों के होते हुए भी वे सफलतापूर्वक अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाए रहे। काश्मीर, नेपाल तथा सिंध की भाँति यह प्रांत भी भारतीय इतिहास की प्रमुख-धारा से न्यूनाधिक पृथक् था। समय-समय पर निस्संदेह उस का यह पार्थक्य नष्ट होता रहा। सप्तम शताब्दी के प्रारंभ में कामरूप राज्य ने उत्तरी भारत की राजनीति में न्यूनाधिक सक्रिय भाग लिया। उस समय उत्तरी भारत की राजनीतिक अवस्था इतनी अस्त-व्यस्त थी कि कामरूप का राजा, क़न्नौज तथा थानेश्वर के राजा को अमूल्य सहायता प्रदान करने में समर्थ हुआ। जैसा अभी आगे चल कर बतलाया जायगा। गुप्तराजा उत्तरी भारत के सम्राट् बनने के लिए एक बार फिर साहस बाँध कर प्रयत्न कर रहे थे। मालवा और गौड़ में गुप्तवंश की शक्ति अभी शेष थी। शशांक नामक एक बड़े योग्य व्यक्ति ने गौड़ लोगों का नेतृत्व ग्रहण किया। मालवा और गौड़ बहुत संभव है कन्नौज एवं थानेश्वर पर संयुक्त आक्रमण करने की योजना कर रहे थे। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन का देहांत होते ही गुप्तवंशवालों ने मौखरियों तथा पुष्य-भूतियों पर आक्रमण कर दिया। ऐसी परिस्थिति में कामरूप का राजा गौड़-देश के गुप्तों के पार्श्व में उपद्रव कर सकता था। अतः थानेश्वर के राजा के लिए उस की मित्रता मूल्यवान् थी।

उड़ीसा

वलभी की भाँति उड़ीसा-राज्य का संबंध उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत दोनों की राजनीतिक पद्धति से था। वलभी ही की भाँति उस की भी स्थिति महत्वपूर्ण थी; क्योंकि वह महानदी सीमाप्रांत के समीप ही स्थित था और पूर्वी घाट के मार्ग से आनेवाले किसी भी आक्रमणकारी को उत्तर की ओर बढ़ने से रोक सकता था। उत्तर भारत का कोई भी सम्राट् इस राज्य की उपेक्षा नहीं कर सकता था। किसी भी विपक्षी राजा के हाथ में इस राज्य का होना उस के लिए खतरनाक था।

उड़ीसा एक बहुत प्राचीन राज्य है। अशोक के समय से ले कर अकबर के काल तक के अनेक सम्राटों ने उस पर आक्रमण कर अपना अधिकार स्थापित किया। ज्ञात होता है कि प्रत्येक बार इस ने कामरूप की भाँति, विदेशी आक्रमणकारियों का प्रबल प्रतिरोध किया।

प्राचीन कलिंग के देश में उड्र अथवा उड़ीसा कोंगद (आधुनिक गंजाम का ज़िला) और मुख्य कलिंग—जो कोंगद और गोदावरी नदी के डेल्टा के बीच स्थित था, आदि भाग सम्मिलित थे। स्वर्गीय राखालदास बनर्जी का कथन है कि स्थूल रूप से यह देश दो खंडों में विभक्त था; उत्तर में महानदी और दामोदर नदियों के बीच का भू-भाग और महानदी तथा गोदावरी के मध्य का प्रदेश।[1]

उस के राजनीतिक इतिहास के संबंध में हमें इतना मालूम है कि अपने दक्षिण भारत के प्रसिद्ध दिग्विजय के सिलसिले में, 'भारतीय नेपोलियन' सम्राट् समुद्रगुप्त ने कम से कम पाँच ऐसे राजाओं पर विजय प्राप्त की थी, जिन के राज्य प्राचीन कलिंग देश की सीमा पर स्थित थे। उन के नाम ये हैं :—(१) कोराल (वर्तमान कोलेरू झील के इर्द-गिर्द का प्रदेश) का मंत्रराज; (२) पिष्टपुर (गोदावरी ज़िले में स्थित पीठपुरम्) का राजा महेंद्र; (३) गिरिकोट्टूर (गंजाम ज़िले में महेंद्रगिरि से लगभग १२ मील दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में स्थित कोठूर) का राजा स्वामिदत्त; (४) एरंडपल्ल (संभवतः उड़ीसा में समुद्र के तट पर स्थित चिकाकोल के पास का एक नगर) का राजा दमन तथा (५) देवराष्ट्र (कलिंग का एक प्रांत) का राजा कुबेर।

छठी शताब्दी के चतुर्थ चरण में शैलोद्भव नामक एक राजवंश बड़ा शक्तिशाली बन रहा था। हमारे प्रयोजन के लिए इस वंश के केवल तीन राजाओं का उल्लेख करना पर्याप्त होगा—सैन्यभीत उपनाम माधवराज प्रथम, अयशोभीत प्रथम तथा सैन्यभीत उपनाम माधवराज द्वितीय। तीसरे राजा का पता हमें गंजाम के लेख से लगता है जो गुप्त संवत् ३०० (६१९-२० ई०) का है। वह एक सामंत था और कोंगद देश पर शासन करता था। वह महाराज हर्ष के प्रतिद्वंद्वी, गौड़ाधिपति महाराजाधिराज शशांक की प्रभुता स्वीकार करता था। शशांक की मृत्यु के उपरांत कलिंग देश पर हर्ष का आधिपत्य स्थापित होगया।

उत्तरी भारत की राजनीतिक अवस्था का वर्णन समाप्त करने के पूर्व हम एक और राज्य का उल्लेख करेंगे। यद्यपि दक्षिण के राजों के सिलसिले में भी उस का वर्णन समान औचित्य के साथ किया जा सकता है। यह दक्षिणी कोसल का राज्य था। आधुनिक मध्यप्रांत के रायपुर, विलासपुर तथा जबलपुर के कुछ भाग उस में सम्मिलित थे। यह देश उत्तरी कोसल से—जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, भिन्न था। जब ह्वेनसांग कलिंग से, पहाड़ों और जंगलों को पार करते हुए इस देश में पहुँचा था, तब वहाँ एक बौद्ध धर्मावलंबी क्षत्रिय जाति का राजा शासन करता था। वह हैहय अथवा हयोवंशी क्षत्रिय राजा था। बाद को और संभवतः ह्वेनसांग के समय में भी उस की राजधानी रतनपुर थी।[2]

रतनपुर के इन हैहयवंशीय क्षत्रियों के पूर्व में त्रिपुर के कलचुरि लोग राज करते थे। त्रिपुर जबलपुर के समीप एक प्राचीन नगर था। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये

---

[1] राखालदास बनर्जी, 'हिस्ट्री आफ़ ओड़ीसा" जिल्द १, पृष्ठ ५-६

[2] वैद्य, 'मिडएवल इंडिया', अध्याय १२, पृष्ठ ३४२

कलचुरि लोग बड़े शक्तिशाली होगए। उन के राजा शंकरगण की राजधानी उज्जैन थी। वह ५६५ ई० में[1] नासिक प्रांत पर शासन करता था। इस से तो वास्तव में यह सूचित होता है कि उस के अधिकार में एक विस्तृत साम्राज्य था।[2] उस के पुत्र बुद्धराज के अधीन विदिशा (भीलसा अथवा बेसनगर) था। सरसावनी के ताम्रलेखों[3] के अनुसार वह ६१० ई० में आनंदपुर में शासन करता था, और उस ने भृगुकच्छ विषय अथवा भड़ौच के संबंध में एक आज्ञापत्र निकाला। बहुत संभवतः भड़ौच के गुर्जर उन के करद राजा थे बुद्धराज के पश्चात् ही दद्द (द्वितीय) प्रशांतराज ने अपने को स्वतंत्र घोषित किया।

ज्ञात होता है कि शंकरगण तथा बुद्धराज के शासन-काल में कलचुरि लोग न केवल नासिक तक विस्तृत नर्मदा नदी के तरेटी के ही स्वामी बन गए; बल्कि मालवा तथा, गुजरात के एक विस्तृत प्रदेश को भी जीत कर उन्हों ने अधिकृत कर लिया। उन की विजयों के परिणाम स्वरूप वलभी के मैत्रकों तथा मालवा के उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के राज्य की कुछ क्षति अवश्य ही हुई होगी। महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के समय मध्यभारत में कटचुरि अथवा कलचुरि लोग काफ़ी शक्तिशाली थे। उन की उपेक्षा किसी प्रकार नहीं की जा सकती थी। इस स्थल पर हम विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध तथ्यों के बीच इस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। उत्तरकालीन गुप्त राजा महासेनगुप्त विदिशा और पूर्वी मालवा पर शासन करता था। शंकरगण अवंती अथवा मध्य-मालवा को अधिकृत किए था। मो-ला-पो अथवा पश्चिमी मालवा मैत्रकों के अधिकार में था। शंकरगण के पुत्र और उत्तराधिकारी बुद्धराज ने ६१० ई० के लगभग, कुछ समय के लिए विदिशा अथवा भीलसा पर भी अधिकार कर लिया था। परंतु इस बात को अवश्य समझ लेना चाहिए कि भीलसा, अवंति, आनंदपुर आदि 'जयस्कंधावार' अर्थात् सैनिक शिविर मात्र थे, राजधानी नहीं। इस शब्द से किसी नगर अथवा क़स्बा के विजयी का अस्थायी सैनिक अधिकार सूचित होता है। ऐसे अधिकार के पश्चात् धर्मार्थ ब्राह्मणों को कुछ भूमि-दान की जाती थी।

दक्षिण के राज्य

कोसल के पश्चात् चीनी यात्री ह्वेनसांग एक जंगल से हो कर दक्षिण की ओर चला और अन-हो-लो अथवा आंध्र देश में पहुँचा। कलिंग को छोड़ कर, मुख्य दक्षिण का यह पहिला ही देश था जहाँ यात्री गया। अब इस आंध्र देश का वर्णन कर के हम चीनी यात्री ह्वेनसांग का अनुसरण करते हुए दक्षिण के अन्य राज्यों का वर्णन करेंगे। 'आंध्र' शब्द देश और जन-समूह दोनों का सूचक था। इस का प्रयोग गोदावरी तथा कृष्णा नदी के डेल्टाओं के बीच स्थित तेलगू देश के लिए होता था। इस देश के छठीं शताब्दी के पूर्ववर्ती इतिहास से हमारा विशेष संबंध नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि

---

[1] अभोना के ताम्रलेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ २९४

[2] जुभो डुब्रेयिल, 'एंशंट हिस्ट्री आफ़ दि डेकन', पृष्ठ ८२

[3] 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ २९७

४५० और ५५० ई० के बीच विष्णुकुंडिन नामक एक राजवंश तेलगू देश पर शासन करता था और यह असंभव नहीं है कि ये विष्णुकुंडी लोग जौनपुर तथा हराहा के लेख में उल्लिखित आंध्र लोग ही रहे हों, जिन के साथ मौखरि राजा ईश्वरवर्मा तथा ईशानवर्मा और कुमारगुप्त तृतीय ने युद्ध किया था। रायचौधरी का कथन है कि जिन कुमारगुप्त तृतीय ने आंध्र लोगों से विरोध किया था, उन का राजा संभवतः विष्णुकुंडि वंश का माधववर्मा द्वितीय था, जिसे अपने राज्य का विस्तार करने के लिए गोदावरी नदी को पार करने का श्रेय प्राप्त है।[1] इस देश के राजा के विषय में ह्वेनसांग हमें कुछ नहीं बतलाता है। इस से मालूम होता है कि यह किसी अन्य शक्ति—पल्लव अथवा चालुक्य के अधीन था। ह्वेनसांग के कथनानुसार आंध्रदेश की राजधानी पिङ्-ची-लो अर्थात् वेंगीपुर थी।[2] ६११ ई० में पुलकेशी द्वितीय ने अपने भाई की अध्यक्षता में एक पृथक् प्रतिनिधि-शासन यहां पर स्थापित किया। पूर्वी चालुक्यों का यह वंश ग्यारहवीं शताब्दी तक चला। १०७० ई० में वह चोल-वंश में मिला लिया गया। जिस समय ह्वेनसांग आंध्र-देश में गया था, उस समय वहां पूर्वी चालुक्यों का यही वंश शासन कर रहा था।

धनकटक

आंध्र-देश के दक्षिण में ते-नो-का-चे-का अथवा धनकटक देश था।[3] इस देश को महाआंध्र भी कहा जाता था।[4] इस के राजा के संबंध में ह्वेनसांग का मौनावलंबन यह सूचित करता है कि यह किसी अन्य शक्ति—पल्लव अथवा चालुक्य के अधीन था।

चोल

धनकटक से चीनी यात्री चोल-देश में पहुँचे। चोलवंश के लोग बहुत प्रसिद्ध थे। उन का उल्लेख महाराज अशोक के लेखों में यूनान तथा रोम के लेखकों के विवरणों में प्राचीन तामिल-साहित्य में तथा दक्षिण-भारत में उपलब्ध बहुसंख्यक लेखों में मिलता है। ह्वेनसांग न तो चोल लोगों का कुछ उल्लेख करता है और न चोल देश का ही। किंतु वह एक ऐसे देश का उल्लेख अवश्य करता है, जो या तो उत्तरी पेनार के दक्षिण, नेलोर के इर्द-गिर्द का प्रदेश रहा होगा या कर्नाल का ज़िला, हस्तांतरित-प्रदेश (सीडेड डिस्ट्रिक्ट्स) का एक भाग अथवा विशेषतः कुडापा का ज़िला रहा होगा।[5] ह्वेनसांग के कथनानुसार यह देश जंगली और प्रायः उजाड़ था। जन-संख्या बहुत थोड़ी थी। डाकुओं के झुंड स्वच्छंदता के साथ घूमा करते थे। अराजकता का यह राज संभवतः चोल-पल्लव के उन युद्धों का परिणाम था, जो ह्वेनसांग के वहां पहुँचने के कुछ ही पूर्व घटित हुए थे।

[1] देखिए, रायचौधरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४०५ तथा राजगोपालन, 'हिस्ट्री आफ़ दि पल्लवाज़ आफ़ कांची', पृष्ठ ७६—७७

[2] वेंगी पल्लव राज्य का उत्तरी भाग था।

[3] धनकटक, धान्यकटक-अमरावती जो कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर स्थित था।

[4] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २१६। इस की राजधानी बेज़वाडा अथवा अमरावती थी।

[5] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२५; स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४८२

यहाँ के शासक के संबंध में यात्री बिल्कुल मौन हैं। संभवतः यह देश कांची के शक्तिशाली पल्लव-राजा नरसिंहवर्मा (६३०—६६० ई०) के अधीन रहा होगा।[1]

द्रविड़ देश

चोल देश से चीनी यात्री दक्षिण की ओर बढ़ा और जंगल को पार करता हुआ तो-लो पी-तू अर्थात् द्रविड़ देश में पहुँचा। इस देश की राजधानी कन-चिह-पो लो अथवा कांचीपुर थी।

ह्वेनसांग ने जिसे द्रविड़ देश लिखा है, वही वास्तव में पल्लवों का राज्य था। इन लोगों की उत्पत्ति का प्रश्न एक पहेली है। उस प्रश्न से हमारा यहाँ कुछ संबंध भी नहीं है। आदिम पल्लव राजाओं ने जिन के नाम का उल्लेख प्राकृत भाषा में गंतूर ज़िले के अंतर्गत उपलब्ध कतिपय दानपत्रों में मिलता है, कांची को राजधानी बना कर लगभग १५० वर्षों (२००-३५० ई०) तक शासन किया। उन का राज्य उत्तर में कृष्णा-नदी के तट पर स्थित अमरावती तक विस्तृत था। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने कांची में विष्णुगोप नामक पल्लव राजा से लगभग ३५० ई० में युद्ध किया था।

प्राकृत भाषा में उल्लिखित इन प्रारंभिक पल्लव राजाओं के अनंतर और भी राजा हुए, जिन के नामों का उल्लेख संस्कृत के अनेक लेखों तथा ग्रंथों में मिलता है। उन का इतिहास अत्यधिक शृंखलाहीन है। उन की क्रमबद्ध वंश-तालिका तैयार करने के लिए अभी तक जो कुछ प्रयत्न किया गया है, वह असंतोषप्रद है। उन का शासन-काल स्थूल रूप से ५५० ई० तक था। सिंहविष्णु के सिंहासनारोहण के समय (५७५ ई०) से पल्लवों का इतिहास स्पष्ट हो जाता है। उस समय से ले कर राष्ट्रकूटों के उदय (७५३ ई०) तक पल्लवों तथा चालुक्यों के बीच बहुधा युद्ध होते रहे, और दोनों एक-दूसरे को स्वभावतः अपना शत्रु समझते रहे। इन दोनों शक्तियों में से प्रत्येक ने दक्षिण में अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। सिंहविष्णु के उत्तराधिकारी महेंद्रवर्मा का नाम पल्लव जाति की कला के इतिहास में प्रसिद्ध है। ललितकला का प्रेमी होने के अतिरिक्त वह एक प्रसिद्ध कवि तथा निपुण सांगीतिक था। यद्यपि वह एक वीर पुरुष था, किंतु अपने सम-कालीन महान् चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय का सामना नहीं कर सका। ६०९-१० ई० के लगभग पुलकेशी द्वितीय ने उसे गहरी पराजय दी। ऐहोले के लेख की सजीव भाषा में लिखा है कि "उस ने (पुलकेशी द्वितीय ने) पल्लवों के स्वामी की—जिस ने उस के अभ्युदय का विरोध किया था—ज्योति को अपनी सेना की गर्द से अंधकाराच्छन्न कर दिया और कांचीपुर की दीवालों के पीछे उसे विलीन कर दिया।" महेंद्रवर्मा के उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मा प्रथम के शासन-काल (६३०-६६०) में पल्लव राजशक्ति ने अपनी चर-मोन्नति की। ६४० ई० में जब चीनी यात्री उस देश में पहुँचा, तब वहाँ नरसिंहवर्मा प्रथम ही शासन कर रहा था। पुलकेशी द्वितीय को परास्त कर तथा उस की राजधानी वातापीपुर

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली-हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४८२

को सम्पूर्णतः ध्वस्त कर उस ने अपने वंश की प्रतिष्ठा फिर से स्थापित की। चीनी यात्री ने द्रविड़ देश को प्रसन्न तथा समृद्धिशाली पाया। वहाँ पर अन्न, फल और फूल प्रचुरता के साथ उत्पन्न होता था।

मलकूट

द्रविड़ देश के दक्षिण में मलकूट देश था। ह्वेनसांग वहां स्वयं नहीं गया, किंतु कांची के बौद्ध भिक्षुओं से उस ने उस का सच्चा वृत्तांत प्राप्त किया। वाटर्स महोदय का कथन है कि यद्यपि यात्री स्वयं मलकूट नहीं गया, तथापि "देश, जनता तथा बौद्ध भग्नावशेष का वर्णन स्पष्टतः किसी प्रत्यक्षदर्शी का प्रतीत होता है"।[1] जिस देश को उस ने मलकूट लिखा है, वह निश्चय ही ध्रुव-दक्षिण में स्थित पांड्य देश था। त्रिचनापल्ली और कभी ट्रावंकोर के भी कुछ भाग को ले कर वह लगभग आधुनिक मदुरा तथा तिनेवली के बराबर था।

पांड्य लोग बहुत प्राचीन जाति के लोग थे। वैयाकरण कात्यायन, 'पेरिप्लस आफ़ दि इरीथ्रियन सी' के रचयिता और प्लिनी तथा टालेमी उन का उल्लेख करते हैं। प्राचीन तामिल साहित्य में भी उन का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी में उन का इतिहास न्यूनाधिक अज्ञात है। उस काल के इतिहास से हमारा कुछ प्रयोजन भी नहीं हैं। ६४० ई० के लगभग जिस समय चीनी यात्री कांची में ठहरा था, उस समय पांड्य राजा, पल्लव राजा नरसिंहवर्मा को—जो संभवतः दक्षिण का सब से अधिक शक्तिशाली राजा था—कर देता था। यह पांड्य राजा कौन था? हमें निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं है। राजधानी के विषय में ह्वेनसांग बिलकुल मौन है; किंतु वह निश्चय ही मदुरा रही होगी, क्योंकि बहुत प्राचीन काल से पांड्य राजाओं की वह राजधानी थी।

द्रविड़ देश से चीनी यात्री कांग-किन न-पुलो देश में पहुँचा। इसे कोंकणपुर निश्चय किया गया है, और विद्वानों ने उसे स्वीकार भी कर लिया है। किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ह्वेनसांग के कथनानुसार कोंकणपुर कांची से लगभग ३३३ मील की दूरी पर था। इस से प्रकट होता है कि यह कोंकणपुर मैसूर में कहीं था। किंतु हमें ज्ञात है कि कोंकण मैसूर देश का प्राचीन नाम नहीं था। अतः कोंकणपुर अथवा कोंकणनगर को राजधानी बतलाना ठीक नहीं प्रतीत होता। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मूलग्रंथ का पाठ इस स्थल पर स्पष्टतः अशुद्ध है। वास्तव में 'जीवनी', फैंग-चिह तथा ह्वेनसांग के चीनी भाषा में लिखित मूल भ्रमण-वृत्तांत में इस नाम के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। फैंग-चिह नामक ग्रंथ में उस का नाम कुंग-टा-ना-पुलो दिया है। संभव है कि यह पाठ शुद्ध हो और कुंग-टा-ना-पुलो से कुंतलपुर का अभिप्राय हो। कुंतल कनाड़ी देश का प्राचीन नाम है। इस दशा में कुंतलपुर का अभिप्राय मैसूर देश के कदंब लोगों की राजधानी वनवासी से होगा।

२८५ ई० के लगभग वनवासी में मयूरशर्मा ने एक ब्राह्मण राज-वंश की स्थापना की। मयूरशर्मा के उत्तराधिकारी शक्तिशाली राजा हुए। मध्य-दक्षिण के वाकाटक राजाओं

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२६

तथा उन के द्वारा उत्तरी भारत के गुप्त-सम्राटों के साथ उन का राजनीतिक संबंध था। वाकाटक राजाओं के साथ उन्हों ने विवाह-संबंध भी स्थापित किया। पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में काकुस्थवर्मा की पुत्री का विवाह वाकाटक-नरेश नरेंद्रसेन के साथ किया गया। नरेंद्रसेन चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त का पौत्र था। छठी शताब्दी के मध्यकाल तक कदंब लोग वैजयंती अथवा बनवासी को राजधानी बना कर कनाड़ी देश पर शासन करते रहे। इस के अनंतर बादामी के चालुक्यों के अभ्युदय के कारण उन की शक्ति का ह्रास हुआ। ह्वेनसांग के समय में मधुवर्मा नामक कदंब राजा राज करता था। वह पुलकेशी द्वितीय और पल्लव-राजा महेंद्रवर्मा का समकालीन था। वह एक स्वतंत्र राजा नहीं था; बल्कि पुलकेशी द्वितीय की प्रभुता स्वीकार करता था।[१]

बनवासी ने कदंब वंश के अतिरिक्त पश्चिमी गंगों का ब्राह्मण-वंश भी संक्षेप में उल्लेखनीय है। गंगों का राज्य वही था जो आज-कल मैसूर में गंगवादी के नाम से ज्ञात है। दक्षिण में समुद्रगुप्त के आक्रमण करने के बहुत पूर्व ३०० ई० के लगभग उन का शासन प्रारंभ हुआ। कदंब वंश के राजाओं के साथ गंग-वंशीय राजाओं का वैवाहिक संबंध था। पाँचवीं और छठी शताब्दी में चालुक्यों के अभ्युदय से कदंब लोगों की भाँति गंग लोगों की शक्ति भी कमज़ोर हो गई। ह्वेनसांग के समय में गंग देश निःसंदेह चालुक्यों के अधीन था। यात्री इस राज्य का कुछ भी उल्लेख नहीं करते हैं।

अंतिम राज्य जिस पर हमें विचार करना है मो-हो-ल-च-अ अथवा महाराष्ट्र देश है। किंतु महत्त्व की दृष्टि से उस का स्थान सर्वप्रथम है। कोंकणपुर के पश्चात् ह्वेनसांग यहीं गया था। उस समय महाराष्ट्र देश में चालुक्य-राजा पुलकेशी द्वितीय शासन करता था। नर्मदा नदी के दक्षिण में वह सब से अधिक शक्तिशाली सम्राट् था। चालुक्य वंश की स्थापना ५५० ई० के लगभग पुलकेशी प्रथम ने की थी। उस ने वातापी-बीजापुर ज़िले में स्थित आधुनिक बादामी को अपनी राजधानी बनाया था। कीर्तिवर्मा तथा मंगलेश नाम के उस के दो पुत्रों ने इस नवस्थापित राज्य की सीमा का विस्तार किया। कोंकण के मौर्यों पर विजय-लाभ कर चालुक्य लोग दक्षिण में बड़े शक्तिशाली बन गए। मंगलेश का भतीजा पुलकेशी द्वितीय ६०८ ई० में सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दूसरे वर्ष उस का राज्याभिषेक हुआ और उस ने विजय-क्षेत्र में पदार्पण किया। उस की विजयों की बराबरी उत्तर के विजयी सम्राट् महाराज हर्ष भी नहीं कर सकते। उस की सेना ने नर्मदा नदी की तरेटी से लेकर कुमारी अंतरीप तक संपूर्ण दक्षिण को रौंद डाला। गुर्जर, लाट तथा मालव लोगों को उस ने अपने प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत कर लिया। पल्लव राजा महेंद्रववर्मा उस का लोहा मान गया और विवश हो कर उस ने कांचीपुर की दीवालों के पीछे शरण ली। सुदूर दक्षिण के राज्यों—चोल पांड्य तथा केरल—ने भी चालुक्य राजा की शक्ति का अनुभव किया। वही राजा था, जिसने कन्नौज और थानेश्वर के

---

[१] मोरेज, 'कदंबकुल', जिस से जायसवाल महोदय ने अपनी पुस्तक 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया' में उद्धरण दिया है। देखिए, पृष्ठ ६४ व ६६

राजा हर्षवर्द्धन को पराजित किया । यह घटना बहुत महत्त्वपूर्ण समझी गई, और उस का उल्लेख हमें दर्प-पूर्ण शब्दों में चालुक्यों के बहुसंख्यक दानपत्रों में उपलब्ध होता है । इन दानपत्रों में लिखा है कि संपूर्ण उत्तरापथ के स्वामी श्रीहर्ष को पराजित कर के पुलकेशी द्वितीय ने अपना उपनाम 'परमेश्वर' प्राप्त किया । महाराज हर्ष की विजय के संबंध में हम इस की विवेचना फिर करेंगे । पुलकेशी के संबंध में चीनी यात्री ने लिखा है कि "वह जाति का क्षत्रिय था और उस का नाम पु-लो-कि-शे था । उस राजा का उदारतापूर्ण आधिपत्य बहुत दूर-दूर तक स्थापित था और उस के सामंत पूर्ण राजभक्ति के साथ उस की सेवा करते थे । राजा शीलादित्य महान् इस समय पूर्व तथा पश्चिम में चढ़ाई कर रहे थे, दूर और समीप के देश उन की अधीनता स्वीकार कर रहे थे । किंतु मो-हो-ल-च-अ ने उन की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया ।[1]

उपसंहार

लगभग ५०० और ६५० ई० के बीच, उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में जो राज्य वर्तमान थे, उन का विचार संक्षेप में कर चुके । मध्यदेश के राज्य की—जो महाराज हर्ष-बर्द्धन के साम्राज्य का एक अंग था—पूर्ण विवेचना हम आगे करेंगे । श्रीहर्ष कन्नौज के सिंहासन पर ६०६ ई० में बैठे । उन के सिंहासनारोहण के कुछ पूर्व, उत्तरी भारत अनेक शासकों में विभक्त था । उन में से कुछ अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने के लिए होड़ कर रहे थे । मौखरि लोग कन्नौज को अपनी राजधानी बना कर कम से कम सोन नदी तक—और संभवतः कुछ आगे तक—विस्तृत एक विशाल देश पर शासन करते थे । उत्तरकालीन गुप्त राजे जिन्हों ने सर्वप्रथम मगध में किसी स्थान पर शासन करना प्रारंभ किया था और जिन्हों ने उत्तरी बंगाल के कुछ भाग पर भी अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, उस समय मालवा चले गए थे और संभवतः प्रयाग तक विस्तृत प्रदेश पर शासन कर रहे थे । मौखरि लोग तथा उत्तर काल के गुप्त राजा आपस में निरंतर युद्ध किया करते थे । वे दोनों उत्तरी भारत में अपनी प्रभुता स्थापित कर सर्वाधिपति सम्राट् बनने की चेष्टा कर रहे थे । इस प्रतिद्वंद्विता में मौखरियों ने गुप्त राजाओं को पराजित कर दिया । उत्तरी भारत में यदि कोई राजा महाराजाधिराज के पद पर प्रतिष्ठित होने का अभि-मान कर सकता था तो वह कन्नौज का मौखरि-नरेश था ।

बंगाल के गौड़ लोग छठी शताब्दी में एकता के सूत्र से आबद्ध नहीं हुए थे । सारा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । उन में बंग-समतट तथा कर्णसुवर्ण के राज्य अधिक प्रसिद्ध थे । ईशानवर्मा मौखरि के शासन-काल में उत्तरी बंगाल के गौड़ों ने मौखरियों का लोहा मान लिया । उन पर उस गुप्त वंश की छोटी-छोटी शाखाएं शासन करती थीं, जिस ने एक समय संपूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया था । छठी शताब्दी के अंतिम चरण में शशांक ने जो निस्संदेह गुप्त वंश का था—बंगाल के सभी राज्यों को अपने अधीन कर लिया था । इस शक्तिशाली राजा की प्रभुता में गौड़

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २३९

लोग एकता के सूत्र में बँध गए। यद्यपि शशांक का उत्थान और पतन एक रहस्य है, किंतु इस में तनिक भी संदेह नहीं कि हर्ष के सिंहासनारोहण के कुछ समय पूर्व और पश्चात् उस ने उत्तरी भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। गौड़ देश के गुप्त लोग यदि अपने मालवा के संबंधियों के साथ मिल जाते तो वे निस्संदेह कन्नौज तथा कामेश्वर के राजाओं के लिए भय के कारण हो सकते थे।

पश्चिम में, जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं, वलभी के मैत्रकों की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। उन का राज्य दक्षिण के पठार से उत्तरी भारत के प्रदेशों को आनेवाले मार्ग के एक महत्वपूर्ण द्वार की रखवाली करना था। यह नर्मदा के सीमाप्रांत के समीप स्थित था। दक्षिण तथा उत्तरी भारत के क्रमागत राजवंशों—गुप्त वाकाटक आदि—ने उस की स्थिति की महत्ता को समझ लिया था और उन्हों ने उसे अपने राज्य में मिला लेने अथवा उस पर दृढ़ नियंत्रण स्थापित रखने की चेष्टा भी की थी। उत्तरी तथा दक्षिणी साम्राज्य के बीच वह एक मध्यस्थ राज्य था। दक्षिण तथा उत्तर का प्रत्येक सम्राट् उस की राजनीतिक स्थिति पर बड़ा ध्यान रखता था। यदि कोई अन्य राजा उस पर आक्रमण करता था, तो वह बहुत व्यग्र और चिंतित हो जाता था। आगे चल कर हम देखेंगे कि महाराज हर्ष और पुलकेशी द्वितीय के युद्ध का एक प्रधान कारण यह भी था कि इन दोनों भारतीय सम्राटों में से किसी ने भी दूसरे के मनोभाव की रक्षा के लिए वलभी से अपने हाथ अलग नहीं रक्खा।

पूर्व में स्थित उड़ीसा-राज्य की स्थिति भी उत्तरी साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ-कुछ महत्त्वपूर्ण थी। महानदी की स्थिति भी कम चिंतनीय नहीं थी। संभवतः उस से हो कर बंगाल और फिर बंगाल से मध्य हिंद तक पहुँचा जा सकता था। दक्षिण के आक्रमण से महानदी-सीमा की पूर्ण रक्षा करने के लिए उड़ीसा में एक प्रबल सेना का रखना अनिवार्य था। अतः उत्तरी साम्राज्य को सुरक्षित बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उड़ीसा को या तो उस में सम्मिलित कर लिया जाय या कम से कम उस पर दृढ़ नियंत्रण रक्खा जाय।

महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के कुछ ही पूर्व दक्षिण में दो बड़ी शक्तियां थीं—चालुक्य और पल्लव। चालुक्यों का अधिकार समूचे दक्षिणी पठार पर—समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक—स्थापित था। उन की राजनीतिक प्रभुता प्रायः उत्तरी सीमा के उस पार तक—लाट, मालवा, तथा गुर्जर तक फैली थी। दक्षिण का शेष भाग प्रायः पल्लवों के अधिकार में था। चालुक्य और पल्लव लोगों के बीच निरंतर प्रतिद्वंद्विता होती रहती थी चालुक्यों की अपने परवर्ती उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों की भाँति कन्नौज तक विजय करने की चेष्टा न करने का एक कारण यह शत्रुता भी थी। जब दक्षिण में राष्ट्रकूट लोग शक्तिशाली बन गए, तब पल्लवों की शक्ति बहुत कमजोर हो गई। वे राष्ट्रकूटों की सम्राट् बनने की प्रबल आकांक्षा को दबा नहीं सके।

द्वितीय अध्याय

हर्ष का प्रारंभिक जीवन और सिंहासनारोहण

हर्ष के पूर्वज

थानेश्वर के इर्द-गिर्द का देश इतिहास तथा श्रुतिपरंपरा में बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। बाण के कथनानुसार श्रीकंठ नाम का जनपद—जिस का थानेश्वर एक अंतर्भुक्ति प्रदेश था—बहुत समृद्धिशाली था। उस में हरे-भरे उपवन और सुंदर कुंज, अन्न से संपन्न खेत और फलों से भरे बाग़ थे। देश के निवासी सुख और शांति के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएं प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। लोगों का आचरण निष्कलंक था। वे पुण्यात्मा थे और उन में अतिथि-सत्कार का भाव आवश्यकता से अधिक मात्रा में वर्त्तमान था। उन के बीच महापुरुषों का अभाव नहीं था। अधर्म, वर्णसंकर, विपत्ति तथा व्याधि का कहीं नाम न था।

इसी देश में कौरवों तथा पांडवों के मध्य महायुद्ध हुआ था। यह एक पवित्र 'धर्मक्षेत्र' माना जाता था और कुरुदेश अथवा कुरुक्षेत्र कहलाता था। प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोत्तम था। कुरुदेश का नाम उस का पर्यायवाची था। प्रचीन काल में इस देश के अंदर ऋषियों का निवास था। दूसरे-दूसरे देशों के अनुसरण के लिए वे सदाचरण के आदर्श नियम निर्दिष्ट किया करते थे।

सत्य के जिज्ञासुओं तथा सांसारिक सुख की कामना करनेवालों को समान सुविधाएं प्राप्त थीं। ऋषियों, व्यापारियों तथा प्रेमियों, सभी के लिए यह देश प्रिय था। विद्वानों

और योद्धाओं से यह देश भरा पड़ा था। ललित-कला के प्रेमियों की संख्या भी कम न थी। गुण तथा धार्मिक आचरण का बड़ा सम्मान किया जाता था[1]।

चीनी यात्री का कथन है कि यहां के लोगों के रीति-रिवाज और रहन-सहन संकुचित तथा अनुदार थे। संपन्न कुल अपव्ययिता में एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते थे। मंत्र-विद्या में लोगों का बड़ा विश्वास था। अद्भुत अथवा चमत्कारपूर्ण कार्यों का वे बहुत मूल्य लगाते थे।[2] किंतु चीनी यात्री का यह कथन ठीक नहीं है। बौद्धधर्म का प्रेमी होने के नाते उन के लिए एक ऐसे देश के लोगों की रहन-सहन में त्रुटियां निकालना स्वाभाविक था, जहां बौद्धों की संख्या बहुत अल्प थी और जहां की अधिकांश जनता जाति-पाँति के नियमों को मानती तथा देवी-देवताओं की पूजा करती थी।

थानेश्वर देश में पुष्पभूति नामक एक राजा हुआ। वह शिव का अनन्य उपासक था। वह निस्संदेह तीनों लोकों को अन्य सब देवताओं से शून्य समझता था[3]। उस की प्रजा भी शिव की उपासना करती थी। पुष्पभूति दक्षिण देश से आए हुए एक शैव महात्मा के प्रभाव में आ गया था। उन महात्मा के प्रति उस के हृदय में बड़ी श्रद्धा और सम्मान था। महात्मा का नाम भैरवाचार्य था। एक बार उन्हों ने पुष्पभूति से श्मशान-भूमि में चल कर वेतालसाधना नामक एक धार्मिक क्रिया के संपादन में सहायता प्रदान करने की प्रार्थना की[4]। राजा ने बड़े प्रेम-भाव से उन्हें सहायता दी। उस की दृढ़-भक्ति से प्रसन्न हो कर श्रीदेवी श्मशान-भूमि में प्रकट हुई। देवी ने उसे वर दिया कि तुम एक शक्तिशाली राजवंश के संस्थापक होगे। देवी का वरदान फलीभूत हुआ और इस प्रकार पुष्पभूति उस राज्य-वंश का संस्थापक हुआ, जिस को सब से अधिक प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा श्रीहर्ष हुए। हर्ष-संवत् २२ के बंसखेरा के ताम्रलेख,[5] संवत् २५ के मधुवन वाले फलक[6] सोनपत की ताम्र मुहर[7] से तथा नालंदा में प्राप्त मुहर[8] महाराज हर्ष के पूर्ववर्ती राजाओं और उन की रानियों के नाम ज्ञात होते हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं :—

[1]देखिए, 'हर्षचरित', तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ १४७ और आगे।

[2]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३-४

[3]'अन्यदेवताशून्यममन्यत्त्रैलोक्यम्'—'हर्षचरित', पृष्ठ १५१

[4]महाकालहृदयनाम्नो महामंत्रस्य......महाश्मशाने जपकोट्या कृतपूर्वसेवोऽस्मि तस्य च वेतालसाधनावसाना सिद्धिः......असहायैश्च सा दुरापा त्वं चालमस्मै कर्मणे........
—'हर्षचरित', पृष्ठ १६१

[5]देखिए, 'एपिग्राफिआ इंडिका', जिल्द ४, पृष्ठ २०८

[6] ,, ,, ,, जिल्द १, पृष्ठ ६७

[7] ,, 'गुप्त इंसक्रप्शंस', नं० ५२

[8]'जनरल बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटी', १९१९, पृष्ठ ३०२ तथा १९२०, १५१—१५२

नरवर्द्धन = वज्रिणीदेवी
|
राज्यवर्द्धन = अप्सरोदेवी
|
आदित्यवर्द्धन = महासेनगुप्तादेवी
|
प्रभाकरवर्द्धन = यशोमतीदेवी
|
राज्यवर्द्धन हर्ष
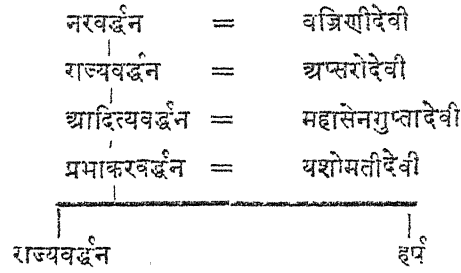
अब यदि हम हर्ष के सिंहासनारोहण के समय (६०६ ई०) से पीछे की ओर हिसाब लगाते हुए चलें और प्रत्येक राजा का शासन-काल स्थूलरूप से २५ वर्ष का मान लें, (राज्यवर्द्धन को छोड़ कर जिस ने केवल पाँच मास तक राज्य किया था) तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि नरवर्द्धन ५०५ ई० में सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार स्थूल-रूप से विचार करने पर मालूम होता है कि पुष्यभूति के वंश की स्थापना छठी शताब्दी के आरंभ में हुई थी। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार गुप्त-साम्राज्य की निर्बलता के कारण उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में स्वतंत्र राज्य-वंश स्थापित हो गए थे। थानेश्वर का वंश पहले किसी सार्वभौम राजशक्ति के अधीन था। जायसवाल महोदय ने 'मंजुश्रीमूलकल्प' के एक पद की जो व्याख्या की है, उस के अनुसार थानेश्वर के राजाओं के वंश की उत्पत्ति उसी नगर के विष्णुवर्द्धन—यशोधर्मन से हुई।[1] 'वर्द्धन' की उपाधि जो इस वंश के राजाओं ने धारण की, उन के पूर्वजों से ली गई थी। जैसा कि उन की उक्त उपाधि से प्रकट होता है, वे वैश्य जाति के थे। पहले वे मौखरियों के मंत्री थे, फिर बाद को वे स्वयं राजा बन बैठे।

मालवा के सम्राट् विष्णुवर्द्धन—यशोधर्मन के साथ थानेश्वर के वर्द्धन राजाओं का संबंध दिखाने का प्रयत्न करना निस्संदेह बड़ा रोचक है। किंतु उस का पूर्णतया समर्थन करने के लिए अतिरिक्त संतोषप्रद प्रमाणों तथा युक्तिपूर्ण प्रबल तर्कों की आवश्यकता है। इस प्रश्न से संबद्ध 'मंजुश्रीमूलकल्प' का विवादग्रस्त पद वास्तव में बड़ा अस्पष्ट और गड़बड़ है।[2] मेरा विचार है कि इस पद के ६१४ से ६१६ नं० के श्लोकों में 'विष्णु' से

[1] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ् इंडिया', पृष्ठ २८

[2] विवादग्रस्त श्लोक इस प्रकार हैं:—

विष्णुप्रभवौ तत्र महाभोगो धनिनो तदा ॥ ६१४ ॥
मध्यमात् तौ भकाराद्यौ मंत्रिमुख्यौ उभौ तदा ।
धनिनौ ... ... ॥ ६१५ ॥
ततः परेण भूपालो जातानामनुजेश्वरौ ॥ ६१६ ॥
सप्तमष्टशता त्रीणि श्रीकंठवासिनस्तदा ।
आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थानमीश्वरवासिनः ॥ ६१७ ॥
भविष्यति न संदेहो अन्ते सर्वत्र भूपतिः ।
हकाराख्यो नामतः प्रोक्तो सार्वभूमिनराधिपः ॥ ६१८ ॥

—जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ् इंडिया,' संस्कृत-भाग, पृष्ठ ४९

उत्पन्न दो धनी व्यक्तियों का उल्लेख है, जो महायान बौद्धधर्म के बड़े भक्त थे और मंत्रि-पद पर प्रतिष्ठित थे। ६१७ वें श्लोक में श्रीकंठ (थानेश्वर) से संबंध रखनेवाले एक नए राजवंश का उल्लेख है। ६१४ से ६१६ नं० के श्लोकों के साथ ६१७ वें श्लोक का संबंध होना कोई आवश्यक नहीं है। इस स्थल पर यह भी लिख देना उचित है कि ६१७ वें श्लोक के 'आदित्यनामा वैश्यास्तु......' आदि पद से यह नहीं प्रकट होता कि वह आदित्यवर्द्धन नामक किसी राजा-विशेष की ओर संकेत कर रहा है। ग्रंथकर्ता के कथन का अभिप्राय यह है कि थानेश्वर राजवंश से संबंध रखनेवाले तीन राजा थे और वे आदित्य की उपाधि धारण करते थे। हम जानते हैं कि महाराज हर्ष 'आदित्य'—शीलादित्य—की उपाधि धारण करते थे। 'मंजुश्रीमूलकल्प' के पदों में व्याकरण तथा वाक्य रचना संबंधी बड़ी बेढब भूलें दिखाई पड़ती हैं। ऐसी अवस्था में उन पदों की सहायता से ऐतिहासिक तथ्य पर पहुँचना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव प्रतीत होता है। यहां पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि मूलग्रंथ के ६१४ वें श्लोक के एक पद का पाठांतर—'विष्णु प्रभवौ' के स्थान पर 'ब्राह्मणप्रभवौ'—मिलता है। ऐसी दशा में विष्णुवर्द्धन के साथ थानेश्वर के वंश का संबंध दिखाने का बिलकुल प्रश्न ही नहीं उठता है।

वर्द्धन राजाओं की जाति

मालवा के सम्राट् यशोधर्मन तथा थानेश्वर के वर्द्धन राजाओं के बीच संबंध-शृंखला स्थापित करनेवाले सिद्धांत का मूल्य चाहे जो कुछ हो, यह निश्चय है कि 'मंजुश्री-मूलकल्प' का रचयिता वर्द्धन राजाओं को वैश्य जाति का बतलाता है। वास्तव में 'वर्द्धन' की उपाधि ही इस बात को प्रकट करती है और ह्वेनसांग के लिखे हुए भ्रमण-वृत्तांत से हमें इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होता है कि कन्नौज के राजा शिलादित्य 'फीशे' अथवा वैश्य जाति के थे।[1] कनिंघम का मत है कि चीनी यात्री का कथन गलत है। वे कहते हैं कि ह्वेनसांग को वैश्य राजपूतों से वैश्य जाति का भ्रम हो गया है। मेरा विचार है कि वास्तव में कनिंघम का ही ख्याल गलत है। ह्वेनसांग ने भारत के विभिन्न भागों में शासन करनेवाले अनेक राजाओं की जाति का उल्लेख किया है। उस के कथनानुसार वलभी का राजा ध्रुवभट्ट क्षत्रिय था, सिंध का राजा शूद्र था, उज्जैन का राजा ब्राह्मण तथा पारियात्र का राजा वैश्य जाति का था। यह अनुमान करने का कोई कारण नहीं है कि कन्नौज के राजा शिलादित्य की जाति के संबंध में ह्वेनसांग का उल्लेख भ्रमपूर्ण है। वाटर्स का भी कहना है कि उस के कथन का कुछ आधार अवश्य रहा होगा।[2]

नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकरवर्द्धन सूर्यदेव के अनन्य भक्त थे। छठी शताब्दी में, सूर्योपासना का बहुत प्रचार था और देश के विभिन्न भागों में सूर्यदेव के बहुसंख्यक मंदिर थे।

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४३

[2] वही, पृष्ठ ३४४-३४५

थानेश्वर-वंश का प्रथम राजा, जिस ने अपनी उन्नति के द्वारा ख्याति प्राप्त की थी, प्रभाकर वर्द्धन था। उस ने 'परमभट्टारक' एवं 'महाराजाधिराज' की उपाधियां धारण की थीं। इन उपाधियों से उस की महानता तथा स्वतंत्रता प्रकट होती है। अपने पड़ोसी राजाओं के साथ उस ने अनेक युद्ध किए और उन में सफलता प्राप्त की। उन का वर्णन महाकवि बाण अपनी स्वाभाविक कवित्वमय तथा अलंकार-पूर्ण भाषा में इस प्रकार करता है:—"हूणहरिणकेसरी, सिंधुराजज्वरो, गुर्जरप्रजागरः, गांधाराधिपगंधद्वीपकूटहस्तिज्वरो, लाटपाटवपाटच्चरो, मालवलतालक्ष्मीपरशुः"[1]—अर्थात् वह (प्रभाकरवर्द्धन) हूण-रूपी मृग के लिए सिंह था, सिंधु-देश के राजा के लिए ज्वर था, गुर्जर की निद्रा के भंगकर्ता था, गांधार-राजा-रूपी सुगंधित गज के लिए कूटहस्तिज्वर के समान था, लाटों की पटुता का अपहारक और मालव देश की लता-रूपी लक्ष्मी के लिए कुठार था।

प्रभाकरवर्द्धन ने उत्तरी-पश्चिमी पंजाब के हूणों, राजपूताना के गुर्जरों, गुजरात प्रदेश के लाटों तथा सिंधु, गांधार एवं मालवा के राजाओं के साथ जो युद्ध किया, वे अनुमानतः छोटे-मोटे आक्रमणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। ज्ञात होता है कि इन युद्धों के फलस्वरूप उस ने किसी राज्य को जीत कर अपने राज्य में नहीं मिलाया। यह भी अनुमान करना उचित नहीं जान पड़ता कि उत्तरी भारत के समस्त देशों तथा जातियों को अपने अधीन कर अथवा उन पर अपना प्रभाव स्थापित कर प्रभाकरवर्द्धन प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत का सम्राट् बन गया था। हमें ज्ञात है कि हर्ष के सिंहासनारोहण के समय विकट परिस्थिति उपस्थित थी और कतिपय उपरोक्त देशों के राजाओं के साथ उन्हें युद्ध करना पड़ा था। ऐसी दशा में उक्त अनुमान किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता। किंतु इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रभाकरवर्द्धन एक शक्तिशाली योद्धा था। अपने दूसरे नाम 'प्रतापशील' से वह बहुत दूर-दूर तक विख्यात था[2]।

प्रभाकरवर्द्धन की माता महासेनगुप्ता देवी गुप्त-वंशोत्पन्ना मानी गई है। इस समय थानेश्वर के वर्द्धन राजाओं के साथ उत्तरकालीन गुप्त नरेशों का मित्रता का संबंध था। स्मिथ महोदय का कथन है, "इस बात ने कि उस (प्रभाकरवर्द्धन) की माता गुप्त-वंश की राजकुमारी थी, निस्संदेह उस की आकांक्षा को उत्तेजित किया और साथ ही उस आकांक्षा की पूर्ति में सहायता दी[3]।"

प्रभाकरवर्द्धन की रानी महादेवी यशोमती थी। वह "राजा के वक्षस्थल पर उसी भाँति शोभायमान थी जिस प्रकार कि लक्ष्मी नरक-विजेता विष्णु के वक्ष पर[4]।" चिरकाल तक प्रभाकरवर्द्धन के कोई संतान नहीं उत्पन्न हुई। वह स्वभाव से ही आदित्य का भक्त था,

---

[1] 'हर्षचरित', प्रथम उच्छ्वास, पृष्ठ १७४

[2] प्रतापशील इति प्रथितापरनामा—'हर्षचरित', पृष्ठ १७४

[3] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३४६

[4] या अस्य वक्षसि नरकजितो लक्ष्मीरिव ललास—'हर्षचरित', पृष्ठ १७७

अतः उस ने संतान के लिए आदित्यदेव की प्रार्थना की और अंत में उस का मनोरथ पूर्ण हुआ। उस के तीन संतानें उत्पन्न हुई जिन में सब से बड़ा राज्यवर्द्धन था। यह राजकुमार मानो सकल राजाओं के दल को दबाने के लिए वज्र के परमाणुओं से निर्मित था[१]। उस के जन्म के अवसर पर पूरे एक मास तक उत्सव मनाया गया। कुछ और समय के व्यतीत होने पर श्रावण के मास में, जब कदंब के वृक्ष में कलियां लगने लगीं, चातक का चित्त विकसित होने लगा तथा मानस के निवासी मूक बन गए, यशोमती के गर्भ तथा हृदय में एक साथ ही हर्ष का उदय उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि देवकी के गर्भ में चक्रपाणि का;[२] और अंत में ज्येष्ठ मास में, कृष्णपक्ष द्वादशी को, गोधूली के उपरांत ही, जब कि निशा की यौवनावस्था प्रारंभ हुई, हर्ष का जन्म हुआ[३]। राज-ज्योतिषी तारक ने घोषणा की कि मान्धाता के समय से ले कर अब तक चक्रवर्ती राजा के जन्म के लिए उपयुक्त ऐसे शुभ योग में संपूर्ण संसार में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं उत्पन्न हुआ है[४]। हर्ष ऐसे शुभ लग्न में पैदा हुए जो व्यतिपात आदि सभी प्रकार के दोषों के अभिषंग से मुक्त था और उस क्षण सब ग्रह उच्च स्थान पर स्थित थे।

राजमहल में, नगर तथा ग्रामों में बड़ा आनंद मनाया गया। ब्राह्मणों ने नवजात शिशु के पोषण के निमित्त वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया। राजपुरोहित हाथ में फल तथा शांति-जल ले कर शिशु को आशीर्वाद देने के लिए आया। प्राचीन प्रथा के अनुसार कुल के बड़े-बूढ़े लोग भी आए। बंदी कारागार से मुक्त कर दिए गए। राजधानी में पंक्ति की पंक्ति दूकानें लुटा दी गई। उस आनंदोत्सव में स्वामी एवं सेवक, विद्वान् तथा अनपढ़, छोटे और बड़े, सुरासेवी एवं संयमी, भद्र कुमारियों तथा वृद्धा कुरूपा स्त्रियों के बीच कुछ भेद-भाव नहीं था। नगर की समस्त जनता प्रसन्नता के मारे नाचने लगी थी। गाने और बाजे की ध्वनि सर्वत्र गूँज उठी।

बाण ने 'हर्षचरित' में जो कुछ विवरण दिया है उस के आधार पर चिंतामणि विनायक वैद्य महोदय ने महाराज हर्ष की ठीक-ठीक जन्म-तिथि निश्चय करने की चेष्टा की है। उन के कथनानुसार ज्येष्ठ वदी द्वादशी शक-संवत् ५११ (५८९ ई०) को १० बजे रात्रि के समय चंद्रमा कृत्तिका नक्षत्र में था और ज्येष्ठ वदी द्वादशी शक-संवत् ५१२ (५९० ई०) में भी चंद्रमा उसी नक्षत्र में स्थित था। इन दोनों संवतों में से शक ५१२ अधिक संभव प्रतीत होता है; क्योंकि शक-संवत् ५१२ में द्वादशी तिथि सूर्योदय के पश्चात्

---

[१] सर्वोर्वीभृत्पक्षपातायवज्रपरमाणुभिरिव निर्मितं—'हर्षचरित', पृष्ठ १८१

[२] कुड्मलितकदंबकतरौ, विकसितचातकचेतसि मूकमानसौकसि देव्यां देवक्या इव चक्रपाणि यशोमत्या हृदये गर्भे च सममेव संबभूव—'हर्षचरित', पृष्ठ १८२

[३] ततश्च प्राप्ते ज्येष्ठामूलीये बहुलासु बहुलपक्षद्वादश्यां व्यतीते प्रदोषसमये समारुरुक्षति क्षपायौवने सहसैवांतःपुरे समुदपादि कोलाहलः स्त्रीजनस्य—'हर्षचरित', पृष्ठ १८२

[४] व्यतिपातादिसर्वदोषाभिषंगरहिते ऽहनि सर्वेषूच्चस्थानस्थितेष्वेवं ग्रहेष्वीदृशि लग्ने भेजे जन्म—'हर्षचरित', पृष्ठ १८४

न हुई थी। जेष्ठ वदी द्वादशी शक-संवत् ५१२, अंग्रेज़ी गणना के अनुसार रविवार, जून, सन् ५६० ई० होता है। इस प्रकार की ज्योतिष-गणना के आधार पर ठीक तिथि निर्धारित करना सदैव संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। विशेष कर प्रस्तुत गणना की .ता के संबंध में तो हमारा संदेह और भी बढ़ जाता है। क्योंकि हमें सब ठीक-ठीक बातें लब्ध नहीं हैं। ऊपर लिखा गया है कि हर्ष, गोधूली के उपरांत ही जब निशा की यौवना-स्था प्रारंभ हुई थी, पैदा हुए थे। इस से वैद्य जी १० बजे रात्रि का समय अनुमान करते हैं। किंतु जो कुछ तथ्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं, उन के अनुसार जन्म-काल इस से पहले ही माना जा सकता है। यदि जन्म का ठीक समय १० बजे रात्रि मान भी लिया जाय तो भी हम किसी एक निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचते। हमारे सामने शक-संवत् ५११ और ५१२ का प्रश्न आ उपस्थित होता है। इस के अतिरिक्त वैद्य महोदय स्वयं दो संदिग्ध बातों का उल्लेख करते हैं। उपरोक्त दोनों संवतों में कृत्तिका और द्वादसी दोनों ज्येष्ठ-मास में तभी पड़ती हैं, जब वह अमांत मास माना जाय। किंतु उत्तरी भारत की गणना के अनुसार मास पूर्णिमांत होते हैं। बाण उत्तरी भारत का रहनेवाला था, अतः उस ने निश्चय ही उत्तरी भारत की गणना का अनुसरण किया होगा। इस के सिवाय बाण के कथनानुसार हर्ष मान्धाता की भाँति ऐसे लग्न में उत्पन्न हुए थे जब कि सब ग्रह उच्च स्थान में थे। किंतु वैद्य महोदय की तालिका से प्रकट होता है कि न तो शक-संवत् ५११ की ज्येष्ठ द्वादशी के १० बजे रात्रि में और न दूसरे वर्ष की उस तिथि तथा उस समय में ही, ग्रह उच्च स्थान में थे। उन का यह अनुमान और कथन भी कि बाण का प्रमाण ग्रहों की स्थिति के संबंध में अविश्वसनीय तथा जन्म-समय के संबंध में माननीय है, सर्वथा अनुचित एवं असंगत प्रतीत होता है। हमें या तो बाण की दोनों बातों को मानना होगा या दोनों को अस्वीकार करना होगा[1]।

हर्ष के जन्म के निकटतम समय का निश्चय हम इस प्रकार से कर सकते हैं:— हमें ज्ञात है कि राज्यश्री अपने विवाह के समय ११ वर्ष से कम अवस्था की नहीं थी[2]। हर्ष राज्यश्री से कम से कम दो-तीन वर्ष बड़े थे। इस प्रकार राज्यश्री के विवाह के समय हर्ष की अवस्था १४ वर्ष के लगभग रही होगी। विवाह के पश्चात् वृद्ध राजा प्रभाकरवर्द्धन कुछ समय तक जीवित रहा। हर्ष ६०६ ई० में सिंहासन पर बैठे थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ६०६ ई० में जिस समय वे सिंहासन पर बैठे थे उस समय उन की अवस्था १५ वर्ष के लगभग रही होगी। दूसरे शब्दों में इस का अर्थ यह होता है कि हर्ष का जन्म

---

[1] इस आलोचना के संबंध में देखिए, वैद्य, 'हिस्ट्री आफ़ मेडिएवल इंडिया' जिल्द १, नोट ४, पृष्ठ ४१-४२

[2] राज्यश्री अपने विवाह के समय तरुणावस्था को प्राप्त थी और उस के स्तन उठने लगे थे। देखिए, 'हर्षचरित', पृष्ठ १६६ में राज्यश्री के संबंध में 'पयोधरोन्नमनकाल' पद का प्रयोग। भारतीय बालिकाओं के शरीर में यौवन के लक्षण शीघ्र ही प्रस्फु- टित हो जाते हैं।

(६०६--१५ =) ५९१ ई० के परे नहीं हो सकता। संभव है कि उन का जन्म एक वर्ष पूर्व ही हुआ हो।

जब राजकुमार राज्यवर्द्धन ६ वर्ष का था और जब हर्ष धात्री की अँगुली सहारे किसी प्रकार पाँच-छः पग चल लेते थे, तब रानी यशोमती ने राज्यश्री को उस प्रकार गर्भ में धारण किया जिस प्रकार 'नारायण की मूर्ति ने वसुधा देवी को'[1]। बाण के वर्णन के अनुसार हर्ष की अवस्था उस समय किसी प्रकार दो वर्ष से अधिक न थी। यथा-समय रानी यशोमती के गर्भ से राज्यश्री का उसी प्रकार जन्म हुआ जिस प्रकार शची के गर्भ से जयंती का अथवा मेना के गर्भ से गौरी का[2]।

जब राजकुमार कुछ बड़े हुए तब यशोमती के भाई ने अपने पुत्र भांडी को, उन की सेवा के लिए अर्पण किया। भांडी उस समय आठ वर्ष का बालक था। बाद को राजा ने कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त नामक दो भाइयों को भी उन का साथी नियुक्त किया। ये दोनों भाई मालव-राज के पुत्र थे। कुमारगुप्त की अवस्था १८ वर्ष की थी और उस का शारीरिक गठन बहुत ही सुंदर था। माधवगुप्त उस से छोटा था। इस में संदेह करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं कि मालव-राज जिस का उल्लेख ऊपर किया गया है उत्तरकालीन गुप्त-राजा महासेनगुप्त था। अफसड़ के लेख से हमें ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त हर्ष का साथ करने के लिए लालायित था। अतः जब बाण हमें यह बतलाता है कि मालवराज का पुत्र माधवगुप्त हर्ष का एक साथी नियुक्त किया गया था, तब हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि वह मालव-राज महासेनगुप्त था। इस समय उस के अवश्य ही दुर्दिन रहे होंगे। एक बात तो यह थी कि उसे स्वयं प्रभाकरवर्द्धन ने पराजित किया था। दूसरे यह भी संभव है कि ५९५ ई० के कुछ पूर्व, कलचुरि-राज शंकरगण ने मालवा पर जो आक्रमण किया था उस से उसे भारी क्षति पहुँची हो। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चय ही है कि मालवा का राजा प्रभाकरवर्द्धन के अधीन था। उस के दोनों पुत्र संभवतः बंधक रूप में रख लिए गए थे, ताकि वह अधीनस्थ राजा की भाँति सद्व्यवहार करता रहे, कभी विरोध अथवा विद्रोह न करे।

दोनों राजकुमारों तथा राजकुमारी राज्यश्री को अपनी पद-प्रतिष्ठा के उपयुक्त उच्च शिक्षा अवश्य ही दी गई होगी। उन की शिक्षा के संबंध में बाण ने कुछ विस्तार के साथ नहीं लिखा है, किंतु इतना निश्चय है कि राजकुमारों को पूर्ण सैनिक शिक्षा दी गई थी और वे श्रेष्ठ सैनिक बन गए थे। बाण लिखता है "कि दिन-प्रति-दिन शस्त्राभ्यास के चिह्नों से उन के हाथ श्याम हो गए थे, मालूम होता था कि वे समस्त राजाओं के प्रताप-रूपी अग्नि को बुझाने में मलिन हो गए थे[3]।" उन्हों ने अपने शरीर को खूब बलिष्ठ बना

[1] नारायणमूर्तिरिव वसुधां देवीं, 'हर्षचरित', पृष्ठ १६१

[2] जयन्तीमिव शची गौरीमिव मेना, 'हर्षचरित', पृष्ठ १६२

[3] अनुदिवसं शस्त्राभ्यासश्यामिकाकलंकितमशेषराजकप्रतापाग्निनिर्वापणमलिनमिव करतलम्, 'हर्षचरित', पृष्ठ १६५

लिया। वे कुशल धनुर्धारी बन गए तथा अन्य अनेक प्रकार के सैनिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में दक्ष हो गए। सैनिक-शिक्षा के अतिरिक्त राजकुमारों को अन्य अनेक उपयोगी विद्याओं की उच्च शिक्षा भी दी गई होगी। उन दिनों विद्यार्थियों को व्याकरण (शब्द-विद्या), शिल्प-विद्या, चिकित्सा-शास्त्र, तर्क-शास्त्र (हेतु-विद्या), अध्यात्म-विद्या आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। हमारा अनुमान है कि इन में से कुछ विद्याओं के तो वे पूर्ण पंडित बनाए गए होंगे और शेष का उन्हें साधारण, प्रारंभिक ज्ञान कराया गया होगा। हम जानते हैं कि हर्ष आगे चल कर ग्रंथकर्त्ता हुए और उन्हों ने अपनी पुस्तकों द्वारा ख्याति प्राप्त की। ऐसी दशा में यह अनुमान करना असंगत न होगा कि वह तत्कालीन अनेक विद्याओं से अवश्य परिचित रहे होंगे। बाण की 'कादंबरी' में राजकुमार चंद्रापीड़ की शिक्षा का मनोरंजक विवरण उपलब्ध होता है। उस को जिन विषयों की शिक्षा दी गई थी उन में व्याकरण, न्याय, राजनीति, काव्य, रामायण, महाभारत, पुराण आदि सम्मिलित थे। वह युद्ध-कला में पूर्णतया पारंगत किया गया था और सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में कुशल था। राजकुमार चंद्रापीड़ की शिक्षा से हम हर्ष की शिक्षा का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

राजकुमारी राज्यश्री उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों सयानी होती गई, त्यों-त्यों नृत्य एवं संगीत-कला से उस का परिचय भी बढ़ता गया। वह सब गुणों में निपुण और सब प्रकार से योग्य बन गई। उस ने शास्त्रों का अभ्यास किया। जिस समय चीनी यात्री ह्वेनसांग हर्षवर्द्धन के सामने बौद्धधर्म की व्याख्या कर रहा था, उस समय राज्यश्री हर्ष के पीछे बैठी हुई उसे श्रवण कर रही थी[1]। जब राज्यश्री पूर्ण सयानी हो गई तब राजा को उस के विवाह की चिंता हुई। विभिन्न स्थानों से विवाहेच्छुक राजकुमारों के धावक आए; किंतु वृद्ध पिता को राज्यश्री के उपयुक्त कोई वर न मिला। उस की चिंता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। अंत में उस ने कन्नौज के मौखरि-राज ग्रहवर्मा को पसंद किया। वह सब प्रकार से योग्य तथा राज्यश्री के सर्वथा उपयुक्त था क्योंकि मौखरि लोग समस्त राज-वंशों के सिरमौर थे और शिव के पद-चिह्न की भाँति वे संपूर्ण संसार-द्वारा पूजे जाते थे[2]। ग्रहवर्मा एक पुण्यात्मा राजा था, वह पृथ्वी पर ग्रह-पति (सूर्य) की भाँति सुशोभित था[3]।

विवाह की तैयारी बड़े धूमधाम के साथ की गई। विवाहोत्सव बड़े समारोह और ठाट-बाट के साथ मनाया गया। भोज, संगीत तथा विभिन्न प्रकार के आमोद प्रमोद कई दिनों तक निरंतर होते रहे। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी उस उत्सव में सम्मिलित थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार विवाह के कार्य में हाथ बँटाने के लिए उत्सुक था। विवाह-कार्य का संपादन, सब प्रकार से राजा के पद एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल करना आवश्यक था। इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया था कि वर पक्षवालों को सब

---

[1] देखिए, 'जीवनी', पृष्ठ १७६

[2] भूभृन्मूर्ध्नि स्थितोपि माहेश्वरपादन्यास इव सकलभुवननमस्कृतो मौखरि-वंशः
—'हर्षचरित', पृष्ठ २००

[3] ग्रहवर्मा नाम ग्रहपतिरिव गांगतः, 'हर्षचरित', पृष्ठ २००

प्रकार की सुविधा और सुपास दिया जाय, जिस से उन्हें शिकायत करने का कोई म्ना न मिले। बाण का कथन है कि विवाहोत्सव के कार्य में सक्रिय भाग लेने के लिए रागण भी कटिबद्ध हुए थे और सुदूर पूर्व के सभी सामंतों की रानियां भी इस अवस पर आई थीं।

विवाह का सभी काम बड़ी धूमधाम के साथ समाप्त हुआ[1]। ग्रहवर्मा अनी नवविवाहिता स्त्री को लेकर अपने घर आया। विवाह का राजनीतिक परिणाम ब़ा महत्त्वपूर्ण था। मौखरि लोग गुप्त राजाओं के पुराने शत्रु थे। अब ग्रहवर्मा और राज्‍ी के विवाह द्वारा मौखरियों तथा थानेश्वर के पुष्यभूति-वंश के बीच मैत्री-संबंध स्थापित हो गया। अतः गुप्तवंश के लोग पुष्यभूति-वंश के शत्रु बन गए। पुष्यभूति तथा मौखरियों के मैत्री-संबंध के विरोध में मालवा के गुप्त लोगों ने गौड़ों के साथ मित्रता कर ली। मौखरियों और गौड़ों की पारस्परिक शत्रुता ईशानवर्मा के शासन-काल से चली आती थी। गौड़ों का राजा इस समय शशांक था और वह संभवतः गुप्तवंश का था। इस प्रकार बंगाल के गौड़ और मालवा के गुप्त लोगों ने पुष्यभूति तथा मौखरियों के विरुद्ध अपना एक गुट्ट बना लिया। यह राजनीतिक दलबंदी स्पष्टतः थानेश्वर के राजा के लिए विपत्तिजनक संभावनाओं से परिपूर्ण थी। सिंहासनारोहण के समय महाराज हर्षवर्द्धन को जिन उपद्रवों का सामना करना पड़ा उन में से अधिकांश की उत्पत्ति का मूल कारण कन्नौज तथा थानेश्वर का मैत्री-संबंध ही था।

विवाहोत्सव के सुखद एवं सफल संपादन के अनंतर वृद्ध राजा का चित्त राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा की ओर आकर्षित हुआ। ६०४ ई० के लगभग, प्राचीन भारत के स्वतंत्र लुटेरे हूणों ने एक बार फिर उपद्रव मचाना प्रारंभ किया। थानेश्वर राज्य की उत्तरी पश्चिमी सीमा को इन अशांति-प्रिय लुटेरों से सदैव भय बना रहता था। उन्हें शांत रखने के लिए बार-बार दंड देने की आवश्यकता पड़ती थी। फलतः उपद्रव के प्रारंभ होते ही, राजा प्रभाकरवर्द्धन ने बड़े राजकुमार राज्यवर्द्धन को एक विशाल सेना के साथ उत्तरी-पश्चिमी सीमा की ओर हूणों को पराजित एवं दंडित करने के लिए भेजा। बाण के कथनानुसार युवराज की अवस्था उस समय वर्म धारण करने के उपयुक्त थी। हर्ष भी एक अश्वारोही सेना के साथ अपने अग्रज के पीछे चले। हर्ष युवराज से चार वर्ष छोटे थे। जिस समय राज्यवर्द्धन हूणों के साथ युद्ध करने में संलग्न था, हर्ष हिमाचल के अंचल में स्थित शिविर से दूर आखेट का आनंद उठाते रहे। अपनी बाण-वर्षा से उन्हों ने कुछ ही दिनों में आस-पास के जंगलों को वन्य-पशुओं से विहीन कर दिया।

युद्ध-काल के बीच ही में हर्ष को कुरंगक नामक एक दूत से यह दुखद समाचार मिला कि वृद्ध राजा तीव्र ज्वर से पीड़ित है और शय्या पर पड़ा है। पिता की बीमारी

[1] विवाह के अत्यधिक मनोरंजक वर्णन के लिए देखिए, 'हर्षचरित', पृष्ठ २००-२०७। बाण का वर्णन तत्कालीन सामाजिक अवस्था का एक सजीव चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है।

हाल सुनते ही हर्ष तुरंत घोड़े पर सवार हो राजधानी पहुँचे। उन के साथ उन का ममेरा भाई भांडी भी था। राजधानी में पहुँच कर उन्हों ने देखा कि सारा नगर शोक-सागर में निमग्न है। राजा का रोग असाध्य हो गया था। उस के मित्र, परामर्शदाता, संबंधी तथा राजमंत्रीगण सभी निराश हो उस की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। रानी यशोमती स्वामी के जीवन से एकदम निराश हो, अन्य रानियों के साथ धधकती हुई चिता में कूद पड़ी। माता को इस भीषण संकल्प से विचलित करने के लिए हर्ष ने बहुत अनुनय-विनय किया; किंतु उन के सारे प्रयत्न विफल सिद्ध हुए। राज्यवर्द्धन को बुलाने के लिए एक के बाद एक करके अनेक कुशल दूत पहले ही रवाना किए जा चुके थे। इधर इसी बीच में आयुर्वेद-शास्त्र के अष्टांगों में पारंगत सुषेण तथा रसायन नामक दो पटु चिकित्सक लाख प्रयत्न करने पर भी महाराज को अच्छा न होते देख बिल्कुल हतोत्साह हो गए और उन्हों ने अपने भौतिक शरीर को अग्नि में भस्मसात् कर दिया। राजा का स्वर्गवास हो गया। राज्य में चारों ओर कुहराम मच गया, सर्वत्र शोक और विलाप होने लगा। मरते समय राजा ने अपने छोटे पुत्र से क्षीण स्वर में कहा—'यह पृथ्वी तुम्हारी है, तुम इस के उत्तराधिकारी बनो'—ऐसा कहना तो केवल पुनरुक्ति ही होगी, क्योंकि तुम तो स्वयं चक्रवर्ती-पद के लक्षणों से युक्त हो। 'राज-कोष पर अपना अधिकार कर लो'—तुम से ऐसा कहना भी निरर्थक है; क्योकि चाँदनी की भाँति निर्मल यश का संचय करना ही तुम्हारी एक मात्र लालसा है। 'सकल राज-समूह को अपनाओ'—तुम से ऐसा कहना भी निरर्थक ही है; क्योंकि तुम ने अपने गुणों से जगत को अपना लिया है। 'राज्य के भार को संभालो'—तुम्हें ऐसा कहना भी अनुचित मालूम होता है; क्योंकि तुम तो तीनों लोक के भार को वहन करने में अभ्यस्त हो। 'अपने शत्रुओं का विध्वंस करो'—यह तो स्वयं तुम्हारे आंतरिक पराक्रम की प्रेरणा है[1]।

मरणासन्न महाराज प्रभाकरवर्द्धन के इन उपरोक्त शब्दों से यह ध्वनित होता है कि वह अपने बाद हर्ष को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। स्मिथ का कथन है कि राज-दरबार में एक ऐसा दल था जो छोटे राजकुमार को सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने के पक्ष में था[2]। किंतु इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हर्ष गद्दी के लिए लालायित नहीं थे और न उन्हों ने अपने दिल में कोई मंसूबा ही बांधा था। हमारा यह कथन इसी से प्रमाणित होता है कि राज्यवर्द्धन को युद्ध-क्षेत्र से बुलवाने के लिए उन्हों ने एक-एक करके अनेक दूत भेजे थे। यही नहीं, उन्हों ने ईश्वर से प्रार्थना भी की थी कि बड़े भाई राज्यवर्द्धन ही गद्दी के अधिकारी बनाए जांय और उन को यह भय था कि कदाचित्

---

[1] क्षितिरियं तवेति लक्षणाख्यातचक्रवर्तिपदस्य पुनरुक्तमिव। स्वीक्रियतां कोशः शशिकरनिकरनिर्मलयशःसंचयैकाभिनिवेशिनो निरुपयोगमिव। आत्मीक्रियतां राजकमिति गुणगणात्मीकृतं जगतो गतार्थमेव। उह्यतां राज्यभारः इति भुवनत्रयभारवहनोचितस्यानुचितनियोग एव। शत्रवो नेया इति सहजस्य तेजस एवेयं चिंता—'हर्षचरित', पृष्ठ २६३

[2] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३४६

पिता की मृत्यु को सुन कर वे संसार छोड़ न बैठें[1]।

हूणों पर विजय प्राप्त करके राज्यवर्द्धन राजधानी को वापस आया। संपूर्ण नगर राजा की मृत्यु से उदास और शोकग्रस्त था। पिता की मृत्यु पर युवराज को अधिक शोक हुआ कि उस ने राज-काज का दायित्व हर्ष पर छोड़कर संन्यास ग्रहण करने का संकल्प कर लिया। उस ने हर्ष से कहा कि मेरे मन-रूपी वस्त्र में जो स्नेह-रूपी मल संलग्न है उसे पर्वत-शिखर से बह कर आते हुए स्रोतों के स्वच्छ जल से धोने के लिए मैं संन्यास ग्रहण करना चाहता हूं। अतः मेरे हाथ से राजत्व का भार तुम अपने ऊपर लो[2]। राज्यवर्द्धन के इस संकल्प से हर्ष को बड़ा दुःख हुआ। उन्हों ने अपने अग्रज से कहा कि ऐसी आज्ञा देना ठीक वैसा ही है जैसा कि कोई "श्रोत्रिय को सुरापान करने, सद्भृत्य को स्वामी से द्रोह करने, सज्जन पुरुष को अधम के साथ व्यवहार रखने अथवा साध्वी को सतीत्व का त्याग करने के लिए कहे[3]।" किंतु राज्यवर्द्धन अपने संकल्प से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। संसार का त्याग कर संन्यास ग्रहण करने का उस का निश्चय दृढ़ था। पूर्व आदेश के अनुसार वस्त्र-रक्षक ने उस के लिए वल्कल वस्त्र लाकर प्रस्तुत किया। संन्यास लेने की सब तैयारी हो गई तब सहसा विपत्ति-सूचक घटनाओं की आशंका से राज्यवर्द्धन को संन्यास-दंड ग्रहण करने के बदले राजदंड सँभालने के लिए विवश होना पड़ा। उस ने अपने चित्त को संन्यास की ओर से हटाकर युद्ध-क्षेत्र की ओर प्रवृत्त किया।

राजकुमारी राज्यश्री का संवादक नामक एक प्रतिष्ठित नौकर राज्यवर्द्धन के पास एक भीषण आपत्ति का संवाद लेकर आया। उस ने कहा, "स्वामिन्! छिद्र देख कर आघात करना दानवों के सदृश दुष्ट लोगों की रीति है। जिस दिन राजा (प्रभाकरवर्द्धन) की मृत्यु का दुखद समाचार मिला उसी दिन मालवा के दुष्ट स्वामी ने महाराज ग्रहवर्मा का प्राणांत कर दिया। राजकुमारी राज्यश्री चोर की स्त्री की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई है, और उस के चरणों में बेड़ियां पहना दी गई हैं। इस के अतिरिक्त यह भी सुनने में आया है कि वह दुष्ट, यहां की सेना को नेता-रहित समझ कर इस देश पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है। इन्हीं समाचारों को लेकर मैं आया हूं। अब सब मामला आप के हाथों में है, जैसा उचित समझें आप करें[4]।"

---

[1]अपि नाम तातस्य मरणम् महाप्रलयसदृशमिदम् श्रुत्वा आर्यो वाष्पजलस्नातो न गृह्णीयाद्वल्कले नाश्रयेद्वा राजर्षिराश्रमपदं न विशेद्वा पुरुषसिंहो गिरिगुहाम्—'हर्षचरित', पृष्ठ २४०

[2]सोहमिच्छामि मनसि वाससीव संलग्नं स्नेहमलमिदं अमलैः शिखरिशिखर-प्रस्रवणैः स्वच्छस्रोतोम्बुभिः प्रक्षालयितुमाश्रमपदे—'हर्षचरित', पृष्ठ २४८

[3]श्रोत्रियमिव सुरापाने सद्भृत्यमिव स्वामिद्रोहे सज्जनमिव नीचोपसर्पणे सुकलत्र-मिव व्यभिचारे—'हर्षचरित्र', पृष्ठ २४९

[4]यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इति अभूत् वार्त्ता तस्मिन्नेव देव ग्रहवर्म्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मनः सुकृतेन सह त्याजितः भर्तृदारिकापि राज्यश्री कालायसनिगड-चुम्बितचरणा चौरांगनेव संयता कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता। किंवदंती च.........एता-मपि भुवमाजिगमिषतीति—'हर्षचरित', पृष्ठ २५१

मालवा से युद्ध

इस दुखद समाचार को सुन कर राज्यवर्द्धन क्रोध के मारे आगबबूला हो गया। शस्त्र-ग्रहण के पूर्व-संकल्प को त्याग कर वह बोल उठा कि "आज मैं मालवा राजवंश का नाश करने के लिए जाता हूं। इस अति उद्दंड शत्रु का दमन करना ही मेरे शोकापहरण का उपाय और मेरी तपस्या होगी। क्या मालव-राज के हाथों से मौखरियों का निरादर (परिभव) होगा? यह तो वैसे ही है जैसे कि अंधकार से सूर्य का तिरस्कार कराना अथवा हरिणों से सिंह का अयाल खिंचाना[1]। ऐसा कह कर शत्रु पर आक्रमण करने के लिए दस सहस्र अश्वारोहियों की सेना ले कर उन्हों ने प्रस्थान किया। उन के साथ उन का ममेरा भाई भांडी भी था। हर्ष को अपनी इच्छा के विरुद्ध राजधानी में ही रहना पड़ा। राजकुटुंब तथा प्रजा की देख-भाल करने के संबंध में राज्यवर्द्धन ने उन्हें कुछ शिक्षा दी और हाथियों सहित एक सशस्त्र सेना को उन के निरीक्षण में कर दिया।

यहां पर एक प्रश्न यह उठता है कि मौखरि राजा ग्रहवर्मा की हत्या करनेवाला मालव-नरेश कौन था? उस का क्या नाम था? बाण इस विषय में बिल्कुल मौन है। हर्ष के बंसखेरा तथा मधुबनवाले लेखों में देवगुप्त नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है। उन लेखों के अनुसार यह देवगुप्त उन समस्त राजाओं में सब से अधिक प्रसिद्ध था, 'जो दुष्ट अश्वों की भाँति थे और जिन्हें राज्यवर्द्धन ने अपने अधीन किया'। रायचौधुरी महोदय का कथन है[2] कि 'चूँकि हर्षचरित में गुप्तवंशीय राजाओं का संबंध बराबर मालवा से दिखाया गया है अतः इस बात में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि उक्त लेखों का देवगुप्त और मौखरि-नरेश ग्रहवर्मा की हत्या करनेवाला दुष्ट मालवाधिपति दोनों एक ही व्यक्ति थे।' डा० हर्नले के कथनानुसार[3] संभव हो सकता है कि देवगुप्त, कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त का बड़ा भाई रहा हो।

उस के और उस के दोनों छोटे भाइयों के बीच भ्रातृ-प्रेम अथवा मैत्री-संबंध का अभाव था। वे दोनों संभवतः उस के सौतेले भाई अर्थात् महासेनगुप्त की किसी दूसरी स्त्री के पुत्र थे। अफ़सड़ के लेख में, जिस में श्रीहर्ष के साथी माधवगुप्त का नाम मिलता है, देवगुप्त का नामोल्लेख नहीं उपलब्ध होता। किंतु इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रथम बात तो यह है कि देवगुप्त तथा माधवगुप्त में मैत्री-संबंध नहीं था। अतः संभव है कि लेख के उत्कीर्ण-कर्त्ता ने देवगुप्त का नाम छोड़ दिया हो। दूसरी बात यह है कि देवगुप्त एक प्रकार से बलपूर्वक गद्दी पर अधिकार करनेवाला समझा जाता था और इसी कारण वह वंश-तालिका में स्थान पाने योग्य नहीं समझा गया[4]। (यद्यपि इस बात को हमें अवश्य

---

[1] कुरंगकैः कचग्रहः केसरिणः.................तिमिरैस्तिरस्कारो रवेः यो मौखराणां मालवैः परिभवः—हर्षचरित, पृष्ठ २५२

[2] रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ४०६

[3] जर्नल आफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १९०३, पृष्ठ ५६२

[4] वैद्य, 'मिडिएवल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ २५

स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिद्वंद्वी भाई अथवा चचा का नामोल्लेख न करने का कोई रिवाज नहीं था[1]।) उक्त दोनों बातों के अतिरिक्त एक बात और भी है। जैसा कि डाक्टर चौधुरी कहते हैं, देवगुप्त का नाम अफ़सड़ के लेख में उसी प्रकार से ग़ायब है जिस प्रकार भिटारी के लेख की तालिका में स्कंदगुप्त का नाम[2]।

बाण के 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि मालवा के राजा (देवगुप्त) ने कर्णसुवर्ण के गौड़-राजा शशांक के साथ मैत्री-संबंध स्थापित किया था। ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत उसे एक महत्त्वाकांक्षी नरेश प्रमाणित करता है। उस की जीवन-लीला का वर्णन हम आगे चल कर एक अध्याय में करेंगे। उस की जीवन-गाथा के पढ़ने से हमें थोड़ा-बहुत शेरशाह का स्मरण हो आता है, जिस ने मुग़ल-सम्राट् हुमायूं को राज्य से बाहर खदेड़ दिया। यह बात प्रायः निश्चित है कि शशांक गुप्तवंश का था। उस ने गुप्त-साम्राज्य के लुप्त गौरव को एक बार पुनुरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया था। वह कूटनीति का बड़ा भारी पंडित था। वह इस विचार का पोषक था कि प्रेम तथा युद्ध में सब कुछ न्यायसंगत है। वह बड़ा चतुर था। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत उस ने विचार किया कि अब पुष्यभूति तथा मौखरि लोगों की शक्ति पर आघात कर ने का ठीक अवसर आ गया है। राज्यवर्द्धन, हर्ष तथा ग्रहवर्मा तीनों की अवस्था उस समय कम थी। मालवा के गुप्त लोगों तथा थानेश्वर के वर्द्धन लोगों के बीच अनबन थी ही। अतः कूटनीति की एक सुंदर चाल चल कर उस ने मालवा के देवगुप्त के साथ मैत्री-संबंध स्थापित किया और उत्तरी भारत के राजनगर कन्नौज पर दोनों ने संयुक्त आक्रमण किया। कन्नौज के पतन के पश्चात् शीघ्र ही थानेश्वर पर भी आक्रमण होता; किंतु उस की योजना जिसे उस ने बड़ी सावधानी और चतुरता के साथ तैयार की थी, अंत में विफल हो गई।

एक दिन जब महाराज हर्ष दरबार-आम में बैठे हुए थे, कुंतल नामक एक अश्वारोही अफ़सर ने आ कर उन्हें सूचना दी कि महाराज राज्यवर्द्धन ने बड़ी ही आसानी के साथ मालव-नरेश को पराजित किया; किंतु गौड़-राजा के झूठे सम्मान तथा शिष्टाचार के भुलावे में आ कर उस ने (राज्यवर्द्धन) उस पर विश्वास कर लिया और उस ने (गौड़-राजा) अपने भवन में उसे एकाकी, निरस्त्र पा कर मार डाला[3]।

बंसखेरा का ताम्र-लेख इस घटना का उल्लेख इस प्रकार से करता है—"देवगुप्त तथा अन्य राजाओं को—जो दुष्ट घोड़ों के सदृश थे और जो चाबुक के प्रहार से अपना मुँह फेर लेने के लिए बाध्य किए गए—एक साथ जीत कर, अपने शत्रुओं का मूलोच्छेदन करके, संसार पर विजय प्राप्त करके, प्रजा को संतुष्ट करके, (महाराज

---

[1]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया', पृष्ठ ३६४ की टिप्पणी

[2] वही,	पृ० ४०६

[3]तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विस्रब्धं स्वभवने व्यापादितमश्रौषीत्—'हर्षचरित', पृष्ठ २५५

राज्यवर्द्धन ने) सत्य के अनुरोध से शत्रु के भवन में अपना प्राण खो दिया"[1]। चीनी यात्री भी बाण तथा इस लेख के कथन का समर्थन करता है। वह लिखता है "परवर्ती राजा (अर्थात् राज्यवर्द्धन) सिंहासन पर बैठने के बाद तुरंत ही, पूर्व भारत में स्थित कर्ण-सुवर्ण के बौद्ध-धर्म-हंता दुष्ट राजा शशांक के द्वारा धोखा दे कर मारा गया[2]।

इस प्रकार यह बात ध्रुव-सत्य प्रमाणित होती है कि राज्यवर्द्धन की हत्या की गई थी। हत्या का उद्देश्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, पर इतना तो निश्चय ही है कि शशांक ने ऐसे संभ्रांत शत्रु के रक्त से अपने हाथों को कलंकित किया, जिसे उस ने मीठी बातों से धोखा दे कर बुलाया और पार्श्व-रक्षकों की अनुपस्थिति में मार डाला।

एक के बाद एक कर के लगातार अनेक विपत्तियों के आ पड़ने से राज्य में भय का संचार हो गया। इन विपत्तियों के फल-स्वरूप राज्य में अव्यवस्था तथा अराजकता अवश्य ही फैल गई होगी। सामंत लोग निश्चय ही स्वतंत्र हो गए रहे होंगे और प्रजा भी अशांत हो उठी होगी। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक था कि राज्य के प्रति प्रजा में फिर विश्वास उत्पन्न किया जाय, सिंहासन की प्रतिष्ठा की रक्षा की जाय और शांति तथा क़ानून की स्थापना की जाय। ये कार्य कठिन और महान् थे! इस के अतिरिक्त शत्रु को, जो अभी स्वच्छंद-रूप से विचरण करता था, दंड देने की आवश्यकता थी। इन सब कामों को करने के लिए राजा में असाधारण दृढ़ता, बुद्धिमानी और बल होना चाहिए था। हर्ष अभी १६ वर्ष की अवस्था के एक नव-युवक राजकुमार थे। ऐसी दशा में यह असंभव नहीं है कि उन के सिर पर राजमुकुट रखने के पूर्व दरबारियों के हृदय में संकल्प-विकल्प के भाव उत्पन्न हुए हों। किंतु नव-युवक होते हुए भी हर्ष अपने साहस तथा अन्य अनेक राजकीय गुणों का परिचय दे चुके थे और वे इस अवसर पर शासन के महान् दायित्व को वहन करने के सर्वथा उपयुक्त थे। मंत्रियों को इस बात के समझने में देरी नहीं लगी। भांडी के परामर्श से उन्हों ने हर्ष को सिंहासन पर बैठने के लिए बुलाया। चीनी यात्री का कथन है कि सिंहासनारोहण के पश्चात् तुरंत ही राज्यवर्द्धन पूर्वी भारत में स्थित कर्ण-सुवर्ण के बौद्ध-धर्म-संहारक दुष्ट राजा शशांक के द्वारा धोखा दे कर मारा गया। इस पर क़न्नौज के राजनीतिज्ञों ने अपने नेता बानि (भांडी) की सलाह से हत राजा के छोटे भाई हर्षवर्द्धन को राजा होने के लिए बुलाया। राजकुमार उन की प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हों ने बड़ी नम्रता के साथ टालमटोल किया! जब राज्य के मंत्रियों ने भाई का उत्तराधिकारी बनने तथा भ्रातृ-हंता से प्रतिशोध लेने के लिए

---

[1]राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः।
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयताः॥
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधान् कृत्वा जनानां प्रियं।
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः॥

—बंसखेरा का ताम्र-लेख, पंक्ति ६

[2]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ, ३४३

हर्षवर्द्धन से बहुत अनुरोध किया, तब राजकुमार ने अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की सम्मति लेने के लिए निश्चय किया। बोधिसत्व ने कृपापूर्वक उत्तर दिया। राजकुमार से उस ने कहा कि यह तुम्हारे सुकर्म का फल है कि तुम राज-पुत्र हुए हो। जो राज्य तुम्हें दिया जा रहा है, उसे स्वीकार कर लो और तब बौद्ध-धर्म को सर्वनाश के उस गड्ढे से, जिस में कर्ण-सुवर्ण के राजा ने उसे डाल दिया है, बाहर निकालो और फिर अपने लिए एक बड़ा राज्य स्थापित करो। बोधिसत्व ने गुप्त सहायता देने का वचन दिया और उन्हें सावधान किया कि न तो आप सिंहासन पर बैठो और न महाराजा की उपाधि धारण करो। इस के पश्चात् हर्षवर्द्धन कन्नौज के राजा बन गए। उन्हों ने राज-पुत्र की उपाधि ग्रहण की और अपना उपनाम शीलादित्य रक्खा[1]।

चीनी यात्री के उपरोक्त कथन से ज्ञात होता है कि हर्ष राजमुकुट धारण करने के लिए तैयार न थे। इस का क्या कारण था हम निश्चयात्मक रूप से नहीं बतला सकते। उन की इस अनिच्छा का कुछ प्रमाण हमें बाण के 'हर्षचरित' से भी मिलता है। उस में एक स्थान पर लिखा है कि राजलक्ष्मी ने उन का आलिंगन किया, उन को अपनी भुजाओं में गहा और उन के संपूर्ण अवयवों के राजचिन्हों को पकड़ कर उन को, अपनी इच्छा के विरुद्ध, बलपूर्वक सिंहासन पर बैठाया। यद्यपि वे तपस्या करने का संकल्प कर चुके थे और उस संकल्प से, जिस का पालन करना इतना कठिन था जितना कि तलवार की धार का पकड़ना—वे विचलित नहीं हुए[2]।

यदि हर्ष ने वास्तव में कोई अनिच्छा प्रकट की थी तो वह संभवतः थानेश्वर-राज्य के संबंध में नहीं थी। थानेश्वर के राज्य में राज्यवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत हर्ष ही एकमात्र उत्तराधिकारी थे। बाण के उपरोक्त कथन को हम कवित्व का उच्छ्वास कह कर अग्राह्य ठहरा सकते हैं[3]। उस का उद्देश्य अपने आश्रयदाता श्रीहर्ष के चरित्र को एक आदर्श रूप देना था। उन का चरित्र-चित्रण वह एक ऐसे महान् व्यक्ति के रूप में करना चाहता था, जो राज्य की श्री, सत्ता, अथवा प्रतिष्ठा आदि किसी भी वस्तु की परवाह न करता हो। इस के अतिरिक्त ज्ञात होता है कि राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन दोनों तापसिक जीवन में अग्रसर होने के लिए एक दूसरे से होड़ करते थे और बहुत संभव है कि आत्म-त्याग के आवेश में आकर हर्ष ने संसार का परित्याग कर देने की इच्छा घोषित कर दी हो। किंतु राज्यवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत, हर्ष को इच्छा न रहते हुए भी, राज-पद के दायित्व को अंगीकार करना पड़ा। उन के सिंहासनारोहण का तनिक भी विरोध नहीं

[1]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४२

[2]अनिच्छंतमपि बलादारोपयितुमिव सिंहासनं सर्वावयवेषु सर्वलक्षणैर्गृहीतं गृहीत-ब्रह्मचर्यमालिंगितं राजलक्ष्म्याः प्रतिपन्नासिधाराधारणव्रतमविसंवादिनं राजर्षिं...... (बाणः) हर्षमाद्राक्षीत्— हर्षचरित, पृष्ठ, १११

[3]निहाररंजन राय—'हर्ष शीलादित्य—ए रिवाइज़्ड स्टडी,' इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १६२७, पृष्ठ ७७२

हुआ। इस के विपरीत, यही उचित समझा गया कि राज्यवर्द्धन के बाद हर्ष ही राजकाज को संभालें। सेनापति सिंहनाद ने जो साथ ही उन के पिता का एक मित्र भी था, हर्ष को संबोधित कर के कहा—"कायरोचित शोक का परित्याग कर, राजकीय गौरव को जो आप का पैतृक अधिकार है—उसी प्रकार से अपने अधिकार में कर लीजिए जिस प्रकार सिंह मृग-शावक को कर लेता है। अब चूँकि राजा (प्रभाकरवर्द्धन) का स्वर्गवास हो गया है और राज्यवर्द्धन ने दुष्ट गौड़राज-रूपी सर्प के द्वेष से अपना प्राण छोड़ दिया है, अतः इस घोर विपत्ति में, पृथ्वी के भार को धारण करने के लिए आप ही एकमात्र शेषनाग हो[1]।"

एक बात यह भी विचारणीय है कि बाण ने कहीं भी भांडी का नाम लेकर यह नहीं लिखा है कि उस ने हर्ष को राजगद्दी स्वीकार करने के लिए बुलाया था। इस के विपरीत चीनी यात्री हमें बतलाता है कि वह बानी या भांडी ही था जिस के परामर्श से कन्नौज के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने हर्षवर्द्धन से गद्दी पर बैठने के लिए प्रार्थना की। वास्तविक बात यह है कि ह्वेनसांग का कथन थानेश्वर-राज्य से कुछ भी संबंध नहीं रखता। सिंहासनारोहण के संबंध में हर्ष का संकल्प-विकल्प थानेश्वर की राजगद्दी के संबंध में नहीं था। कन्नौज के सिंहासन के लिए ही उन्हों ने अपने दरबारियों के सामने हिचकिचाहट प्रकट की थी और यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि कन्नौज की गद्दी पर बैठने के पूर्व वे कुछ आगा-पीछा करते। उत्तराधिकार के क़ानून के अनुसार ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् राज्यश्री को ही कन्नौज-साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी बनने का अधिकार था। हर्ष को अपनी स्वाभाविक धार्मिक मनोवृत्ति तथा बहिन के प्रति नैसर्गिक स्नेह के कारण यह उचित नहीं प्रतीत हुआ कि वे अपने को कन्नौज का राजा घोषित करें। किंतु राज्यश्री स्वयं शासन की चिंताओं से पराङ्मुख तथा उस के प्रलोभनों की ओर से उदासीन थी। इस के अतिरिक्त बाण के कथनानुसार उस ने भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रकट की थी और हर्ष की विनय-प्रार्थना से उस ने अपने इस विचार को छोड़ा था। इतना सब कुछ होते हुए भी हर्ष ने कन्नौज के सिंहासन पर बैठने के लिए संकल्प-विकल्प किया। उन का यह संकल्प-विकल्प इतना सच्चा था कि उन्हों ने इस प्रश्न को अवलोकितेश्वर बोधिसत्व के सामने उपस्थित किया और जब देववाणी हुई तभी उन्हों ने कन्नौज की राजगद्दी को स्वीकार किया। फिर भी उन्हों ने अपने को कन्नौज का महाराजा नहीं घोषित किया। चीनी ग्रंथ 'फैंग-चिह' हमें बतलाता है कि हर्ष अपनी विधवा बहिन के साथ मिल कर शासन करते थे। वे राजप्रतिनिधि थे और राज्यश्री के नाम से ही कन्नौज पर शासन करते थे।

यहां पर यह लिख देना उचित मालूम होता है कि थानेश्वर की गद्दी पर बैठने के कुछ समय पश्चात् ही हर्ष कन्नौज के सिंहासन पर आरूढ़ हुए होंगे। कन्नौज उस समय शत्रु के अधिकार में था। अतः हर्ष अपने शत्रु की खोज करने के लिए चले। लगातार कई

[1]देव देवभूयंगते नरेंद्रे दुष्टगौड़भुजंगजग्धजीविते च राज्यवर्द्धने वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः— 'हर्षचरित', पृष्ठ २६२

दिनों तक चलने के पश्चात् एक दिन रास्ते में संपूर्ण मालव-सेना समेत आते हुए भांडी से उन की भेंट हुई। भांडी से उन्हें यह समाचार मिला कि राज्यश्री कन्नौज के कारागार से निकल कर विंध्य-वन की ओर भाग गई है। इस समाचार को सुनते ही हर्ष ने भांडी को शत्रु की ओर बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बहिन की खोज करने के लिए चल पड़े। जब राज्यश्री मिल गई, तब उसे साथ लेकर वे गंगा-तट पर स्थित शिविर को (जो संभवतः कन्नौज के पास था) लौट आए। भांडी भी संभवतः उसी समय वहां पहुँच गया था। मालूम होता है कि अपने विरुद्ध अधिक शक्तिशाली सेना को आते हुए देख कर शशांक कन्नौज छोड़ कर अपने देश को लौट पड़ा था। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि भांडी की प्रार्थना पर ही कन्नौज के राजनीतिज्ञों ने हर्ष से मुकुट धारण करने की प्रार्थना की थी।

हर्ष ६०६ ई० में गद्दी पर बैठे थे। उन के नाम पर जो संवत् पड़ा उस का प्रथम वर्ष ६०६-७ ई० था। किलहार्न की गणनानुसार[१] हर्ष-संवत् हर्ष के सिंहासनारोहण के समय अर्थात् अक्तूबर ६०६ ई० में प्रारंभ हुआ था। हर्ष के शासन-काल के प्रथम ६ वर्षों में निरंतर युद्ध होते रहे। इसी लिए कदाचित् चीनी इतिहास हमें उन के सिंहासनारोहण का समय ६१२ ई० बतलाता है। वास्तव में ६१२ ई० में तो उन्हों ने अपनी स्थिति दृढ़ बना ली थी, और बिल्कुल निर्भय हो गए थे। ६४३ ई० में जब चीनी यात्री हर्ष के दरबार में था, हर्ष को शासन करते हुए ३० वर्ष से अधिक व्यतीत हो गए थे[२]। ६४३ ई० के वसंत में जो पंचवार्षिक सभा हुई थी वह उन के शासन-काल की छठी सभा थी। इस प्रकार हर्ष के सिंहासनारोहण का काल ६१२-६१३ ई० होता है। यदि ६ वर्ष का वह काल जो उत्तर के राज्यों को जीतने में व्यतीत हुआ था इस गणना में सम्मिलित कर दिया जाय तो हर्ष के सिंहासन पर बैठने का समय ६०६ ई० ठहरता है। 'जीवनी' में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर हर्ष का सिंहासनारोहण काल ६१९ ई० में ठहरता है, किंतु हमारे पास जो प्रमाण उपस्थित हैं उन में से कोई भी इस समय का समर्थन नहीं करता। सिंहासन पर बैठने के बाद हर्ष ने कन्नौज को अपनी राजधानी बना लिया। कन्नौज मौखरि-सम्राटों की राजधानी था और थानेश्वर की अपेक्षा उस की स्थिति अधिक केंद्रीय थी।

परिशिष्ट १

उस मालव-राज के विषय में जिस ने कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा पर आक्रमण किया और फिर युद्ध-क्षेत्र में उस का वध किया, बड़ा वाद-विवाद खड़ा हो गया है। डा० हर्नले ने १९०३ ई० में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में अपना एक निजी सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उस सिद्धांत को डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'हर्ष' में

---

[१] 'इंडियन एंटिक्वेरी', जिल्द २६, पृष्ठ ३२

[२] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४७ तथा 'जीवनी' पृष्ठ १८३

ग्रहण किया है। उन के कथनानुसार, कन्नौज पर आक्रमण करनेवाला राजा, मिहिरकुल का विजेता यशोधर्मन विक्रमादित्य का पुत्र शीलादित्य था। यशोधर्मन उज्जैन को अपनी राजधानी बना कर ५३३ ई० से ले कर ५८३ ई० तक राज किया। उस के पश्चात् उस का पुत्र शीलादित्य गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। इस का प्रमाण उन्हें कल्हण के 'राज-तरंगिणी' नामक ग्रंथ में मिलता है। कल्हण का कथन है कि विक्रमादित्य के पुत्र शीलादित्य को उस के शत्रुओं ने राज्य के बाहर खदेड़ दिया था; किंतु काश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने उसे फिर उज्जैन की गद्दी पर बैठाया था।

ह्वेनसांग शीलादित्य का उल्लेख करता है। उस के कथनानुसार शीलादित्य उस के (यात्री के) समय (६४० ई०) से लगभग ६० वर्ष पूर्व—५८० ई० के लगभग मो-ला-पो अर्थात् मालवा पर शासन करता था। डा० हर्नले ने विक्रमादित्य के पुत्र शीलादित्य तथा मो-ला-पो के शीलादित्य को एक ठहराया है। विक्रमादित्य को कल्हण ने 'एकछत्र चक्रवर्त्ती' कहा है। अतः हर्नले के अनुसार वह यशोधर्मन के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। मंडसोर के स्तंभ-लेख के अनुसार यशोधर्मन ने गुप्त-राजाओं के साम्राज्य से भी बड़ा साम्राज्य अपने आधिपत्य में कर लिया था।

मालवा के शीलादित्य को पराजित करनेवाले शत्रु, कन्नौज के मौखरि, थानेश्वर के वर्द्धन तथा पूर्वी मालवा के गुप्त राजा थे। गुप्त-राजाओं का यह वंश प्राचीन गुप्त सम्राटों के वंश की एक शाखा थी। मालवा-साम्राज्य पर शीलादित्य के अधिकार का विरोध करनेवाले थानेश्वर के प्रभाकरवर्द्धन तथा उस के समकालीन मौखरि एवं गुप्त राजा थे। ये राजा वैवाहिक संबंध द्वारा एकता के सूत्र में आबद्ध थे। वे सब शीलादित्य को उस सम्राट् का पुत्र समझते थे जिस ने प्राचीन गुप्तवंश को अधिकारच्युत करके बल-पूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित किया था। लगभग १० वर्ष (५८३-५९३ ई०) तक जारी रहनेवाले एक दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात् प्रभाकरवर्द्धन शीलादित्य को पदच्युत करने में सफल हुआ। शीलादित्य ने विवश हो कर काश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वितीय की शरण ली। प्रवरसेन हूणों के राजा तोरमाण का पुत्र था[1]। उस का संबंध देश-शत्रु मिहिरकुल[2] के कुल से था। इस प्रकार शीलादित्य आस-पास के उन राजाओं द्वारा देश-द्रोही ठहराया गया जो स्वयं सम्राट् की पदवी धारण करने का दावा करते थे। प्रभाकरवर्द्धन ने शीलादित्य के निंदनीय कार्य से अपने राज-वंश का अपमान समझा; क्योंकि उस की स्त्री रानी यशोमती यशोधर्मन-विक्रमादित्य की पुत्री थी। अतः एक ऐसे राजा से जो देश-द्रोही बन कर हूणों से जा मिला था अपने कुल की प्रतिष्ठा तथा देश के सम्मान की रक्षा के लिए वह अपने मित्र राजाओं की सहायता से अपने साले पर टूट पड़ा और उसे पूर्णतः पराजित कर दिया। यही नहीं, बाण के कथनानुसार शीलादित्य ने विवश किए जाने पर अपने पुत्र भांडी को, राजकुमार राज्यवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन के सेवार्थ अर्पित किया। भांडी नाम जिसे

---

[1] कल्हण 'राजतरंगिणी', अध्याय ३, श्लोक, १०८-९

[2] वही, ४७-४८

ह्वेनसांग ने पो-नी लिखा है हूणजातीय नाम का संस्कृत तथा चीनी रूपमात्र है। किंतु ६०४ ई० के लगभग शीलादित्य ने अपनी गद्दी फिर प्राप्त कर ली। उस ने अपने हूण-मित्रों तथा पूर्वी मालवा के राजा धर्मगुप्त की सहायता से अपने पुराने शत्रुओं—कन्नौज और थानेश्वर के राजाओं—से बदला लेने की कोशिश की।

यशोधर्मन का पुत्र तथा मालवा का सम्राट् शीलादित्य वास्तव में डा० हर्नले की कल्पना के विशुद्ध आविष्कार हैं। उस के सिद्धांत को अंत में इतिहास के विद्वानों ने अस्वीकृत और अग्राह्य कर दिया है। निस्संदेह नवीन ऐतिहासिक खोजों की सहायता से उस का खंडन करने के लिए अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। डा० रायचौधुरी का कथन है कि मंडसोर के यशोधर्मन के साथ विक्रमादित्य की उपाधि जोड़ना और उसे उज्जैन के राजा, मो-ला-पो के शीलादित्य का पिता तथा प्रभाकरवर्द्धन का ससुर बताना बिल्कुल निराधार है[1]। सिल्वन लेवी ने यह प्रमाणित किया था कि मो-ला-पो का शीलादित्य, वलभी-वंश का बौद्धधर्मावलंबी राजा शीलादित्य धर्मादित्य प्रथम था, जिस ने लगभग ५६५ ई० से ६१५ ई० तक शासन किया। उज्जैन से उस का कुछ संबंध नहीं था। डा० हर्नले का यह कथन कि प्रभाकरवर्द्धन यशोधर्मन का दामाद था, केवल इस आधार पर अवलंबित था कि प्रभाकरवर्द्धन की स्त्री यशोमती तथा यशोधर्मन दोनों के नाम का प्रथम भाग 'यशो' एक ही है। उस कथन का इस से अधिक सबल और कोई आधार न था। इस के अतिरिक्त मौखरि, वर्द्धन तथा पूर्वी मालवा के गुप्त-राजाओं के राजनीतिक संबंध के विषय में भी हर्नले का विचार ग़लत था। हम बतला चुके हैं कि प्रभाकरवर्द्धन के समय में मौखरि और गुप्त-वंश के लोग एक दूसरे के मित्र नहीं, वरन् कट्टर शत्रु थे। पुष्यभूति ने अपने कुल के कट्टर शत्रु, कन्नौज के मौखरियों के साथ जो मैत्री-संबंध स्थापित किया उस से मालवा का देवगुप्त उस के विरुद्ध हो गया। अंतिम आपत्ति यह है कि डा० हर्नले के सिद्धांत को ठीक मान लेने से इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर देना असंभव होजाता है कि मालव का देवगुप्त, अपने मित्र वर्द्धन तथा मौखरि-राजाओं के विरुद्ध क्यों लड़ा[2]।

काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के डा० गंगोली ने अभी हाल ही में एक अन्य अनोखे सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उन का कथन है कि जो महासेनगुप्त को बुरी तरह से पराजित करने के पश्चात् मालवा का शासक बन बैठा था, वह कलचुरि-वंश का राजा शंकरगण था। महासेनगुप्त ने अपने पुत्रों के साथ थानेश्वर के राज-दरबार की शरण ली। कन्नौज पर आक्रमण करनेवाला मालव-राज यही कलचुरि-वंश का शासक था, दूसरा कोई नहीं।

---

[1]रायचौधुरी, 'पोलीटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशंट इंडिया,' पृष्ठ ४०२, टिप्पणी २

[2]'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार शीलादित्य धर्मादित्य उज्जैन से लेकर पश्चिम देश के समुद्रतट-पर्यंत भू-भाग का राजा था। उस की राजधानी वलभी में थी, जैसा कि जायसवाल महोदय का कथन है। इस वर्णन से हर्नले के सिद्धांत के लिए कोई अवकाश रह नहीं जाता। वह सिद्धांत पूर्णतया खंडित हो जाता है—जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ २९

डा० गंगोली का सिद्धांत यद्यपि चतुरतापूर्ण प्रतीत होता है; किंतु उसे तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता जब तक अन्य प्रमाणों से उस का समर्थन न किया जाय। वे इस बात को नहीं सोचते कि मालवा विभिन्न भागों में विभक्त था। अभोना पत्र पर जिन कलचुरियों का उल्लेख है वे केवल अवंती पर शासन करते थे। उत्तरकाल के गुप्त राजा पूर्वी मालवा (भिलसा के इर्दगिर्द के प्रदेश) पर राज करते रहे। तारानाथ प्रयाग में एक मालवा का उल्लेख करते हैं[1] और संभवतः वह भी उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के अधिकार में था।

---

१ शीफ़नर, जिस को स्मिथ ने उद्धृत किया है। देखिए 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३५०

तृतीय अध्याय

हर्ष की विजय

इस में तनिक भी संदेह नहीं कि हर्ष एक दिग्विजयी वीर थे। काश्मीर, पंजाब तथा कामरूप को छोड़ कर उन की विजयी सेना उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रांतों में पहुँची थी। सिंहासन पर बैठने के उपरांत, अपने शत्रु का दमन करने के लिए महाराज हर्ष को शस्त्र धारण करना पड़ा। एक तो उन्हें अपने भ्रातृहंता गौड़राजा शशांक से प्रतिशोध लेना था, और दूसरे राज्य के विभिन्न भागों में सामंत राजाओं की विचलित होती हुई राजभक्ति को स्थिर तथा दृढ़ करना था। इन परिस्थितियों का ही परिणाम था कि हर्ष ने अपनी विजय-यात्रा प्रारंभ की। भारतीय अर्थशास्त्र द्वारा अनुमोदित मार्ग का अनुसरण कर उन्हों ने उत्तरी भारत के समस्त प्रांतों पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की। इस प्रयत्न में उन्हें कितनी सफलता प्राप्त हुई इस की विवेचना हम इस अध्याय में करेंगे।

महाराज हर्ष की विजय का पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए हमें बाण के 'हर्षचरित', ह्वेनसांग के भ्रमण-वृत्तांत, ह्वेनसांग की 'जीवनी' तथा अनेक लेखों से सहायता प्राप्त हो सकती है।

सर्व-प्रथम हम इस बात पर विचार करेंगे कि हर्ष की विजय के संबंध में बाण हमें क्या बतलाता है। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के कई दिनों के पश्चात् अश्वारोही सेना के नायक कुंतल ने आकर हर्ष को यह समाचार सुनाया कि मालव-सेना को बड़ी सुगमता के साथ पराजित करने के बाद महाराज राजवर्द्धन गौड़-राजा द्वारा धोखा देकर मार डाले गए। इस समाचार को सुनकर हर्ष बहुत दुखी और क्रुद्ध हुए। सेनापति सिंहनाद ने उन की इस प्रज्वलित क्रोधाग्नि में घृताहुति प्रदान की। उन्हों ने अधम गौड़-राज को ध्वस्त करने के लिए ही नहीं अपितु अन्य राजाओं के विरुद्ध भी शस्त्र धारण करने के लिए युवक राजकुमार

को उत्तेजित किया ताकि फिर भविष्य में कोई उस प्रकार का आचरण न करे[1]। वास्तव में हर्ष को इस प्रकार की उत्तेजना की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्हों ने तत्काल स्वामि-पद-रज की शपथ लेकर यह गंभीर प्रतिज्ञा की कि यदि कुछ गिने हुए दिनों के अंदर ही पृथ्वी को गौड़ों से रहित न कर दूँगा और उन समस्त राजाओं के—जो अपने धनुषों की चपलता के कारण उत्तेजित हुए—चरणों की बेड़ियों की झंकार से उसे प्रतिध्वनित न कर दूँगा तो मैं पतंग की भाँति, जलती हुई अग्नि में अपने को झोंक दूँगा[2]। उन्हों ने इस आशय की एक घोषणा निकाली कि "उदयाचल तक......सुवेल तक... . अस्तगिरि तक......गंध-मादन तक......सभी राजाओं को कर देने अथवा शस्त्र-ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए[3]!"

हर्ष अभी कुमार और अनुभव-शून्य ही थे। राज्य-परिचालन के लिए जिस कूट-नीति की आवश्यकता होती है उस से वे अनभिज्ञ थे। इस के विपरीत, उन का शत्रु गौड़ाधिप शशांक पक्का कूटनीतिज्ञ था। ऐसी अवस्था में गजारोही सेना के सेनापति स्कंद-गुप्त ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि हर्ष को कुछ उपदेश दें। प्राचीन हिंदू राजनीति के अनुसार पुराने, अनुभवी तथा वयोवृद्ध कर्मचारियों को अपने राजा को उपदेश देने का अधिकार प्राप्त होता था। हर्ष की गजसेना के सेनापति—गजसाधनाधिकृत—स्कंदगुप्त ने कतिपय ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं से कई ऐसे राजाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जिन्हें अपनी असावधानी के कारण प्राण त्यागना पड़ा था। इस के पश्चात् स्कंदगुप्त ने उन का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया कि गाँव-गाँव, नगर-नगर, प्रांत-प्रांत तथा द्वीप-द्वीप के आचार-स्वभाव भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। उस ने ज़ोरदार शब्दों में उपदेश किया कि अपने देश के आचार के अनुकूल सब पर सरल हृदय से विश्वास कर लेने का जो स्वभाव है उसे छोड़ दो[4]।

इस के कुछ ही दिन बाद ज्योतिषियों ने एक शुभ दिन और शुभ मुहूर्त नियत किया। सरस्वती नदी के तट पर स्थित एक विशाल तृण-निर्मित मंदिर से, एक दिन सूर्योदय के समय हर्ष की सेना ने प्रस्थान किया। बाण ने यात्रा का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही रोचक है। सेना के मुख्य तीन अंग थे—अश्वारोही सेना, गजारोही सेना और पदातिक

[1] किं गौडाधिपाधमेनैकेन तथा कुरु यथा नान्योऽपि कश्चिदाचरत्यैवं भूयः। 'हर्षचरित', पृष्ठ २६१

[2] श्रूयतां च मे प्रतिज्ञा शपाम्यार्यस्यैव पादपांसुस्पर्शेन यदि परिगणितैरेव वासरैः सकलचापचापलदुर्ललितनरपतिचरणरणायमाननिगडां निर्गौडांगां न करोमि ततस्तनूनपाति पीतसर्पिषि पतंग इव पातकी पातयाम्यात्मानम्। 'हर्षचरित', पृष्ठ २६३

[3] आ........उदयाचलाद् आ........सुवेलाद्........आ अस्तगिरेः........आ गंधमादनाद् सर्वेषां राज्ञां सज्जीक्रियंतां कराः करदानाय शस्त्रग्रहणाय वा। 'हर्षचरित', पृष्ठ २६४

[4] प्रतिग्रामं प्रतिनगरं प्रतिविषयं प्रतिदेशं प्रतिद्वीपं च भिन्ना वेशाश्चाकाराश्च व्यवहाराश्च जनपदानां, तदियमात्मदेशाचारोचिता स्वभावसरलहृदयजा त्यजतां सर्वविश्वसिता। 'हर्षचरित', पृष्ठ २६८

सेना। बाण ने रथों का उल्लेख नहीं किया है। सेना सभी आवश्यक सामानों से पूर्ण तथा सुसज्जित थी। बाण के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है मानो सुख तथा विलास की समस्त वस्तुओं से सुसज्जित कोई नगर ही चल रहा हो। साथ में राजा तथा बड़े-बड़े सामंतों का भंडारा भी था। भंडारे में उनकी रुचि के अनुकूल प्रत्येक प्रकार का भोजन तैयार किया जाता था। कुलपुत्रों और सामंतों के कुटुंब भी सेना के साथ-साथ चलते थे। ज्ञात होता है कि मार्ग में चलते समय सेना शांत और सुसंयमित नहीं रहती थी। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में कृषक लोग युद्ध के मैदान के समीप ही अपने खेतों को निर्विघ्न जोतते थे। किंतु हर्ष के समय में अवस्था बदल गई थी। ज़मीदार लोग प्रार्थना करते थे कि हमारे अन्न के खेत लूटे अथवा नष्ट न किए जायं, उन की रक्षा की जाय। सेना गाँवों को ध्वस्त कर देती थी। मार्ग में किसानों के जो झोपड़े पड़ते थे वे प्रायः नष्ट कर दिए जाते थे। इन सब कारणों से लोग राजा की निंदा करते और कभी-कभी उसे कोसते भी थे। सेना में बड़ी गड़बड़ी मची रहती थी। साथ में शिविर के असंख्य अनुचरों और विलास की सामग्रियों के रहने के कारण सेना की गति में भी रुकावट पैदा होती थी[१]।

हर्ष की सेना प्रतिदिन आठ कोस जाती थी। जब प्रथम दिन की यात्रा समाप्त हुई तब हर्ष ने हंसवेग नामक दूत से भेंट की। वह प्राग्ज्योतिष के राजा भास्करवर्मा के दरबार से आया था। भास्करवर्मा महाराज हर्ष के साथ मैत्री-संबंध स्थापित करना चाहता था और इसी उद्देश्य से असंख्य उपहारों के साथ उस ने हंसवेग को हर्ष के पास भेजा था। हर्ष ने मित्रता के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और दूत को बहुसंख्यक उपहारों के साथ बिदा किया। श्रीयुत बसाक का कथन है कि "यह मैत्री-संबंध दोनों के पारस्परिक हित के लिए था", क्योंकि वे दोनों गौड़ाधिप शशांक के पड़ोसी शत्रु थे[२]। स्वर्गीय विद्वान श्री राखालदास बनर्जी का भी यही मत था कि जब हर्ष अपनी सेना के साथ यात्रा कर रहे थे तब भास्करवर्मा ने उन का साथ दिया; क्योंकि वह स्वयं शशांक का

---

[१]इस युद्ध-यात्रा के वर्णन के लिए देखिए 'हर्षचरित', सप्तम उच्छ्वास, पृष्ठ २७४-२८७ बाण-द्वारा प्रयुक्त अनेक सामरिक शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आता, किंतु मुख्य विषय तो स्पष्ट ही है। अन्न के खेतों के नष्ट किए जाने के प्रमाण में बाण का निम्न-लिखित पद उद्धृत किया जा सकता है:— "लूयमाननिष्पन्नसस्यप्रकटितविषादैः क्षेत्रशुचा सकुटुंबकैरेव निर्गतैः प्ररूढप्राणच्छेदैः परितापत्याजितभयैः क्व राजा कुतो राजा कीदृशो वा राजा इति प्रारब्धनरनाथनिंदं। 'हर्षचरित' पृष्ठ, २८६

इस का अर्थ यह है :—और लोग अपने पके हुए अनाज के खेतों की लूट-पाट से निराश हो कर और मारे परिताप के भय छोड़ कर तथा प्राणों को ख़तरे में डाल कर अपने खेतों की अवस्था पर शोक प्रकट करने के लिए सकुटुम्ब बाहर निकल आए और अपने राजा की निंदा करने लगे। वैद्य महोदय ने स्वरचित इतिहास में बाण के वर्णन का कुछ अंश उद्धृत किया है—देखिए 'मिडिएवल इंडिया' जिल्द १, पृष्ठ १४३, १४४

[२]बसाक, 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १२१

शत्रु था[1]। एक दिन मार्ग में सेनापति भांडी से भेंट हुई। भांडी राज्यवर्द्धन के वध के पश्चात्, मालवराज की संपूर्ण सेना के साथ वापस लौट रहा था। उस ने राज्यवर्द्धन की मृत्यु की सविस्तार कथा हर्ष से कह सुनाई और कहा कि मैं ने सुना है कि कान्यकुब्ज पर गुप्त नामक किसी राजा ने अधिकार कर लिया है और राज्यश्री कारागार से निकल कर विंध्यवन की ओर भाग गई है[2]। इस समाचार को सुन कर हर्ष को तत्काल अपना निश्चय बदलना पड़ा। उन्हों ने भांडी को गौड़ राजा पर चढ़ाई करने के लिए भेजा और स्वयं बहिन की खोज में जाने का निश्चय किया। मालवराज की सेना का निरीक्षण कर के वे अपनी बहिन को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े। कुछ ही दिनों के बाद वे विंध्य वन जा पहुँचे। राज्यश्री मिल गई और उसे अपने साथ ले कर वे गंगा के समीप स्थित अपने शिविर में लौट आए।

शशांक पर किए जानेवाले आक्रमण का क्या परिणाम हुआ? इस संबंध में 'हर्ष-चरित' हमें कुछ भी नहीं बतलाता है। हां यत्र-तत्र कतिपय स्थलों पर कुछ ध्वनि निकलती है, उस की विवेचना हम आगे चल कर 'हर्ष के सम-सामयिक नरेश' शीर्षक अध्याय के अंतर्गत विस्तार के साथ करेंगे और उसी स्थल पर इस प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि गौड़-राजा पर किए जानेवाले आक्रमण का क्या परिणाम हुआ। यहां पर संक्षेप में इतना लिख देना अलम् होगा कि शशांक संभवतः बिना किसी प्रकार की क्षति उठाए ही कन्नौज छोड़ कर अपने देश को भाग गया था। कारण कि हम उसे उड़ीसा के शैलोद्भव-वंश के महासामंत माधववर्मा के गंजाम वाले लेख (६१९ ई०) में सम्राट के पद पर शासन करते हुए पाते हैं[3]।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उस के अतिरिक्त हमें 'हर्ष-चरित' के एक अन्य प्रसिद्ध पद के ऊपर विचार करना है। उस पद में, बाण के सब से छोटे भाई श्यामल, महाराज हर्ष के संबंध में सुनी हुई अलौकिक बातों का वर्णन करते हैं। उस पद में कुल ६ वाक्य हैं और प्रत्येक में श्लेष है। उन में से प्रत्येक वाक्य हर्ष की किसी विजय-विशेष की ओर संकेत करता है। वे वाक्य इस प्रकार हैं[4]— (१) अत्र बलजिता निश्चलीकृताश्चलंतः कृतपक्षः क्षितिभृतः। (२) अत्र प्रजापतिनाशेषभोगिमंडलस्योपरि क्षमा कृता। (३) अत्र पुरुषोत्तमेन सिंधुराजम् प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीया कृता। (४) अत्र बलिना मोचितभूभृद्वेष्टनों मुक्तो महानागः। (५) अत्र देवेनाभिषिक्तः कुमारः। (६) अत्र स्वामिनैकप्रहार प्रपातितारातिना ख्यापिता शक्तिः। (७) अत्र नरसिंहेन स्वहस्तविशसितारिणा प्रकटीकृतो

---

[1]बसाक, 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया' पृष्ठ १२१

[2]देव देवभूयं गते देवे राज्यवर्द्धने गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशस्थले देवी राज्यश्रीः परिभ्रश्य बंधनाद्विंध्याटवीं सपरिवारा प्रविष्ट इति लोकतः वार्त्तामश्रृणवम्, 'हर्षचरित', पृष्ठ २०२-३

[3]'एपिग्राफ़िआ इंडिका'; जिल्द ६, पृष्ठ १४४

[4]'हर्ष-चरित', पृष्ठ १३९

विक्रमः। (८) अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीतो करः। (९) अत्र लोकनायेन दिशां मुखेषु परिकल्पिता लोकपालाः सकलभुवनकोषश्चाग्रजन्मनां विभक्तः।

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, ऊपर के ये सभी वाक्य द्व्यर्थक हैं। एक अर्थ हर्ष के पराक्रम से संबंध रखता है और दूसरा किसी पौराणिक घटना से। हर्ष के पराक्रम के संबंध में इन वाक्यों का अर्थ इस प्रकार होगा :—

(१) शत्रु सेनाओं के विजेता (हर्ष) ने अनेक राजाओं को—उन के मित्रों अथवा सहायकों को छिन्न-भिन्न कर के—उन के राज्यों में अचल बना दिया।

(२) उस प्रजापति ने सब राजाओं और सरदारों को क्षमा कर दिया (और उन्हें शासन करने की अनुमति प्रदान की)।

(३) पुरुषों में श्रेष्ठ उन्हों ने (हर्ष ने) सिंधु के राजा को पराजित कर के उस की धन-संपत्ति को अपने अधिकार में कर लिया।

(४) उस बली ने उस के (गज के) वेष्टन (सूँड़ की लपेट) से राजा (कुमार) को मुक्त कर के गजराज को बन में छोड़ दिया[1]।

(५) प्रभु ने कुमार (एक राजा) को अभिषिक्त किया।

(६) स्वामी ने एक ही प्रहार में शत्रु को गिरा कर अपनी शक्ति का परिचय दिया।

(७) उन्हों ने (अर्थात् हर्ष ने) जो पुरुषों में सिंह की भाँति थे अपने ही हाथों से शत्रुओं को काट कर अपने पराक्रम को प्रकट किया।

(८) उस 'परमेश्वर' ने हिमाच्छादित दुर्गम पर्वतीय प्रदेश से कर ग्रहण किया।

(९) सब लोगों के रक्षक (हर्ष) ने दिशाओं के 'मुख' (अर्थात् सीमा स्थान) में लोकपाल नियुक्त किया।

हर्ष के सुदूर-विस्तृत आधिपत्य के समर्थकों ने इस पद का बहुत अधिक आश्रय लिया है। किंतु वास्तव में उपरोक्त वाक्य आलंकारिक उद्गारमात्र हैं; उन के सहारे हम किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। प्रथम वाक्य से हमें केवल यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने अनेक राजाओं को—उन के मित्रों और सहायकों के साथ उन का संबंध-विच्छेद कर—उन के राज्य में अचल बना दिया। अर्थशास्त्र में राजा के लिए निर्धारित नीतियों में एक नीति इस आशय की भी है कि राजा को अपने शत्रु राजा तथा उस के मित्रों और सहायकों के पारस्परिक संबंध को विच्छेद करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः इस वाक्य से हमें यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि बाण को अर्थशास्त्र का ज्ञान था, किंतु उस से हर्ष की विजय के विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

दूसरा वाक्य कहता है कि हर्ष ने जिन्हें पराजित किया, उन्हें क्षमा प्रदान किया। यह प्राचीन भारतीय राजाओं के साधारणतया प्रचलित व्यवहार के सर्वथा अनुकूल ही था।

---

[1]टीकाकार शंकर लिखते हैं कि दर्पशात नामक हर्ष के मतवाले गज ने कुमारगुप्त नामक राजा को अपनी सूँड़ में लपेट लिया। इस पर हर्ष ने अपना खड्ग खींच कर राजा को मुक्त किया और क्रोध में आ कर उस हस्ती को बन में छोड़ दिया। 'हर्षचरित', पृष्ठ १३९

प्राचीन समय में विजेता विजित राजाओं को प्रायः क्षमा कर देते थे और उन के राज्य आदि को लौटा देते थे। महाकवि कालिदास ने भी एक स्थल पर लिखा है कि धर्म-विजयी राजा (रघु) ने (अपनी विजय से) इंद्र की श्री को तो हर लिया किंतु पृथ्वी को नहीं[1]। हरिषेण के इलाहाबाद वाले लेख से प्रमाणित होता है कि महाराज समुद्रगुप्त ने भी ऐसा ही किया था। तीसरा वाक्य बतलाता है कि महाराज हर्ष ने सिंधु देश के राजा को पराजित किया। किंतु इस का उल्लेख हमें और कहीं भी नहीं मिलता है। यह घटना संभवतः सत्य है। सिंधु के राजा को संभवतः दंडरूप में एक भारी रकम देने के लिए विवश किया गया था, किंतु धन दे कर सिंधुराज ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा अवश्य की होगी। चौथा वाक्य उस जन-श्रुति की ओर संकेत करता है जिस के अनुसार हर्ष ने अपने साथी कुमारगुप्त को दर्पशात नामक पगले हाथी से बचाया था। हर्ष की विजय से इस का कुछ भी संबंध नहीं है। हां, यह उन की वीरता का एक उल्लेखनीय उदाहरण हो सकता है। पाचवें वाक्य से कुमार के राज्याभिषेक का पता चलता है। श्री चि० वि० वैद्य तथा अन्य इतिहास-वेत्ता 'कुमार' शब्द से कामरूप के राजा का अभिप्राय समझते हैं[2]। किंतु मूलग्रंथ कदाचित् हमें ऐसा अर्थ ग्रहण करने की अनुमति नहीं देता है। टीकाकार शंकरानंद 'कुमार' से हर्ष के पुत्र का अर्थ लगाता है[3]। वह जन-श्रुतिओं का एक अच्छा लेखक माना जाता है। अतः इस विषय में भी उस के उल्लेख को हम ठीक मान सकते हैं। छठें और सातवें वाक्यों से भी हर्ष की विजय का कुछ प्रमाण नहीं मिलता, केवल उन की वीरता ही प्रकट होती है।

आठवें वाक्य में उल्लिखित हिमाच्छादित पार्वत्य-प्रदेश से काश्मीर अथवा नेपाल का अर्थ लगाया गया है;[4] किंतु उस का कोई विश्वसनीय कारण अथवा प्रमाण नहीं दिया गया है। हो सकता है कि हिमाच्छादित शैल-प्रदेश, आधुनिक गढ़वाल में स्थित कोई दुर्दमनीय राज्य रहा हो। हमें ज्ञात है कि दिल्ली के सुलतानों ने अनेक बार पर्वतीय राज्यों के सरदारों को जीतने की चेष्टा की थी। उसी प्रकार से संभव है कि महाराज हर्ष ने भी किसी पर्वतीय राज्य के विद्रोही सामंत राजा को दमन किया हो। नवें वाक्य से भी हमें हर्ष की विजय के विषय में कुछ नहीं ज्ञात होता।

वैद्य महोदय कहते हैं, "इन (उपर्युक्त) पदों से हमें केवल यही नहीं ज्ञात होता कि हर्ष ने भारत के समस्त राज्यों को जीत लिया था; बल्कि साथ ही यह भी विदित होता

---

[1]गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेंद्रनाथस्य जहार नतु मेदिनीम्॥ रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ४३

[2]वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ४३-४४

वैद्य महोदय कहते हैं—"जिस राजा का उस ने अभिषेक किया वह निश्चय ही आसाम का कुमारराज रहा होगा। कदाचित् प्रथम तथा इच्छाकृत मित्र होने के नाते उसे उन्हों ने अपने हाथ से मुकुट पहिना कर अधिक गौरवान्वित कर दिया।"

[3]कुमारो गुहो पुत्रश्च।—'हर्षचरित', पृष्ठ १३६

[4]वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया' जिल्द १, पृष्ठ ४३

है कि उन्हों ने विजित राजाओं को अपने आधिपत्य में शासन करने की अनुमति दे रक्खी थी[1]। इस कथन में स्पष्टतः अतिशयोक्ति है। पहली बात तो यह है कि हम बाण के कथन को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण कर सकते। संस्कृत के कवियों और लेखकों में अत्युक्ति बहुत अधिक पाई जाती है। किसी विषय में अतिरंजित रूप में वर्णन करना उन के लिए एक साधारण बात थी। इस के अतिरिक्त वैद्य महोदय ने उस पद का जो अर्थ लगाया है वह अर्थ उस से किसी प्रकार नहीं निकल सकता, तो भी इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि हर्ष अपनी विजयी सेना को पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं में ले गए थे। वे 'विजिगीषु' अर्थात् विजय के इच्छुक थे। उन्हों ने उत्तरी-भारत के अनेक राजाओं के साथ युद्ध किया और बाद को उन की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। उन की सुदूर-विस्तृत विजय पर संदेह करने की आवश्यकता नहीं है, किंतु कतिपय विद्वानों का यह कथन कि उन्हों ने संपूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीन कर लिया, वैज्ञानिक विवेचना की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतर सकता। इस कथन को हम स्वीकार नहीं कर सकते। महाराज हर्ष की यह आंतरिक इच्छा थी कि मैं संपूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीन कर लूं। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने का उन्हों ने प्रयत्न भी किया; यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। किंतु यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है कि इस कार्य में उन्हें कितनी सफलता प्राप्त हुई। बाण ने 'हर्ष-चरित' में, अनेक स्थलों पर हर्ष की प्रस्तावित विजय का उल्लेख किया है। जैसा कि आगे चल कर बताया जायगा, ह्वेनसांग ने भी हर्ष की दिग्विजय का उल्लेख किया है। 'रत्नावली' नाटक में भी—जिस के रचयिता स्वयं हर्ष माने जाते हैं—दिग्विजय का आभास मिलता है। कौशांबी के राजा वत्स ने संपूर्ण संसार का सम्राट बनने के लिए ही रत्नावली का पाणिग्रहण किया था, क्योंकि एक ऋषि का कथन था कि जो कोई उस का पाणिपीड़न करेगा वह सारे संसार का सम्राट हो जायगा। अब यदि 'रत्नावली' नाटक की कथा को हम हर्ष की आत्म-कथा मान लें तो यह कहने में कोई हानि नहीं है कि हर्ष ने दिग्विजय करने का संकल्प किया था। किंतु उपरोक्त वाक्यों से यह प्रमाणित नहीं होता है कि उस संकल्प को पूरा करने में वे सफल हुए थे।

बाण से अब हम ह्वेनसांग की ओर आते हैं। ह्वेनसांग लिखता है "जैसे ही शीलादित्य राजा बने वैसे ही वे एक विशाल सेना ले कर अपने भ्रातृहंता से प्रतिशोध लेने के लिए रवाना हुए। उन की इच्छा हुई कि पास-पड़ोस के राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लें। वे पूर्व की ओर बढ़े और उन देशों पर चढ़ाई की जिन्हों ने उन की प्रभुता मानने से इन्कार किया था। लगातार ६ वर्षों तक वे युद्ध करते रहे। उन्हों ने पंचभारत के साथ युद्ध किया[2] (इस पद का एक पाठांतर मिलता है। उस के अनुसार हर्ष ने पंचगौड़ को

---

[1]वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', पृष्ठ ४३

[2]पंचभारत ये थे— (१) सारस्वत (पंजाब) (२) कान्यकुब्ज, (३) गौड़, (४) मिथिला तथा (५) उत्कल (उड़ीसा)। पंचभारत को पंचगौड़ भी कहा गया है।

अपने अधीन कर लिया) उन्हों ने अपने राज्य का विस्तार कर अपनी सेना बढ़ा ली। उन के पास ६० हज़ार गजारोही तथा एक लाख अश्वारोही सैनिक हो गए। इस के पश्चात् वे ३० वर्ष तक शांतिपूर्वक शासन करते रहे। इस बीच में उन्हें फिर अस्त्र उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी[1]। एक अन्य स्थल पर, पुलकेशी द्वितीय के संबंध में लिखते हुए चीनी यात्री कहता है, "इस समय राजा शीलादित्य महान् पूर्व तथा पश्चिम में आक्रमण कर रहे थे, पास-पड़ोस के राज्य उन की अधीनता स्वीकार कर रहे थे। किंतु मो-हो-ल-च-अ ने उन की प्रभुता मानने से इन्कार कर दिया[2]। ह्वेनसांग की जीवनी में भी हर्ष की दिग्विजय के संबंध में निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है:—"उन्हों ने (हर्षवर्द्धन) शीघ्र ही अपने भाई की हत्या का बदला लिया और अपने को भारत का अधिपति बनाया। उन की ख्याति बाहर सर्वत्र फैल गई, प्रजा के सब लोग उन के गुणों का आदर करते थे। जब साम्राज्य में शांति स्थापित हुई तो वे लोग भी शांतिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। हर्ष ने आक्रमण और युद्ध करना बंद कर दिया। भाले और तलवारें शस्त्रागार में जमा होने लगीं। वे धार्मिक कृत्यों की ओर प्रवृत्त हुए। प्रति पाचवें वर्ष वे एक महामोक्ष परिषद् करते थे और अपना कोष दानरूप में वितरित करते थे"[3]। 'जीवनी' में एक अन्य स्थल पर कोंगद देश पर हर्ष के आक्रमण का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि ह्वेनसांग का विवरण बाण के वर्णन से अधिक विश्वसनीय है तथापि उस के कथन को हमें बड़ी सावधानी के साथ ग्रहण करना होगा। ह्वेनसांग भी कदाचित् अपने को अत्युक्ति करने की प्रवृत्ति से बचा नहीं सका। उस का कारण संभवतः यह हो सकता है कि हर्ष ने उसे भी आश्रय प्रदान किया था। डा० मजूमदार कहते हैं कि साधारणरूप से विचार करने पर इस बात का कोई बड़ा कारण नहीं दिखाई पड़ता कि ह्वेनसांग के कथनों को हम अक्षरशः सत्य मानें अथवा बाण के प्रसिद्ध पद से अधिक विश्वसनीय समझें[4]। इस के अतिरिक्त इस दावे की निरर्थकता विश्वसनीय रूप से सिद्ध की जा सकती है कि महाराज हर्षवर्द्धन ने पंचगौड़ को अपने अधीन कर लिया था, क्योंकि यह बात सर्वसम्मति से स्वीकार की जाती है कि विंध्य के दक्षिण में स्थित समग्र भारत और कामरूप, काश्मीर, पंजाब, सिंध तथा राजपूताना कभी भी हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं थे। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के अनुसार महाराज हर्ष एक महान् विजयी नरेश थे।

अब हम लिपि तथा साहित्य-संबंधी साधनों की सहायता से हर्ष की विजय का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। सिंहासनारोहण के समय हर्ष की स्थिति निस्संदेह कठिनाइयों से परिपूर्ण थी। सब से अधिक भय गौड़ राजा शशांक से था; यद्यपि मालव-सेना बड़ी

[1] 'वाटर्स', जिल्द १, पृष्ठ ३४३

[2] 'वाटर्स', जिल्द २, पृष्ठ २३९

[3] 'जीवनी', पृष्ठ ८३

[4] देखिए, 'जर्नल आफ़ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', (१९२३) में प्रकाशित मजूमदार का लेख।

ही आसानी के साथ पराजित की गई थी; किंतु मौखरियों की राजधानी कान्यकुब्ज अभी शत्रु के अधिकार में ही थी। बाण हमें केवल यह बतलाता है कि हर्ष ने भांडी को उस पर आक्रमण करने के लिए भेजा था। ह्वेनसांग से भी हमें यही ज्ञात होता है कि हर्ष ने पहले पूर्व में आक्रमण किया, किंतु हर्ष ने शशांक के साथ कोई युद्ध किया अथवा नहीं, इस का निश्चय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इस प्रश्न की विवेचना हम आगे चल कर एक दूसरे अध्याय में करेंगे। इस स्थान पर हम केवल संक्षेप में विभिन्न प्रकार के ऐसे प्रमाणों पर विचार करेंगे जिन से हम संभवतः किसी प्रकार का परिणाम निकाल सकते हैं —

(१) दक्षिण मगध में, रोहतासगढ़ नामक स्थान पर शशांक के नाम का पत्थर का बना हुआ जो मुहर का साँचा पाया जाता है, उस में शशांक को 'महासामंत' लिखा है। मुहर पर कोई तिथि नहीं पड़ी है।

(२) गंजाम के ताम्रलेख में—जो ६१९-२० ई० का बताया जाता है—शशांक को महाराजाधिराज और सामंतों पर प्रभुता रखनेवाला कहा गया है[१]।

(३) ह्वेनसांग उसे कर्णसुवर्ण का राजा बतलाता है।

(४) राज्यवर्द्धन की हत्या के समय बाण उसे गौड़ाधिपति कहता है।

इन बातों से हम यह परिणाम निकालते हैं। पत्थर की मुहर हर्ष के सिंहासनारोहण के समय के पूर्व की है जब कि शशांक संभवतः मौखरियों का महासामंत था। बाद को वह स्वतंत्र बन गया। उस ने मगध को पददलित किया, बौद्धों पर अत्याचार किया, उन के मंदिरों तथा अन्य पवित्र वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट किया। इस के उपरांत वह गौड़ देश को भाग गया और वहां पर एक स्वतंत्र राजा बन बैठा। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत कन्नौज और थानेश्वर के अन्य शत्रु राजाओं के गुटों को पराजित करने के लिए उस ने पूर्वी मालवा के गुप्त-राजा के साथ मेल कर लिया। कुछ समय तक के लिए तो उस की योजना सफल सिद्ध हुई। किंतु ज्ञात होता है कि कन्नौज पर क़ब्ज़ा कर लेने के बाद वह हर्ष के साथ मुठभेड़ करने के लिए रुका नहीं; बल्कि सीधे अपनी राजधानी को लौट गया। यह भी संभव है कि हर्ष और शशांक में युद्ध हुआ हो और शशांक बिना कुछ क्षति उठाए ही अपने राज्य को बच कर निकल गया हो। ६१९-२० ई० में हम उसे एक स्वतंत्र राजा के रूप में शासन करते हुए पाते हैं। उस की मृत्यु निश्चय ही इस तिथि तथा ६३७ ई० के बीच में हुई होगी। डा० बसाक का कथन है कि संभवतः शशांक के साथ एक दूसरा युद्ध भी हुआ था। शशांक की मृत्यु के पश्चात् उस के उत्तराधिकारी से संभवतः सब प्रदेश छीन लिए गए होंगे और कर्णसुवर्ण भास्कर वर्मा को दे दिया गया होगा[२]।

हर्ष के सामने एकमात्र शशांक का ही प्रश्न नहीं था। पूर्वीय युद्धों के समाप्त होने पर

---

[१]चतुरुदधिसलिलवीचिमेखलानिलीनायां सद्वीपनगरपत्तनवत्यां वसुंधरायां गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराजश्रीशशांकराजे शासति। 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ १४४

[२]बसाक, 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १४३

चुके हैं कि उस की मित्रता उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सम्राटों के लिए बहुत मूल्यवान थी और उस की शत्रुता दोनों के लिए विपत्तिजनक थी। ऐहोड़े वाले लेख से ज्ञात होता है कि नर्मदा की उत्तरी सीमा पर स्थित राज्य, चालुक्य राजा के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्भूत थे। विपक्षी वलभी राजा महाराज हर्ष के बाम पार्श्व में एक भयदायक शत्रु था। अतः किसी न किसी प्रकार— युद्ध में पराजित कर अथवा अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव कर— हर्ष को उसे अपने पक्ष में करना था। अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव संभवतः वलभी-नरेश से किया गया था; किंतु वह प्रस्ताव विफल हुआ, उस से कुछ परिणाम नहीं निकला। तब हर्ष ने विवश हो कर दूसरे उपाय का अवलंबन किया। यह उपाय कार्यकर सिद्ध हुआ। वलभी का राजा पराजित हुआ और भाग कर उस ने दद्द के यहां शरण ली। गुर्जर-नरेश एक छोटा-सा राजा था, फिर वलभी के शक्तिशाली राजा को शरण देने में वह कैसे समर्थ हुआ, यह प्रश्न भी विचारणीय है। बात यह है कि चालुक्य सम्राट् अवसर पड़ने पर गुर्जर-नरेश को सहायता प्रदान करने को तैयार था। अनुभव ने हर्ष को एक कूटनीतिज्ञ बना दिया था। वलभी-नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर के उन्हों ने अपने एक शक्तिशाली शत्रु को एक सहायक मित्र बना लिया। वलभी के युद्ध के कारणों के संबंध में श्री निहाररंजन राय ने जो कुछ लिखा है उसे हम यहां उद्धृत करते हैं—"हर्ष संभवतः एक ऐसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित थे जिस का प्रभाव उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सम्राटों पर पड़ता था। यह नर्मदा सीमाप्रांत का प्रश्न था। यह प्रश्न बहुत पहले ही गुप्त सम्राटों के समय में उठा था। उन्हों ने विजय अथवा वैवाहिक-संबंध के द्वारा उसे हल करने की चेष्टा की वही प्रश्न हर्ष के सम्मुख उपस्थित हुआ..... [१]"।

वलभी-नरेश के साथ कब युद्ध हुआ? ऐसा मालूम होता है कि इस युद्ध का समय ६३३ ई० के लगभग रहा होगा। डा० स्मिथ का कथन है कि "वलभी-नरेश के साथ होने वाला युद्ध जिस के परिणाम-स्वरूप ध्रुवसेन द्वितीय पूर्णतः पराजित हुआ और संभवतः चालुक्य सम्राट की सबल सहायता पर निर्भर रहने वाले भड़ोंच राजा के राज्य में भाग गया—अनुमानतः ६३३ ई० के उपरांत और पश्चिमी भारत में ह्वेनसांग के जाने के पूर्व (६४१-४२ ई०) घटित हुआ था"[२]। डा० मजूमदार भी इसी मत का समर्थन करते हैं। दद्द का शासन-काल ६२९ से ६४० ई० तक था। ध्रुवसेन ६३० ई० के अनंतर गद्दी पर बैठा।

पुलकेशी द्वितीय के साथ युद्ध

पश्चिमी भारत में हर्ष ने जो कुछ काम किया, यह युद्ध उस का स्वाभाविक परिणाम था। हर्ष को अपने राज्य की सीमा के बिल्कुल निकट देख कर पुलकेशी के मन में भय की आशंका हुई। इस के अतिरिक्त मालवा के संबंध में पुलकेशी ने जो मंसूबे

---

[१] 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', जिल्द ३, पृष्ठ ७७७

[२] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३५४

बाँध रक्खे थे वे मन के मन ही में रह गए। महाराज हर्ष को अपनी कूटनीति में स्पष्टतः सफलता प्राप्त हुई। अब पुलकेशी के राज्य की सीमाएं संकटापन्न थीं। फलतः सशस्त्र संघर्ष अनिवार्य हो गया। हर्ष और पुलकेशी की सेनाओं में संभवतः नर्मदा नदी के निकट किसी स्थान पर युद्ध हुआ था। हर्ष को इस बार एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी मिल गया था। वह पराजित हुआ। उस की पराजय अवश्य ही बड़ी गहरी और भारी हुई होगी। वास्तव में इस पराजय की स्मृति चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंश की क्रमागत कई पीढ़ियों तक बनी रही। यही नहीं, उस पराजय की स्मृति बहुसंख्यक लेखों में अभी तक सुरक्षित है। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, ह्वेनसांग ने भी उस पराजय का उल्लेख किया है।

महाराज हर्ष और पुलकेशी के बीच युद्ध किस समय हुआ था, यह विषय विवाद-ग्रस्त है। डा० फ़्लीट का कथन है[1] कि यह युद्ध सन् ६१२ ई० के पूर्व हुआ था। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्हों ने दो तर्क उपस्थित किए हैं—पहला तर्क यह है कि चालुक्य-वंश के दानपत्र एक स्वर से कहते हैं कि हर्ष को पराजित कर पुलकेशी द्वितीय ने अपना उपनाम 'परमेश्वर' प्राप्त किया था। पुलकेशी का हैदराबादवाला दान-पत्र भी जो शक-संवत् ५३५ (६१३ ई०) का है, इस बात का उल्लेख करता है कि सैकड़ों युद्धों में भाग लेने वाले शत्रु-राजा को पराजित कर पुलकेशी ने अपना दूसरा नाम 'परमेश्वर' प्राप्त किया[2]। अतः इस लेख के अनुसार यह निश्चय है कि हर्ष की पराजय ६१३ ई० के पूर्व ही हुई होगी। दूसरा तर्क यह है कि ह्वेनसांग एक स्थल पर लिखता है कि हर्ष ने अपनी विजयों को ६ वर्ष (६०६-६१२ ई०) में समाप्त कर लिया और उस के उपरांत शांतिपूर्वक शासन किया।

इस में तनिक भी संदेह नहीं कि प्रथम तर्क स्पष्टतः बड़ा सबल है। जैसा कि उत्तरकालीन चालुक्य राजाओं के लेख बतलाते हैं, यह बात सत्य है कि हर्ष को पराजित कर के पुलकेशी ने अपना दूसरा नाम उपलब्ध किया था। इस अवस्था में हम निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महाराज हर्ष, हैदराबादवाले दान-पत्र के समय के पूर्व ही पराजित हुए थे। इस तथ्य को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। किंतु इस को मान लेने से हमारे मार्ग में एक कठिनाई आ उपस्थित होती है। प्रश्न यह उठता है कि आख़िर हैदराबादवाला लेख, अपने परवर्ती लेखों की भाँति, हर्ष की पराजय का—जो कि कुछ ही पूर्व की घटना थी, स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं करता। इस लेख के 'परनृपति' पद से श्रीहर्ष का अभिप्राय लिया गया है, किंतु वास्तव में यह पद अस्पष्ट है। समासपद का एक अंग होने के नाते उस से अनेक राजाओं का बोध हो सकता है—'जिन्हों ने सैकड़ों युद्धों में भाग लिया था'। वस्तुतः हम निश्चयात्मकरूप से नहीं कह सकते कि यह पद केवल हर्ष

---

[1]देखिए, फ़्लीट का 'कनाडी राजवंश', पृष्ठ ३५१

[2]श्रीसत्याश्रय पृथ्वीवल्लभ महाराज समरशतसंघट्टसंसक्तपरनृपतिपराजयोपलब्ध-परमेश्वरापरनामधेयः।

की ओर ही संकेत करता है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि उस से हर्ष ही का अभिप्राय है तो उक्त दान-पत्र के उत्कीर्ण-कर्त्ता के मौनावलंबन का कारण समझ में नहीं आता। उपरोक्त तर्क के अनुसार, हैदराबाद के दान-पत्र से, हर्ष-पुलकेशी युद्ध के संबंध में हम एक भिन्न परिणाम पर पहुँच सकते हैं। जब तक सारे विवाद का अंत कर देनेवाला कोई वास्तविक और विश्वसनीय तथ्य न ज्ञात होगा तबतक हमारा यह मतभेद बना रहेगा। ह्वेनसांग के कथनों की अवहेलना बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। उन पर ऐतिहासिक तथ्य के रूप में विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में हर्ष ने निश्चय रूप से ६१२ ई० के बाद वलभी-नरेश के साथ युद्ध किया था और ६१२ ई० के बहुत बाद कोंगद देश पर आक्रमण किया था।

इन परिस्थितियों में ऐहोड़े के दान-पत्र को पुलकेशी की विजय का आदिम उल्लेख मानना चाहिए। इस संबंध में डा० जूवो डुब्रे यिल का कथन विचित्र मालूम होता है। वे कहते हैं—"यह बात उल्लेखनीय है कि ऐहोड़े का लेख जिस पर ६३४ ई० का समय दिया हुआ है राजा हर्षवर्द्धन का कुछ भी उल्लेख नहीं करता[1]। उस के बाद के लेखों और ग्रंथों में हर्ष पर पुलकेशी की विजय का उल्लेख मिलता है। यह संभव है कि हर्ष ने ध्रुवसेन द्वितीय को ६३४ ई० के लगभग परास्त किया हो। हर्ष अपनी विजय का बहुत अधिक विस्तार करना चाहते थे, किंतु पुलकेशी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। यह घटना संभवतः ६३७ अथवा ६३८ ई० की है।" डा० डुब्रे यिल ने जो कुछ लिखा है उस के होते हुए भी हमें यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि ऐहोड़े का दान-पत्र हर्ष की पराजय का उल्लेख इन शब्दों में करता है, "युद्ध में सबल हाथियों की सेना के मारे जाने के कारण, ईर्ष्यालु हर्ष का—जिन के चरण-कमल उन की अपार शक्ति के द्वारा पालित (सुरक्षित) राजाओं के (मुकुट में जड़े हुए) रत्नों की किरणों से आच्छादित हो गए—आनंद उस के भय से द्रवित हो गया[2]।"

ऐहोड़े का दान-पत्र हर्ष की पराजय को पुलकेशी का अंतिम कार्य बतलाता है। यह मान लिया जा सकता है, यद्यपि निश्चयात्मक रूप से कहना असंभव है कि ऐहोड़े का दान-पत्र, इलाहाबाद वाले लेख की भाँति, पुलकेशी की विजयों का वर्णन कालक्रम के अनुसार करता है। अतः पुलकेशी के सिंहासनारोहण के बहुत समय के पश्चात् हर्ष के साथ उस का युद्ध हुआ। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि हर्ष-पुलकेशी युद्ध, वलभी पर किए गए आक्रमण का परिणाम है तब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हर्ष-पुलकेशी-युद्ध ६३० ई० के पूर्व नहीं हुआ था, क्योंकि वलभी-नरेश को शरण देनेवाले दद्द का शासन-काल ६२९ से ६४० ई० के बीच पड़ता है। इस बात को बड़े-बड़े विद्वान स्वीकार करते हैं कि हर्ष-पुलकेशी युद्ध, वलभी-नरेश पर किए गए आक्रमण का परिणाम था।

---

[1] 'एंश्यंट हिस्ट्री आफ दि डेक्कन', पृष्ठ ११२; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २, पृष्ठ ३८४

[2] 'एपिग्राफ़िआ इंडिया', जिल्द ६, पृष्ठ १०, भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।

डा० मुकर्जी का कथन है[1] कि "संभवतः हर्ष के आक्रमण के कारण ही युद्ध छिड़ा था। वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय को परास्त करने के उपरांत हर्ष अपनी विजय को और आगे बढ़ाने तथा पुलकेशी द्वितीय के साथ—जिस के राज्य पर वे अपनी अभी तक अबाध गति से अग्रसर होनेवाली विजय के सिलसिले में आक्रमण करते—युद्ध करने के लिए प्रलोभित हुए।" डा० मजूमदार लिखते हैं, अतः, यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि मालवा के राजा को दंड देने के प्रयत्न में, हर्ष को गुजरात प्रायद्वीप में तथा उस के इर्द-गिर्द शत्रुओं के एक गुट्ट का सामना करना पड़ा। हर्ष को पहले कुछ सफलता प्राप्त हुई क्योंकि जैसा ऊपर बतलाया गया है उस से हार कर वलभी के राजा को भड़ोंच के गुर्जर राजा के यहां शरण लेनी पड़ी थी। किंतु उस संघ को शीघ्र ही चालुक्य राजा महान् पुलकेशी द्वितीय का सहयोग प्राप्त हुआ और हर्ष की पूर्ण पराजय हुई[2]।

प्रोफ़ेसर अल्टेकर कहते हैं, "मालूम होता है कि हर्ष और पुलकेशी के युद्ध का कारण, मालवा और गुजरात में उन की साम्राज्य-संबंधी योजनाओं का संघर्ष था। वलभी पर आक्रमण करने के पूर्व हर्ष ने मालवा के शासक को अपनी प्रभुता स्वीकार कराने के लिए अवश्य ही विवश किया होगा। ज्ञात होता है कि इस से पुलकेशी क्रुद्ध हो गया और हर्ष के विरुद्ध वलभी-नरेश को शरण देने में गुर्जर राजा की सहायता कर (हर्ष से) बदला भी लिया।" आगे चल कर प्रोफ़ेसर अल्टेकर कहते हैं कि हर्ष के साथ युद्ध करने के लिए ६१२ ई० के पूर्व पुलकेशी शायद ही तैयार रहा हो। फ़्लीट के मतानुसार ऐहोड़े के लेख का २५ वां श्लोक हर्ष के राज्याभिषेक का वर्णन करता है। उसी लेख के १७ से २४ तक के श्लोक उन के युद्ध और विजय का वर्णन करते हैं। इस से सूचित होता है कि राज्याभिषेक विजय के बाद हुआ। फ़्लीट लिखते हैं "पुलकेशी द्वितीय का राज्याभिषेक किस तिथि को हुआ, इस का ठीक-ठीक निश्चय अभी तक नहीं हो सका है। उस का अभिषेक भाद्रपद शुक्ल १ प्रतिपदा, शक संवत् ५३२—जो ६०६ ई० में पड़ता है—से लेकर पूर्णिमांत भाद्रपद कृष्ण १५, शक संवत् ५३३—जो ६१० ई० में पड़ता है—के बीच हुआ था। ऐसी अवस्था में संभवतः यह कह देना निरापद होगा कि राज्याभिषेक सन् ६०६ ई० के उत्तर भाग में हुआ था।" अतः हर्ष की पराजय का समय ६०६ ई० के पूर्व मानना होगा। किंतु हर्ष तथा पुलकेशी दोनों के लिए यह संभव नहीं था कि वे इतने पहले—सिंहासनारोहण के दो-तीन वर्ष के अंदर ही—युद्ध में संलग्न होते। सिंहासन पर बैठने के समय हर्ष के सामने घोर कठिनाइयां उपस्थित थीं। शशांक भी स्वच्छंदरूप से विचरण करता था। ऐसी अवस्था में दक्षिण में प्रवेश कर पुलकेशी के साथ युद्ध करने का विचार हर्ष कैसे कर सकते थे? पुलकेशी भी आरंभ में कठिन परिस्थितियों से घिरा था, फिर भला वह इतनी तत्परता के साथ युद्ध कैसे कर सकता था? अंत में चल कर इतिहास के उक्त आचार्य महोदय ने हमारा ध्यान एक ऐसे दान-पत्र की ओर आकृष्ट किया है जो अभी हाल में मिला है। उस

---

[1]मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ ३३

[2]मजूमदार, 'जर्नल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९२३, पृष्ठ ३१४-६

के आधार पर यह प्रायः निश्चय हो जाता है कि साम्राज्य-शक्ति की आकांक्षा रखनेवाले दोनों राजाओं में ६३० और ६३४ ई० के बीच युद्ध हुआ था। पुलकेशी का लोहनरा वाला दानपत्र जो ६३० ई० का है, उस के पराक्रम और विजय का उल्लेख करता है; किंतु वह हर्ष की पराजय के विषय में बिल्कुल मौन है[1]।

अभी हाल में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है कि महाराज हर्ष ने दक्षिण में प्रवेश किया था और नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित देश के अधिकांश भाग को अधिकृत कर लिया था। अब हम इस नवीन सिद्धांत की विवेचना करेंगे। इस सिद्धांत के प्रतिपादक श्रीकंठ शास्त्री हैं जिन्हों ने १९२६ ई० में विद्वानों के ध्यान को एक श्लोक-विशेष की ओर आकर्षित किया है जो मयूर का अनुमान किया जाता है। कहा जाता है कि इस श्लोक में हर्ष को कुंतल तथा विंध्य के दक्षिण ओर स्थित अन्य देशों का स्वामी कह कर उन का गुणानुवाद किया गया है। १९२३ ई० में मैसूर के पुरातत्त्वान्वेषण के संचालक श्रीयुत शामा शास्त्री ने राज्य के शिमोगा ज़िले के अंतर्गत गदेमन्ने नामक स्थान पर एक लेख के उपलब्ध होने का समाचार प्रकाशित किया। उन्हों ने लिखा कि "यह (लेख) शीलादित्य के पेड्डणि सत्यांक नामक सेनापति की मृत्यु की स्मृति-रक्षा के लिए एक 'वीरगल' अथवा स्मारक-शिला है। उक्त सेनापति, महेंद्र की सेना में सम्मिलित शिकारियों की एक जाति से युद्ध करते समय मारा गया था। उस लेख में कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिस से यह निश्चय किया जा सके कि उस में उल्लिखित शीलादित्य महेंद्र कौन थे? लिपि-प्रमाण के आधार पर मैं समझता हूँ कि इस लेख के शीलादित्य हर्ष शीलादित्य थे और महेंद्र पल्लववंशीय राजा महेंद्रवर्मा प्रथम था जो पश्चिमी चालुक्यों के राजा पुलकेशी द्वितीय का समकालीन था। यह असंभव नहीं है कि महाराज हर्ष का शासन शिमोगा तक विस्तृत रहा हो। किंतु शीलादित्य को शिल-आ-दित्य क्यों लिखा गया, यह समझ में नहीं आता[2]। पंडित श्रीकंठ शास्त्री का कथन है[3] कि गदेमन्ने वाले लेख से मयूर के श्लोक द्वारा प्रस्तुत प्रमाण का समर्थन होता है। कुछ परवर्ती विद्वानों ने सम्यक् रूप से आलोचना किए बिना ही उन के कथन को स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार एक भ्रमपूर्ण सिद्धांत का किंचित् व्यापक प्रचलन हो गया है।

अब हम उस श्लोक-द्वारा प्रस्तुत प्रमाण की परीक्षा करेंगे जो मयूर का बतलाया जाता है। वह श्लोक कहां से लिया गया है? क्या यह निश्चयात्मक-रूप से ठीक है कि यह श्लोक मयूर का है? यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि वह मयूर ही का है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि मयूर कौन था? अनुमान किया गया है कि मयूर महाराज हर्ष का एक दरबारी कवि और महाकवि बाण का ससुर था। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तब यह परिणाम निकालना युक्तिसंगत होगा कि वह श्लोक हर्ष का गौरव-गान

---

[1] अल्टेकर, 'एनल्स आफ़ दि-भंडारकर रिसर्च इन्सटीट्यूट'

[2] 'एन्युअल रिपोर्ट, मैसूर आर्किऑलॉजिकल डिपार्टमेंट', १९२३, पृष्ठ ८३

[3] 'जर्नल आफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी,' १९२६, पृष्ठ ४८७

करता है। जिस जनश्रुति के अनुसार मयूर बाण का ससुर ठहरता है, उस का उल्लेख मेरुतुंगाचार्य के 'भक्तामरस्तोत्र' की टीका में मिलता है। राजशेखर एक अन्य जन-प्रवाद की कल्पना करता है। उस के अनुसार मयूर, बाण और मातंगदिवाकर तीनों हर्ष के दरबारी कवि थे[1]। पद्मगुप्त का 'नवसाहसांक-चरित' भी मयूर तथा बाण को हर्ष का दरबारी कवि बतलाता है[2]।

उपरोक्त सभी बातें पर्याप्त रूप से इस कथन की पुष्टि करती हैं कि मयूर और बाण दोनों श्री हर्ष के दरबारी कवि थे। इस जन-श्रुति का उल्लेख हमें बराबर मिलता है कि वे समकालीन और हर्ष के दरबारी कवि थे। किंतु उन दोनों कवियों के पारस्परिक संबंध के विषय में अनेक परस्पर-विरोधी तथा अविश्वसनीय प्रवाद प्रचलित हैं। एक जन-प्रवाद के अनुसार बाण मयूर का दामाद था। दूसरे जन-प्रवाद का कथन है कि वह मयूर का ससुर था। कीथ महोदय का विचार है कि उन दोनों के बीच संभवतः कोई संबंध नहीं था[3]। जो कुछ भी हो, हमें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि मयूर के संबंध में जो कुछ ज्ञात है, उस का आधार परंपरा जनश्रुति ही है। ऐसी जनश्रुतियों के आधार पर जो काफ़ी बाद की हैं, ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत को अवलंबित करना कि हर्ष ने दक्षिण में अपनी विजय का विस्तार किया था, निश्चय ही निरापद नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाय कि ये जन-श्रुतियां सत्य हैं, तो भी आवश्यकरूप से यह परिणाम नहीं निकलता कि विवाद-ग्रस्त श्लोक हर्ष के संबंध में एक प्रशंसोक्ति है। प्राचीन भारत के कवि नए-नए आश्रयदाताओं तथा श्री-संपत्ति की खोज में बहुत दूर-दूर तक भ्रमण करते थे। कवि-कुल-कमल-दिवाकर कालिदास और भारवि के संबंध में यह प्रवाद प्रसिद्ध है कि वे कांची के पल्लव-नरेश के दरबार में गए थे। अतः यह मान लेना वस्तुतः संभव है कि मयूर-कवि चालुक्य-नरेश के दरबार में गया था और पुलकेशी द्वितीय ने उस का समुचित आदर किया तथा प्रचुर भेंट-उपहार प्रदान किया था। इस स्थल पर यह लिख देना असंगत न होगा कि एक प्रवाद बाण और मयूर की प्रतिद्वंद्विता के संबंध में प्रचलित है। 'नवसाहसांक-चरित' के श्लोक से जो अभी पाद-टिप्पणी में उद्धृत किया गया है, उन की प्रतिस्पर्द्धा संभव प्रतीत होती है। ज्ञात होता है कि श्री हर्ष के दरबार के वातावरण को अपने प्रतिकूल समझ कर और यह विचार कर कि यहां मेरी कवित्व-प्रतिभा की समुचित सराहना न हो सकेगी, मयूर एक नए संरक्षक की खोज में बाहर चला गया। वह महाराज हर्ष के समकालीन चालुक्य-नरेश के दरबार में पहुँचा और वहां उस का उचित सत्कार किया गया। मयूर का विवादग्रस्त श्लोक[4]

---

[1] देखिए पिटर पिटर्सन तथा पं० दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित वल्लभदेव की सुभाषितावलि की भूमिका।

[2] सचित्रवर्णविच्छित्ति हारिणोरवनीपतिः।
श्री हर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥

[3] कीथ—'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ २०१

[4] भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिताः
भर्त्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देव मन्यामहे।

कुंतल (कर्नाटक), चोल तथा कांची की विजय का उल्लेख करता है। चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय तथा पल्लव-राजा महेंद्रवर्मा के बीच जो भीषण शत्रुता थी, वह हमें ज्ञात है। मालूम होता है कि प्रारंभ में चालुक्य-नरेश ने अपने पल्लव-वंशीय शत्रु पर विजय प्राप्त की। ऐहोडे का दान-पत्र भी दक्षिण में पुलकेशी की विजय का उल्लेख करता है। कहा जाता है कि उस ने बनवासी पर घेरा डाला था। उस की सुदूर-विस्तृत विजय के अंतर्गत कुंतल तथा चोल देश अवश्य ही संमिलित थे। यह असंभव नहीं है कि पुलकेशी कांची के द्वार पर पहुँचा हो और उस ने अपने पराजित शत्रु को मनमानी शर्तों के अनुसार संधि करने के लिए विवश किया हो। विवाद-ग्रस्त श्लोक हर्ष की अपेक्षा पुलकेशी द्वितीय के लिए अधिक उपयुक्त तथा सत्य ठहरता है। तर्क के लिए अंत में यदि यह मान भी लिया जाय कि यह श्लोक केवल हर्ष की ओर संकेत करता है तो हम श्लेष-प्रिय कवि की परंपरागत अतिरंजित-शैली के अनुसार उसे प्रशंसोक्ति कह कर टाल सकते हैं। उस में कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं है[1]।

अब हम इस संबंध में गद्देमन्नेवाले लेख के प्रमाण की विवेचना करेंगे। उस का प्रमाण—यदि उसे हम प्रमाण की संज्ञा दे सकें—बिल्कुल निरर्थक है। लेख के अनुसार "जब शीलादित्य........अपने साम्राज्य की गद्दी पर बैठे, पेट्टणि सत्यांक ने युद्ध-क्षेत्र में घुस कर महेंद्र को भयभीत कर दिया।......इत्यादि। श्रीकंठशास्त्री महोदय तथा अन्य विद्वान जिन्हों ने समुचित जाँच-परीक्षा किए बिना ही उन का अनुसरण किया है, उक्त वाक्य के स्थान में 'जब हर्ष जीत कर आए और महेंद्र डर कर भाग गया' समूचे पद का अपनी ओर से समावेश कर देते हैं"। लेख में दक्षिण भारत पर महाराज हर्ष के आक्रमण का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। यही नहीं, वह लेख हमें यह भी नहीं बतलाता कि पेट्टणि सत्यांक श्री हर्ष का सेनापति था। विद्वानों ने उसे भी मान ही लिया है। इस के अतिरिक्त उस लेख में इस बात का भी उल्लेख नहीं मिलता कि महेंद्र भय खाकर भाग गया था। लेख से हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि जब शीलादित्य अपने साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुए तब पेट्टणि सत्यांक नामक एक वीर सैनिक ने एक दूसरे योद्धा सैनिक के साथ युद्ध किया, जो वेदर जाति का सरदार था। इस युद्ध में पेट्टणि सत्यांक मारा गया। उक्त लेख हमें यह भी बतलाता है कि जिस समय पेट्टणि सत्यांक ने वेदर सरदार के ऊपर आक्रमण किया था उस समय महेंद्र भयभीत हो गया था। अनुमान किया जाता है कि वेदर सरदार महेंद्र की सेना का एक सेनापति था। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जो निष्पक्ष भाव से लेख में दी हुई उपरोक्त बातों की परीक्षा करेगा, इस बात को तुरंत स्वीकार करेगा कि उक्त लेख के आधार पर यह परिणाम निकालना कि महाराज हर्ष ने अपने प्रधान सेनापति पेट्टणि सत्यांक के नेतृत्व में दक्षिण पर विजय प्राप्त की, कदापि

येनांगं परिमृष्य कुंतलमथाकृष्य व्युदस्यायतं
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना कांच्यां करः पातितः॥

[1]मजुमदार, 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' १९२९, पृष्ठ २३९

युक्तिसंगत नहीं है। वास्तविक बात यह है कि एक कौतूहल-जनक सिद्धांत को प्रस्थापित करने की उत्सुकता में विद्वानों ने लेख में ऐसे शब्दों और पदों का समावेश कर लिया है, जिन का उल्लेख निश्चय ही उस लेख में नहीं है। श्री यस० शास्त्री, श्री नीहाररंजन तथा श्री अविनाशचन्द्र बनर्जी[२] आदि सभी पर लेख को ठीक-ठीक न उद्धृत करने का दोषारोपण किया जा सकता है। लेख की प्राप्ति की सर्व-प्रथम घोषणा करनेवाले डा० शामशास्त्री का विचार था कि लेख में उल्लिखित सिल-आदित्य कन्नौज के राजा हर्ष शीलादित्य ही हैं। हम अभी आगे चल कर इस बात पर विचार करेंगे कि क्या इन दोनों को एक मानना आवश्यक है। इस के अतिरिक्त उन का यह भी कथन था कि पेट्टणि सत्यांक शीलादित्य की सेना का सेनापति था, किंतु वे यह नहीं कहते कि लेख में ऐसा उल्लेख है। मेरे विचार से उन का यह निष्कर्ष बिल्कुल निराधार है। अपने एक प्रिय सिद्धांत के लिए उन्हें पेट्टणि सत्यांक का शीलादित्य के साथ संबंध जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? वास्तव में लेख हमें केवल यह बतलाता है कि जिस समय शीलादित्य अपने साम्राज्य के सिंहासन पर बैठे उस समय पेट्टणि सत्यांक एक युद्धक्षेत्र में घुस पड़ा। बहुत संभव है कि वह एक स्थानिक सरदार रहा हो और स्वयं अपने ही लिए महेंद्र नामक किसी दूसरे स्थानिक सरदार की सेना में संमिलित वेदर लोगों के साथ युद्ध करता रहा हो। किसी सम्मान-सूचक उपाधि के बिना महेंद्र का केवल नामोल्लेख करना यह सूचित करता है कि वह एक स्थानिक सरदार था, श्री हर्ष का समकालीन प्रसिद्ध पल्लव-राजा महेंद्रवर्मा नहीं। जिसे दो शक्तिशाली राजाओं के बीच का सैनिक संघर्ष कहा जाता है वह केवल दो स्थानिक सरदारों की एक साधारण मुठभेड़ थी, जिस में उन्हों ने अपनी वीरता प्रदर्शित की[३]।

अंत में शीलादित्य के नाम पर भी थोड़ी-बहुत टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। 'शीलादित्य' एक अत्यधिक प्रचलित नाम और उपाधि है। वलभी के अनेक मैत्रक राजाओं ने 'शीलादित्य' की उपाधि धारण की थी। लिपि-प्रमाण के आधार पर डा० शाम शास्त्री का यह मंतव्य है कि शीलादित्य, हर्ष के अतिरिक्त और कोई न था। किंतु गद्देमन्ने के 'बीरगल' के श्री शीलादित्य तथा शीलादित्य नामधारी वलभी-नरेशों में से किसी एक को अभिन्न समझने में लिपि-प्रमाण कोई अड़चन नहीं डालता। बी० ए० सलेतोर नामक दक्षिण के एक पंडित ने उक्त लेख के शीलादित्य तथा वलभी-नरेश शीलादित्य को अभिन्न प्रमाणित करने के लिए बड़ा भारी प्रयत्न किया है। उन का कहना है कि वलभी के नरेशों का ही 'श्री' उपाधि विशेष चिह्न था। किंतु कठिनता यह है कि

---

[१] 'इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली', जिल्द ३, पृष्ठ, ७८८-७८९

[२] अविनाशचंद्र बनर्जी—'जर्नल आफ दि आंध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ६, १९३१-३२

[३] इस विषय में श्रीयुत बी० ए० सलेतोर महोदय का 'हर्षवर्द्धन इन दि कर्नाटक' शीर्षक, तथ्यपूर्ण सुचिंतित प्रबंध द्रष्टव्य है। 'क्वाटर्ली जर्नल आफ दि मिथिक सोसाइटी', जिल्द २२, पृष्ठ १६९-१८४ और ३०२-३१७

वलभी वंश में कम से कम आठ शीलादित्य हुए। सलेतोर महोदय ने उक्त लेख के शीला-दित्य को वलभी के उस शीलादित्य से अभिन्न माना है, "जो पृथ्वी का स्वामी है, सह्य तथा विंध्य-पर्वत जिस के दो स्तन हैं और जिन के श्यामवर्ण के मेघों से आच्छादित शिखर कुचाग्र की भाँति दिखाई पड़ते हैं"[१] यह शीलादित्य मूल राजवंश का नहीं था और इसी लिए उस ने महाराजाधिराज की पदवी नहीं धारण की[२]। सलेतोर महोदय कहते हैं कि कर्नाटक में वलभी राज्य के विस्तार का कुछ कारण था, जिस का पता लगाने में हम इस समय-असमर्थ हैं[३]। पुलकेशी द्वितीय के द्वितीय पुत्र जयसिंह को—जिस का बड़ा भाई विक्रमादित्य था—गुजरात का प्रांत दिया गया। उस के उत्तराधिकारी चालुक्य राजाओं ने गुजरात में अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया। सलेतोर महोदय पूछते हैं कि क्या पुलकेशी महान् के उत्तराधिकारी, कनाड़ी लोगों के देश में वलभी-नरेश के द्वारा लूट-पाट मचाने का बदला लेने के लिए ऐसा कर सकते थे? अंत में वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'कदाचित् गुजरात में किसी शीलादित्य राजा की अधीनता में पश्चिमी चालुक्यीय शाखा के स्थापित होने के तनिक पूर्व, किसी वलभी-नरेश ने सह्य को जीतने का प्रयत्न किया था और पुलकेशी द्वितीय के शासन-काल के प्रारंभ में अथवा अधिक संभवतः उस की मृत्यु के ठीक बाद ही, गुजरात में पश्चिमी चालुक्य-वंश की शाखा को स्थापित कर के उस के उत्तराधिकारियों ने अपनी लुप्त प्रतिष्ठा को पुनरुज्जीवित किया,'[४]। सलेतोर महाशय के तर्क निस्संदेह युक्तिपूर्ण हैं। किंतु वलभी के अनेक शीलादित्यों में से एक को अलग कर उसे अपने शीलादित्य से अभिन्न ठहराने में कल्पना और अनुमान से अवश्य ही अधिक काम लेना पड़ेगा। उन का यह तर्क वास्तव में दो बातों पर अव-लंबित है—पहली बात तो यह है कि वलभी के राजाओं ने 'श्री' उपाधि का व्यवहार किया है। दूसरी बात यह है कि उन में से एक कनाड़ी देश में स्थित सह्य पर्वत के साथ संबंधित है। यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि हमें जो तथ्य उपलब्ध होते हैं वे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से एकदम अपर्याप्त तथा प्रायः निरर्थक हैं। अब हम यहां विद्वानों के चमत्कार-पूर्ण खंडन-मंडन से अपना हाथ खींचते हैं और किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचने के पूर्व ही शीलादित्य के प्रश्न को छोड़ कर संतोष करते हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि महाराज हर्षवर्द्धन एक

---

[१]देखिए अलिन का दान-पत्र—फ़्लीट, 'कॉरपस इंसक्रिप्टिओनुम इंडिकारूम', जिल्द ३, पृष्ठ १७१

[२]'एपिग्राफिआ इंडिका', जिल्द १, पृष्ठ १६१

[३]बी० ए० सलेतोर, 'क्वाटर्ली जर्नल आफ दि मिथिक सोसाइटी', जिल्द २२, पृष्ठ १८२

[४]सलेतोर—'क्वाटर्ली जर्नल आफ दि मिथिक सोसाइटी'—जिल्द २२, पृष्ठ १८३

मजुमदार महाशय गद्देसन्ने वीरगल के शीलादित्य और पुलकेशी द्वितीय के पौत्र युवराज श्र्याश्रय शीलादित्य को एक ठहराते हैं। देखिए, 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', १६२६, पृष्ठ २२९

महान् विजेता कहलाने के सच्चे अधिकारी हैं। किंतु उन्हें सभी युद्धों में सफलता नहीं प्राप्त हुई। उन्हें पुलकेशी द्वितीय के हाथों से रेवा नदी के तट पर गहरी पराजय भी खानी पड़ी। इस पराजय से उन की सारी आशाओं पर पानी फिर गया और वे संपूर्ण भारत के विजयी कहलाने के अधिकारी न हो सके। इस के अतिरिक्त उन की विजय उत्तर भारत ही तक परिमित रही। वह विंध्य-रेखा को पार करने के प्रयत्न में कभी सफल नहीं हुए। हाल में उन की दक्षिण-विजय का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है वह सम्पूर्णतः मिथ्या और कपोल-कल्पना है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि महाराज हर्ष एक प्रतापी विजेता थे; तथापि उन्हों ने विजित देशों पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने की चेष्टा कभी नहीं की। पराजित राजाओं को वे उन का राज्य आदि लौटा देते थे। इस प्रकार उन्हों ने भारत के दिग्विजयी विजेताओं की प्रचलित रीति का ही अनुसरण किया।

चतुर्थ अध्याय

हर्ष का साम्राज्य

अब हम इस अध्याय में यह निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे कि भारत का कितना भू-भाग महाराज हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत था। इतिहास के विद्वानों में इस विषय पर बड़ा मतभेद है। डा० विंसेंट स्मिथ अपने ग्रंथ "अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया" के अंतिम संस्करण में लिखते हैं, "उन के शासन-काल के पिछले वर्षों में मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय पर्वत से ले कर नर्मदा तक (नेपाल-सहित) गंगा की संपूर्ण तरेटी पर हर्ष का आधिपत्य निर्विवादरूप से स्थापित था"[1]। शासन-प्रबंध अलबत्ता स्थानीय राजाओं के हाथों में था, किंतु पूर्व में सुदूरस्थ आसाम का राजा भी अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता था। बिल्कुल पश्चिम में स्थित वलभी-देश का राजा भी, जो कि उन का दामाद था, राजकीय अनुचर-दल में सम्मिलित होता था।

पनिक्कर महोदय के मतानुसार हर्ष के साम्राज्य का विस्तार इस से भी अधिक था। उन का कथन है कि हर्ष ने संपूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया था और नेपाल का राज्य भी उन के साम्राज्य में सम्मिलित था[2]। फ्रांसीसी विद्वान् एटिंक-हासेन ने हर्ष के ऊपर एक निबंध लिखा है। उन का मत भी पनिक्कर के अधिकांश कथन से मिलता-जुलता है, किंतु वे यह नहीं मानते कि नेपाल महाराज हर्ष के साम्राज्य के अंतर्भूत था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी इस संबंध में जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह भी उल्लेखनीय है। उन का कथन है कि "कुछ प्रदेश तो ऐसे थे, जिन पर कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष प्रत्यक्षरूप से शासन करते थे और कुछ प्रदेश ऐसे थे, जिन का शासन-

---

[1]स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया', पृष्ठ ३५४

[2]पनिक्कर, 'श्रीहर्ष आफ कन्नौज', पृष्ठ २२

प्रबंध उन के हाथ में नहीं था, किंतु जो उन के प्रभाव में थे एवं उन की प्रभुता स्वीकार करते थे"[1]। डा० मुकर्जी के मतानुसार यद्यपि हर्ष का प्रत्यक्ष अधिकार-क्षेत्र कुछ संकुचित था, तथापि उन का प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। कामरूप, नेपाल, काश्मीर तथा वलभी आदि देश उन के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत थे। उन का कथन है कि हर्ष-द्वारा प्रत्यक्षरूप से शासित होनेवाले भू-भाग के आकार-प्रकार से उन की वास्तविक राजनीतिक स्थिति तथा कार्य-कलाप का ठीक-ठीक माप नहीं हो सकता। इस में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि हर्ष संपूर्ण उत्तरी भारत के सर्व-प्रधान राजा थे[2]। इस प्रकार उपरोक्त चारों विद्वानों के कथनानुसार हमें ज्ञात होता है कि हर्ष का साम्राज्य बहुत बड़ा था। इन में डा० स्मिथ द्वारा स्थिर किया हुआ साम्राज्य, अपेक्षाकृत अधिक संकुचित है; क्योंकि वे काश्मीर, पंजाब, सिंध, राजपूताना और कामरूप को उस के अंतर्गत नहीं मानते।

सर्व-प्रथम रमेशचंद्र मजुमदार ने इस प्रचलित मत का विरोध किया है। उन का विश्वास है कि हर्ष का साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत नहीं था। उन का कथन है कि इस विषय में ह्वेनसांग का साक्ष्य—स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों रूपों में—साहित्यिक तथा लिपि के प्रमाण से संगत खाता है। हर्षवर्द्धन का राज्य क़रीब-क़रीब इस रूप में निश्चित किया जा सकता है कि उस में आगरा और अवध का संयुक्त-प्रांत, बिहार तथा पूर्वी पंजाब का कुछ भाग—उत्तर-पश्चिम के एक छोटे तथा संकीर्ण भू-भाग को जिसे ह्वेनसांग ने मो-ती-पुलो लिखा है, छोड़ कर—सम्मिलित था[3]। मजुमदार महाशय का यह निष्कर्ष ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर अवलंबित है। अथवा यों कहिए कि उन का उपरोक्त कथन उस अर्थ पर निर्भर है जो उन्हों ने चीनी-यात्री के विवरण से निकाला है। वे कहते हैं कि ह्वेनसांग ने साधारणतः परतंत्र राज्यों के संबंध में यह उल्लेख कर दिया है कि वे किस के अधीन थे इस के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। किंतु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्हों ने किसी ऐसे प्रदेश का उल्लेख नहीं किया, जिस को उस ने हर्ष के राज्य के अधीन बताया हो। इस दशा में या तो हम यह मान लें कि कन्नौज के अतिरिक्त हर्ष के राज्य में और कोई प्रदेश सम्मिलित नहीं था, अथवा यह परिणाम निकालें कि जिन परतंत्र प्रदेशों के विषय में वह मौन है वे सब हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत सम्मिलित थे।

अनेक सबल प्रमाणों के उपस्थित होते हुए पहली बात किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकती। चीनी-यात्री ने यदि स्पष्टतया तथा निश्चयात्मकरूप से यह नहीं लिखा कि अमुक-अमुक प्रदेश हर्ष के अधीन थे तो इस का कारण यह है कि उस की दृष्टि में महाराज हर्ष प्रधानतया कान्यकुब्ज के राजा थे। उस के मौनावलंबन से हम कदापि यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि हर्ष के राज्य में कन्नौज के अतिरिक्त और कोई प्रदेश नहीं सम्मिलित था। वास्तव में उन के अधीन अन्य प्रदेश भी थे।

---

[1] मुकर्जी, 'हर्ष' पृष्ठ ३७

[2] मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ ४२

[3] मजुमदार, जर्नल आफ दी बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी १९२३, पृष्ठ, ३२१-३२२

बाण के 'हर्ष-चरित' तथा हर्ष के दो लेखों से यह बात पूर्णतः प्रमाणित होती है। बंसखेरा और मधुवन के लेखों से हमें इस बात में संदेह करने का कोई अवकाश नहीं रह जाता कि अहिछत्र और श्रावस्तीभुक्ति हर्ष के राज्य में संमिलित थे[1]। 'हर्षचरित' से हमें यह भी ज्ञात होता है कि हर्ष के पैतृक राज्य में थानेश्वर तथा उस के आस-पास का प्रदेश शामिल था। 'हर्षचरित' और हर्ष के लेखों की बात जाने दीजिए, ह्वेनसांग स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से इस कथन का समर्थन करता है कि हर्ष के राज्य में कन्नौज के अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी संमिलित थे। वह जिन शब्दों में प्रयाग की मोक्ष-परिषद् का वर्णन करता है, उन से यही ध्वनि निकलती है कि प्रयाग हर्ष के राज्य के अंतर्गत था। प्रयाग के पूर्व में स्थित मगध के संबंध में भी इसी प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह हर्ष की राज-सीमा के बाहर नहीं था; क्योंकि ह्वेनसांग की जीवनी में हर्ष को मगध का राजा कहा गया है।

यह तो हुआ स्वीकारात्मक प्रमाण। चीनी-यात्री के नकारात्मक विवरण से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। ची-ना-पुह-ती से ले कर मगध तक जितने राज्य थे, उन में से ६ को छोड़ कर शेष राज्यों की राजनीतिक स्थिति के विषय में वह मौन है। जिन ६ राज्यों के विषय में मौन नहीं है, उन के नाम ये हैं। कन्नौज, पारियात्र, मतिपुर, सुवर्ण-गोत्र, कपिलवस्तु तथा नेपाल। इन में से दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे नंबर के राज्य उस सीमा के बाहर स्थित थे जिन का निर्देश ऊपर किया गया है। ६ राज्यों के अतिरिक्त शेष राज्यों के संबंध में ह्वेनसांग का मौनावलंबन यही सिद्ध करता है कि वे कान्यकुब्जाधीश के अधीन थे। इस प्रकार चीनी-यात्री के नकारात्मक तथा स्वीकारात्मक दोनों प्रकार के साक्ष्य से यह निश्चयात्मकरूप से ज्ञात हो जाता है कि महाराज हर्ष का राज्य, हिमालय पर्वत, पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, मध्यदेश तथा बंगाल से परिवेष्ठित था

आगे चल कर मजुमदार महोदय[2] कहते हैं कि यह सच है कि ह्वेनसांग, महाराज हर्ष को पंच भारत ('फ़ाइव इंडीज़' =सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला और उड़ीसा) का अधीश्वर बतलाता है। किंतु वास्तव में यह एक अस्पष्ट कथन है। इस को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं। बाण ने भी 'हर्षचरित' में ऐसे पदों का प्रचुर प्रयोग किया है। लोग कह सकते हैं कि महाराज हर्ष ने अपना बहुत-सा समय पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर युद्ध में व्यतीत किया था; तो क्या उन्हों ने किसी प्रदेश को जीत कर अपने राज्य में नहीं मिलाया ? किंतु वास्तव में सिंहासनारोहण के समय जो परिस्थितियां उपस्थित थीं, उन्हीं के द्वारा विवश हो कर ये युद्ध करने पड़े थे। कुछ प्रदेशों को जीत कर उन्हों ने अपनी राज्य-सीमा बढ़ाई तो थी अवश्य; किंतु ठीक-ठीक यह निर्देश करना कठिन है कि वे प्रदेश कौन थे।

---

[1] बंसखेरा का लेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ४, पृष्ठ २०८ तथा मधुबनवाले लेख, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द १, पृष्ठ ६७

[2] मजुमदार, 'जर्नल आफ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९२३, पृष्ठ ३१२

मजुमदार महाशय के निकाले हुए निष्कर्ष पर मनन करने से हम को यह मानना पड़ता है कि उस में बहुत कुछ सत्य का अंश अवश्य है। किंतु हम हर्ष के साम्राज्य-विस्तार की समस्या पर एक पृथक् दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। मजुमदार के पश्चात् अन्य अनेक विद्वानों[1] ने भी अपने प्रगाढ़ अध्ययन के सहारे इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे सब भिन्न-भिन्न परिणाम पर पहुँचते हैं। अब देखना चाहिए कि निष्पक्ष रूप से विचार करने पर महाराज हर्ष का साम्राज्य-कितना ठहरता है।

श्री निहाररंजन राय[2] का कथन है कि हर्ष के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत वह संपूर्ण प्रदेश सम्मिलित था जो मध्य-हिंद कहलाता था। किंतु उन का प्रभाव-क्षेत्र अप्रत्यक्ष रूप से उस की अपेक्षा बहुत बड़े भू-भाग पर फैला हुआ था। उन के सुविस्तृत प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत—उत्तर-पश्चिम में जालंधर से ले कर पूर्व में आसाम की पूर्वी सीमा तक—दक्षिण में नर्मदा और महानदी की तरेटी में स्थित वलभी-राज्य से ले कर गंजाम के जिले तक का प्रदेश, और उत्तर में नेपाल तथा संभवतः काश्मीर भी सम्मिलित थे। श्री अविनाशचंद्र बनर्जी कहते हैं कि हर्ष का आधिपत्य उत्तर में शतद्रू के तट से ले कर दक्षिण में नर्मदा तक और पश्चिमी मालवा के सीमाप्रांत से ले कर पूर्व में हिमालय के नीचे स्थित प्रदेशों तक की भूमि पर स्थापित था।

यहां पर पहले यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि महाराज हर्ष के साम्राज्य के विस्तार के संबंध में अधिकांश विद्वानों ने अपने जो विचार स्थिर किए हैं, वे ह्वेनसांग, बाण और चालुक्य के लेखों के कतिपय अंशों पर अवलंबित हैं। ह्वेनसांग कहता है कि पूर्व की ओर जा कर उन्हों ने (हर्ष) उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्हों ने अधीनता मानने से इन्कार कर दिया था। अंत में उन्हों ने पंचगौड़ को जीत कर अपने अधीन कर लिया। अपने राज्य का विस्तार कर लेने के बाद उन्हों ने अपनी सेना को बढ़ाया और बिना शस्त्र ग्रहण किए, ३० वर्ष तक शांति-पूर्वक राज्य किया[3]।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में इस प्रकार के कथन अन्यत्र भी मिलते हैं। महाराष्ट्र के विषय में लिखते हुए उस ने कहा है कि इस समय (६४३ ई० के लगभग) महाराज शीलादित्य ने पूर्व से ले कर पश्चिम तक के राज्यों को जीत लिया है और सुदूरस्थ देशों पर भी उन्हों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। किंतु केवल इस देश के

---

[1](क) रमाशंकर त्रिपाठी, 'आन दि एक्स्टेंट आफ़ हर्षाज़ एम्पायर', 'जर्नल आफ़ दि बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ २९६-३३१

(ख) निहाररंजन राय, 'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली', 'हर्ष शीलादित्य—ए रिवाइज़्ड स्टडी', पृष्ठ ७६९-७९३

(ग) अविनाशचंद्र बनर्जी, 'जर्नल आफ़ दि आंध्र रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ६ सन् १९३१-३२

[2]'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली', १९२७, पृष्ठ ७९०

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४३

लोगों ने उन की अधीनता नहीं स्वीकार की है[1]। उन्हों ने अल्प समय में ही अपने को भारत का अधीश्वर बना लिया। उन की ख्याति बाहर सर्वत्र फैली थी[2]। हर्ष के संबंध में बाण ने भी ऐसे आडंबर-पूर्ण विशेषण शब्दों का प्रयोग किया है[3] जिन से यह प्रकट होता है कि वे बहुत बड़े सम्राट् थे। चालुक्य राजाओं के लेखों[4] में उन्हें सर्वत्र 'सकलोत्तरापथेश्वर' कहा गया है और उन के नाम के साथ बड़ी-बड़ी राजकीय उपाधियां जोड़ी गई हैं। इस में संदेह नहीं, कि इन उल्लेखों का अधिकांश सत्य है, किंतु उन्हें ज्यों का त्यों उसी रूप में ग्रहण करना हमारी भूल होगी। बाण तो निस्संदेह राज-दरबार का एक आश्रित इतिहासकार था। अतः यदि अपने ग्रंथ में उस ने अपने चरित्र-नायक के संबंध में कुछ अत्युक्ति की हो तो इस में आश्चर्य ही क्या है। ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत प्रायः निष्पक्ष और विश्वसनीय माना जा सकता है; क्योंकि वह बाण की भाँति एक आश्रय-प्राप्त लेखक नहीं था। किंतु इस में संदेह नहीं कि वह भी महाराज हर्ष की अनेक कृपाओं के लिए उन का ऋणी और कृतज्ञ था। ऐसी अवस्था में, संभव है कि उस के हर्ष-संबंधी वर्णन में कुछ अत्युक्ति आ गई हो अथवा व्यक्तिगत उत्साह का कुछ पुट हो। अतः ऐतिहासिक सत्य के अनुसंधान की दृष्टि से, उस के दिए हुए विवरण को यत्र-तत्र तनिक सावधानी के साथ ग्रहण करना उचित होगा। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ह्वेनसांग इतिहास लिखने नहीं बैठा था। इस दृष्टि से उस के अनेक शब्दों और पदों को—जैसे 'पंच गौड़ का विजेता' आदि—हम अग्राह्य कर सकते हैं। इसी प्रकार 'सकलोत्तरापथेश्वर' पद से हम उस के शाब्दिक अर्थ को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण कर सकते। दक्षिण के लोग इस शब्द का व्यवहार नर्मदा नदी अथवा माहिष्मती नगरी के उत्तर की संपूर्ण भूमि के अर्थ में करते थे। 'उत्तरापथ' शब्द से मूलतः श्रावस्ती से तक्षशिला तक का वाणिज्य-मार्ग

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२६

[2] 'जीवनी', पृष्ठ ८३

[3] उदाहरणार्थ (क) देवस्य चतुःसमुद्राधिपतेः सकलराजचक्रचूडामणिश्रेणी-शाणकोणकषणनिर्मलीकृतचरणनखमणेः सर्वचक्रवर्तिनां धौरेयस्य महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीहर्षस्य—'हर्षचरित', द्वितीय उच्छ्वास, पृष्ठ ८४

अर्थात् "चारों समुद्रों के अधिपति, राजाधिराज, परमेश्वर, समस्त चक्रवर्ती राजाओं में श्रेष्ठ जिन के चरणों के नख अन्य राजाओं के चूड़ामणि से चमकते थे।"

(ख) चतुरुदधि-केदारकुटुंबी भोक्ता ब्रह्मस्तंबफलस्य सकलादिराजचरितजय-ज्येष्ठमल्लो देवः परमेश्वरो हर्षः। अर्थात् "चारों समुद्र से घिरे हुए क्षेत्र के स्वामी ब्रह्मस्तंब अर्थात् जगत के फल, रत्नादि के भोग करनेवाले तथा प्राचीन काल के समस्त राजाओं से बढ़ कर श्रेष्ठ विजयी वीर।"

[4] अन्य अनेक लेखों के अतिरिक्त देखिए कीलहार्न की तालिका के लेख नं० ४०१, ४०४; 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ६, पृष्ठ २०२; श्र्याश्रय शीलादित्य का नौसारी-वाला ताम्र-पत्र, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द ८, पृष्ठ २३०

समझा जाता था।[1] कुछ समय के पश्चात् उस से उस देश का बोध होने लगा जिस के भीतर से वह वाणिज्य-मार्ग जाता था। डा० भंडारकर का कथन है कि 'उत्तरापथ' शब्द उत्तर भारत में दशम शताब्दी तक 'मध्य-देश' के उत्तर में स्थित प्रदेश के लिए प्रयुक्त होता था[2]। उत्तर भारत के लोग इस शब्द से जो कुछ भी मतलब समझते रहे हों, किंतु इस में संदेह नहीं कि दक्षिण के लोग उस से संपूर्ण उत्तरी भारत का अर्थ लगाते थे। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि चालुक्य लेखों के रचयितागण महाराज हर्ष को संपूर्ण उत्तरी भारत का अधीश्वर समझते थे। हर्ष के पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी युद्धों एवं तत्संबंधी विजय-वार्ताओं से लोगों में यह धारणा उत्पन्न हो गई थी कि हर्ष उत्तरी भारत के सर्वप्रधान राजा थे। उपरोक्त शब्द हर्ष के संबंध में प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस का कोई कारण अवश्य होगा। यह सच है कि चालुक्य राजा विनयादित्य के लेख में, जिस राजा का उल्लेख है उस के संबंध में भी इस शब्द का व्यवहार किया गया है[3]। किंतु हर्ष के सर्वाधिपत्य का प्रवाद कई पीढ़ियों तक प्रचलित था। इस से विदित होता है कि पंचगौड़ पर महाराज हर्ष ने अवश्य ही विजय प्राप्त की थी; किंतु इस विजय का असली स्वरूप क्या था? यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत में यद्यपि साम्राज्य की भावना समय-समय पर उद्भावित हुई थी, किंतु आवश्यक रूप से उस का यह अर्थ नहीं है कि कभी किसी राजा-विशेष ने सुविस्तृत भू-भाग पर अपनी प्रत्यक्ष प्रभुता स्थापित की हो। वास्तव में साम्राज्य की भावना के साथ संघ की भावना भी मिली रहती थी। यही कारण है कि यद्यपि बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई थी, तथापि उन साम्राज्यों के अंतर्गत ऐसे-ऐसे राज्य सम्मिलित होते थे जिन का संबंध सम्राट् के साथ उत्सव आदि अवसरों के अतिरिक्त—स्वाधीन राजाओं की भाँति होता था। उत्तर भारत में हर्ष के समय में भी ऐसे छोटे-छोटे अनेक राज्य थे जो सर्वथा स्वाधीन थे। किंतु इन में इतना साहस नहीं था कि वे सब समय हर्ष के आदेशों का उल्लंघन कर सकते। यही नहीं, वे सम्राट् के निमंत्रण को अस्वीकृत नहीं कर सकते थे। हम इसी अर्थ में महाराज हर्ष को सर्वाधिपति कहेंगे।

प्रयाग की मोक्ष-परिषद् में १८ अधीनस्थ राज्यों के राजा उपस्थित थे। ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत भी इस कथन का समर्थन करता है। वह लिखता है कि "१८ राज्यों के राजाओं ने सम्राट् के अनुचर दल का अनुसरण किया ......। १८ देशों के राजा एक निश्चित क्रम के अनुसार अनुचर-दल में सम्मिलित हुए[4]। डा० मुकर्जी[5] का कहना

[1] बरुआ, 'उदयगिरि खंडगिरि केव इंसक्रिप्शंस', पृष्ठ २१६

[2] भंडारकर, 'कारमाइकल लेक्चर्स', १९१८, पृष्ठ ४२-४७

[3] विनयादित्य के लेख में जिस राजा का उल्लेख है वह संभवतः अफसड़ के लेख का आदित्यसेन ही होगा। इस राजा को उक्त लेख में 'सकलोत्तरापथ-नाथ' कहा गया है।—डा० रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंश्यंट इंडिया', पृष्ठ ४११

[4] 'जीवनी', पृष्ठ १७७

[5] मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ ४७

है कि सम्राट् के दरबार में अधीन राजा निरंतर पाए जाते थे। जिस समय हर्ष ने शशांक पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया था, उस समय बहुसंख्यक अधीनस्थ राजे उन के साथ थे। वे निम्न-लिखित शब्दों में अपने प्रभु को विजय-लाभ के लिए उत्साहित कर रहे थेः—"वीर (हर्ष) के लिए तुर्कों का देश केवल एक हाथ लंबा है। ईरान केवल एक बालिश्त है, शक-राज्य शशक का पद-चिह्न है, पारियात्र देश में जो प्रत्याघात करने में असमर्थ है—सेना-प्रस्थान मात्र की आवश्यकता है। दक्षिण आसानी के साथ पराक्रम के बल पर जीता जा सकता है[1]"। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटिका के रचयिता महाराज हर्ष ही थे, इस के लिए विश्वसनीय प्रमाण मौजूद हैं। इस नाटक में नांदी-वाक्य के अनंतर सूत्रधार कहता है, "महाराज हर्ष के पद-कमलों की सेवा में, सामंतों के रूप में एकत्रित, विभिन्न प्रदेशों के राजाओं के समुदाय ने, आज वसंतोत्सव के अवसर पर मुझे बड़े सम्मान के साथ बुलाया था"[2]। 'रत्नावली' और 'नागानंद' नामक नाटकों में भी इसी प्रकार के शब्द सूत्रधार के मुख से कहलाए गए हैं।

जिस समय महाराज हर्ष मणितारा के समीप अजिरावती नदी के तट पर शिविर में ठहरे हुए थे, उसी समय बाण भट्ट प्रथम बार मेखलक के साथ उन से साक्षात्कार करने गया था। वहां पर उस ने बहुसंख्यक अधीन राजाओं को देखा था। उस ने लिखा है "उन का शिविर चारों ओर विजित विपक्षी सामंतों से भरा था उन में से कुछ सामंत जिन्हें शिविर में स्थान नहीं मिला था, लज्जा के मारे अपना मस्तक झुकाए हुए थे[3]"। इन सामंतों अथवा अधीन राजाओं को उन राजाओं से पृथक् बताया गया है जो महाराज हर्ष के गौरव को देखने के लिए आए थे। इस प्रकार हमें यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि हर्ष का प्रभाव-क्षेत्र उन के प्रत्यक्ष अधिकार के क्षेत्र से अधिक विस्तृत था। उन के साम्राज्य के अंतर्गत दो प्रकार के प्रदेश सम्मिलित थे—कुछ प्रदेश ऐसे थे जो सीधे केंद्रीय शासन के अधीन थे। दूसरे प्रकार के प्रदेश वे थे जो अपनी आंतरिक शासन-व्यवस्था में पूर्णतः स्वतंत्र थे; किंतु ऊपर से हर्ष का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। इन के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के राज्य भी थे जिन्हें हम हर्ष के मित्र-राज्य कह सकते हैं। उपरोक्त प्रमाणों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि हर्ष के अधीन अनेक सामंत राजा थे। किंतु हम यह कदापि नहीं कह सकते कि हर्ष की स्थिति वैसी ही थी जैसी

---

[1]कियत्कुस्तुरुष्कविषयः प्रादेशः पारसीकदेशः, शशपदं शकस्थानम्, अदृश्यमानप्रतिप्रहारे पारियात्रे यात्रैव शिथिला, शौर्य्यशुल्कः सुलभः दक्षिणापथः—'हर्षचरित', पृष्ठ २८८

[2]अद्याहम्, वसंतोत्सवे सबहुमानमाहूयं नानादिग्देशादागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः।— 'प्रियदर्शिका', कोलंबिया यूनिवर्सिटी सीरीज़, पृष्ठ ४

[3]कैश्चिदधोमुखैश्च रणनखपतितबदनप्रतिविम्बनिभेन प्रवेशमलभमानैर्लज्जया स्वाङ्गानीव विशद्भिः............................भुजनिर्जितैः शत्रुमहासामंतैः समंतादासेव्यमानम्.........राजद्वारमगात्।—'हर्षचरित', पृष्ठ ६७

कि सम्राट् अशोक अथवा समुद्रगुप्त की। कवि-जन सुलभ अत्युक्ति पर यथेष्ट ध्यान देने के अनंतर यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि हिंदू शास्त्रों के अनुसार हर्ष की स्थिति एक 'विजेता' राजा की भाँति थी। उत्तर भारत के सभी राजे कुछ समय तक युद्ध करने के पश्चात् हर्ष के साथ मित्रता-सूत्र में आबद्ध हो गए। उन के राज्यों को हम मित्र-राज्य कह सकते हैं।

हर्ष के साम्राज्य-विस्तार को निश्चित करने के पूर्व, हमें यह जान लेना चाहिए कि सिंहासनारोहण के समय उन का पैतृक-राज्य कितना था। उन के पिता प्रभाकरवर्द्धन की विजयों का वर्णन जैसा कि पहले कह चुके हैं, बाण ने बड़े आलंकारिक शब्दों में किया है। उस ने लिखा है कि "हूण रूपी मृग के लिए वे सिंह थे, सिंधु-प्रदेश के राजा के लिए वे ज्वर-स्वरूप थे, गुजरात की निद्रा के भङ्गकर्ता थे, गांधार-राजा-रूपी सुगंधित गज के लिए वे कूट-हस्ति-ज्वर के समान थे, वे लाटों की अराजकता के अपहारक तथा मालवा की गौरव-लता के लिए कुठार थे।" क्या इस अलंकारपूर्ण वर्णन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रभाकरवर्द्धन ने इन देशों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था? यदि यह बात सत्य है तो हमें मानना पड़ेगा कि पंजाब से ले कर मालवा तक के विस्तृत भू-भाग पर उन का आधिपत्य स्थापित था और सिंधु, गुजरात तथा गूजरों के देश उन के राज्य में सम्मिलित थे। किंतु ह्वेनसांग हमारे सामने जो विवरण प्रस्तुत करता है, उस के होते हुए हम कदापि उपरोक्त परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। उस के दिए हुए वृतांत से यह विदित होता है कि इन में से कम से कम कुछ देशों में ऐसे राजा राज करते थे जिन के संबंध में यह अनुमान करने का हमारे पास कोई कारण नहीं कि वे हर्ष के साथ मैत्री-संबंध के अतिरिक्त और कोई संबंध रखते थे। हमें यह भी ज्ञात है कि प्रभाकरवर्द्धन हूणों को पराजित नहीं कर सके थे। उन के शासन-काल के अंतिम दिनों में भी हूणों ने थानेश्वर राज्य में अशांति मचा रक्खी थी। इस के अतिरिक्त भारत के मध्यकालीन इतिहास में हूणों के विरुद्ध अनेक युद्ध होते हुए पाए जाते हैं। प्रतिहार, पाल और मौखरि राजाओं के लेखों में भी उन का उल्लेख अनेक बार मिलता है। उत्कीर्ण लेखों में हूणों और किरात आदि बर्बर जातियों के विरुद्ध आक्रमणों का उल्लेख करना एक साधारण नियम-सा बन गया था। प्रभाकरवर्द्धन ने सिंधु, गुर्जर, लाट और मालव के राजाओं के साथ जो युद्ध किया था वे केवल हमले थे। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन आक्रमणों से कोई स्थायी विजय नहीं प्राप्त हुई थी। यही नहीं मालवा के राजा ने तो उलटे कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा के विरुद्ध—जो हर्ष का बहनोई और मित्र था—आक्रमण किया था और उसे युद्ध में परास्त कर उस की स्त्री राज्यश्री को क़ैद कर लिया था।

इन सब बातों से यह प्रकट होता है कि प्रभाकरवर्द्धन उत्तरी भारत के सुविस्तृत भू-भाग के सर्वमान्य अधीश्वर नहीं, अपितु केवल एक स्थानिक शासक थे। किंतु इस में कोई संदेह नहीं कि उन के पास कुछ सैनिक और राजनीतिक शक्ति थी। उन्हों ने सम्राट-

पद-सूचक जो उपाधियां धारण की थीं, उन से भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि वे उत्तरी भारत के सर्व-प्रधान राजा थे। प्राचीन भारत में ऐसी उपाधियों को धारण करने का रिवाज बहुत प्रचलित था। ये उपाधियां उपाधिधारी राजाओं की वास्तविक स्थिति की परिचायक न होती थीं। यद्यपि प्रभाकरवर्द्धन के राज्य की सीमा ठीक से निश्चित नहीं की जा सकती, तथापि इतना स्वीकार करना पड़ता है कि उन का राज्य बहुत विस्तृत नहीं था। बूलर के मतानुसार उन का राज्य थानेश्वर की सीमाओं के बाहर नहीं फैला था[1]। कनिंघम का मत है कि थानेश्वर राज्य में दक्षिणी पंजाब और पूर्वी राजपूताना सम्मिलित थे[2]। जो कुछ भी हो, इतना तो बेखटके कहा जा सकता है कि प्रभाकर के राज्य-काल में, थानेश्वर का राज्य उत्तर-पश्चिम की ओर हूणों के प्रदेश से मिला था। पूर्व में उस की सीमा मौखरियों के राज्य-सीमा से स्पर्श करती थी और दक्षिण एवं पश्चिम में उस की सीमांत-रेखा राजपूताना के रेगिस्तान से आगे नहीं गई थी[3]।

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि महाराज हर्ष के सिंहासनारोहण के समय पिता से प्राप्त उन का राज्य अधिक नहीं था। अब हमें यह देखना चाहिए कि सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उन्हों ने किन-किन प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाया। यह बात तो सर्व-मान्य ही है कि ग्रहवर्मा के देहावसान के उपरांत हर्ष मौखरियों के साम्राज्य के उत्तराधिकारी बने। अतः पहले मौखरियों के राज्य का विस्तार निश्चित कर लेना उचित है। मुद्रा और लेखों की सहायता से उस का निश्चित करना कोई कठिन बात नहीं है। मौखरि राज्य अपनी चरमोन्नति की अवस्था में पश्चिम की ओर थानेश्वर राज्य की सीमा पर स्थित अहिछत्र से ले कर आधुनिक संयुक्तप्रांत की दक्षिणी सीमा तक फैला हुआ था[4]। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात् ग्रहवर्मा की हत्या हुई थी। अतः यह परिणाम निकालना असंगत न होगा कि महाराज हर्ष अपने शासन-काल के प्रारंभ में ही पश्चिम में थानेश्वर से ले कर पूर्व में नालंद तक फैले हुए राज्य के स्वामी बन गए। राज्य की दक्षिणी सीमा थोड़ी-बहुत अनिश्चित अवश्य थी, किंतु हम कह सकते हैं कि वह यमुना नदी की रेखा के बाहर दूर तक नहीं गई थी।

यहां तक तो हम कुछ निश्चित आधार पर खड़े थे, किंतु जब हम आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं तब हमारे मार्ग में अनेक कठिनाइयां आ उपस्थित होती हैं और हमारे मन में शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं। हम ठीक से नहीं जानते कि जो देश ऊपर निर्दिष्ट की हुई सीमा के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में अवस्थित थे, उन की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। उन में से कौन-कौन देश स्वतंत्र थे और कौन हर्ष की अधीनता स्वीकार करते थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर अब हम उन की स्थिति की परीक्षा

---

[1] बूलर, 'एपिग्राफ़िआ इंडिका', जिल्द १, पृष्ठ ६६
[2] कनिंघम, 'एंश्यंट ज्योग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३२८ (मूल संस्करण)
[3] रमाशंकर त्रिपाठी, 'आन दि एक्स्टेंट आफ़ हर्षाज़ एम्पायर' पृष्ठ २९७ और २९८
[4] देखिए त्रिपाठीजी का उपरोक्त लेख, पृष्ठ ३००

करेंगे। सर्वप्रथम हम उन प्रदेशों के संबंध में विचार करेंगे जो मगध के पूर्व में स्थित थे और जिन का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है।

(1) इ-लान्-ना-पो-फा-टो (हिरण्य-पर्वत)—मगध के पूर्व में पहला देश हिरण्य-पर्वत था, जिसे ह्वेनसांग ने इ-लान्-ना-पो-फा-टो लिखा है[1]। कनिंघम[2] के मतानुसार हिरण्य-पर्वत वह प्रदेश था, जहां आजकल मुंगेर का ज़िला बसा हुआ है। उस की राजनीतिक स्थिति के संबंध में चीनी यात्री ने लिखा है कि एक पड़ोसी राज्य के राजा ने यहां के शासक को सिंहासन से उतार दिया और राजधानी बौद्ध-संघ को दे दिया। अनेक विद्वानों का मत है कि 'पड़ोसी राज्य के राजा' से ह्वेनसांग का तात्पर्य हर्ष से है। किंतु, वास्तव में यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। हिरण्य पर्वत जाने के पूर्व ही ह्वेनसांग कन्नौज जा चुका था और कन्नौजाधिपति हर्ष शीलादित्य को भली भाँति जानता था। अतः यदि उपरोक्त कथन से उस का अभिप्राय हर्ष से होता तो वह अवश्य ही और निश्चयात्मक शब्दों का प्रयोग करता और स्पष्ट-रूप से कह देता कि हिरण्य पर्वत कन्नौज राज्य के अधीन था, जैसा कि उस ने अन्य स्थलों पर लिखा है कि लंपाक कपिशा के, तक्षशिला उद्यान के और राजापुर काश्मीर के अधीन था। ह्वेनसांग ६३७ के पश्चात् हिरण्य-पर्वत गया था। शशांक की मृत्यु उस समय के पूर्व ही हो चुकी थी। अतः हमारा यह कहना उचित न होगा कि 'पड़ोसी राज्य के राजा' से ह्वेनसांग का अभिप्राय शशांक से रहा होगा। एक बात और है। शशांक बौद्ध-धर्म का शत्रु था, बौद्ध धर्मानुयायियों पर वह अत्याचार करता था। जिस 'पड़ोसी राज्य के राजा' की ओर ह्वेनसांग संकेत करता है वह बौद्धों का आश्रयदाता था। अतः यह निश्चय है कि चीनी-यात्री का अभिप्राय शशांक से नहीं था। ह्वेनसांग शशांक से भी भली भाँति परिचित था। अतः यदि वही हिरण्य-पर्वत के शासक को पदच्युत करनेवाला होता, तो इस बात को वह इतना अस्पष्ट न रखता।

मालूम होता है कि ह्वेनसांग का उद्देश्य मुंगेर की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करना नहीं था। उस का अभिप्राय केवल यह बतला देना था कि हिरण्य-पर्वत की राजधानी बौद्ध भिक्षुओं के अधिकार में थी। हां, इसी सिलसिले में वह गौणरूप से उक्त प्रवाद का भी उल्लेख कर देता है। चीनी यात्री के भ्रमण-वृतांत से जो वाक्य ऊपर उद्धृत किया गया है, उस के पूर्ववाले वाक्य से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। पूर्वगत वाक्य में वह लिखता है कि राजधानी में लगभग २० देवताओं के मंदिर थे और भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी-दल एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते थे। ह्वेनसांग जिस 'पड़ोसी राज्य के राजा' की ओर गौणरूप से इंगित करता है, उस का समय यद्यपि ६३७ ई० से बहुत पीछे नहीं था, तथापि वह बहुत काल का भी नहीं था। 'हाल में' इस पद से हर्ष के सिंहासनारोहण का समय अथवा उन का राज्य-काल समझना मेरे मत से ठीक न होगा। संभव है ह्वेनसांग का 'पड़ोसी राज्य का राजा' मौखरि-वंश का कोई राजा रहा हो और उस से बौद्ध

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १७८

[2] 'एंश्यंट ज्यौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४७६

भिक्षुओं को राजधानी दे कर अपने उत्कट बौद्ध धर्मानुराग का परिचय दिया हो। अतः यह अनुमान करना असंगत न होगा कि मौखरि राज्य के अन्यान्य प्रदेशों की भाँति हिरण्य-पर्वत भी महाराज हर्ष के राज्य के अंतर्गत आ गया था। ह्वेनसांग को अपने विवरण में यह सब देना अभीष्ट नहीं था। हिरण्य-पर्वत की हर्ष-कालीन राजनीतिक स्थिति के संबंध में उसे बिल्कुल मौन ही समझना चाहिए। और हमारे सिद्धांत के अनुसार—जिस का निरूपण हम पीछे एक स्थल पर कर आए हैं—चीनी यात्री के मौन-भाव से यह तात्पर्य निकालना चाहिए कि हिरण्य-पर्वत महाराज हर्ष के अधीन था।

चंपा[१] :—कनिंघम[२] ने चंपा को आधुनिक भागलपुर बतलाया है। ह्वेनसांग इस की राजनीतिक स्थिति के विषयमें एकदम मौन है। अतः उपरोक्त सिद्धांत के आधार पर ज्ञात होता है कि यह प्रदेश भी हर्ष के अधीन था।

का-चू-वेन-की-लो (कजंगल)[३] :—कजंगल अथवा कांकजोल[४] से आधुनिक राजमहल का अर्थ लिया जाता है। इस के संबंध में ह्वेनसांग का ज्ञान थोड़ा ही था। वह केवल यह बतलाता है कि उस के आने के कतिपय शताब्दियों पूर्व यहां का स्थानिक राज-वंश नष्ट हो चुका था। उस समय यह देश एक पड़ोसी राज्य के अधीन हो गया था। राजधानी उजाड़ हो गई थी और लोग नगरों तथा ग्रामों में रहते थे। यहां पर भी 'पड़ोसी राज्य' से हम महाराज हर्ष अथवा शशांक के राज्य का अभिप्राय नहीं समझ सकते। चीनी-यात्री ऐसे समय की ओर संकेत करता है जो उस के पहुँचने के बहुत पहले व्यतीत हो चुका था। कजंगल की अपने समय की राजनीतिक स्थिति के संबंध में ह्वेनसांग का मौनावलंबन केवल यह सूचित करता है कि वह देश भी महाराज हर्ष के अधीन था। जिस समय महाराज हर्ष शीलादित्य पूर्वी भारत की यात्रा कर रहे थे उस समय उन्हों ने यहां पर एक तृणाच्छादित अस्थायी भवन बना कर उस में दरबार किया था। इस बात से भी हमारे इस कथन का समर्थन होता है कि कजंगल हर्ष के अधीन था। वे जब अपने राज्य में दौरा करने बाहर जाते थे तो दरबार करने के लिए इसी प्रकार के अस्थायी तृण-भवन स्थान-स्थान पर बनवा लेते और बाद को उन्हें जलवा देते थे[५]।

पुन्-न-फ-टन्-न[६] (पुंड्रवर्द्धन) :—इस देश का उल्लेख लेखों और साहित्य-ग्रंथों में अनेक बार मिलता है। यह बंगाल का एक भाग था। इसे हम उत्तरी बंगाल कह सकते हैं जिस में पबना, रंगपुर आदि ज़िले शामिल हैं। इस में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि पुंड्रवर्द्धन पहले गौड़ाधिप शशांक के राज्यांतर्गत था। उस की मृत्यु के पश्चात् हर्ष ने उस प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया।

---

[१] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १८१

[२] कनिंघम, 'एंश्यंट जौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४७७

[३] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १८२

[४] कनिंघम 'एंश्यंट जौग्रफी इंडिया,' पृष्ठ ४७८

[५] वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ १८३

[६] वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ १८४

सन्-मो-ता-ट (समतट)[1] :—वाटर्स का मत है कि यह देश ढाका के दक्षिण में था, जहां आजकल फ़रीदपुर का ज़िला है। चीनी-यात्री इतसिंग के समय में हर्ष भट्ट नामक राजा यहां राज करता था। किंतु ह्वेनसांग के समय में वहां किस राजा का राज्य था यह हमें नहीं ज्ञात है। ह्वेनसांग इस विषय में मौन है। मालूम होता है कि शशांक की मृत्यु के बाद यह देश भी महाराज हर्ष के अधीन हो गया था।

ता-न-मो-लिह-ति (ताम्रलिप्ति)[2] :—इस का आधुनिक नाम तामलुक है। ह्वेनसांग की यात्रा के पूर्व उस देश पर शशांक का राज्य था। शशांक के देहांत के उपरांत महाराज हर्ष ने उसे अपने अधिकार में कर लिया।

क-लो-ना-सु-फा-ला-ना (कर्णसुवर्ण)[3] :—पुंड्रवर्द्धन, समतट और ताम्र लिप्ति की भाँति कर्णसुवर्ण भी बंगाल का एक भाग था। उस समय संपूर्ण बंगाल इन्हीं चारों देशों में विभक्त था। यह हमें निश्चय रूप से ज्ञात है कि इस देश पर शशांक का राज था। भास्करवर्मा के निधानपुरवाले लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इस देश पर आसाम के राजा भास्कर वर्मा का भी प्रभुत्व कभी न कभी था। अनुमान किया जाता है कि शशांक अथवा उस के किसी अज्ञात उत्तराधिकारी को युद्ध में पराजित कर के महाराज हर्ष ने उस देश पर अपना अधिकार कर लिया और बाद को उसे अपने मित्र राजा भास्करवर्मा को दे दिया। पी० एन० भट्टाचार्य महाशय का कथन है कि भास्कर वर्मा ने अपने मित्र हर्ष की सहायता से गौड़ाधिपति को परास्त किया और फिर कर्णसुवर्ण की राजधानी में प्रवेश कर दोनों ने विजयोत्सव मनाया[4]। किंतु हमारे संमुख जो प्रमाण उपस्थित हैं, उन से यह पता चलता है कि गौड़-राजा साफ़ बच गए थे, उन्हें कोई क्षति नहीं उठानी पड़ी। 'मंजुश्रीमूलकल्प' नामक जैन-ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि भास्कर वर्मा ने हर्ष के साथ गौड़-राजा के विरुद्ध युद्ध में भाग नहीं लिया था। महाराज हर्ष ही ने कर्णसुवर्ण को जीत कर अटल मित्रता के उपलक्ष में उसे भास्कर वर्मा को दे दिया था। मजुमदार[5] महोदय का अनुमान है कि हर्ष के शासन-काल के अंतिम दिनों में उन के और भास्कर वर्मा के बीच अनबन हो गई। इस अनबन का एक कारण था। गौड़ाधिपति शशांक के भय से ही उस के विरुद्ध इन दोनों में घनिष्ठ मैत्री-संबंध स्थापित हुआ। किंतु शशांक की मृत्यु के पश्चात् भास्कर वर्मा ने देखा कि अब हर्ष मेरे साथ विश्वसनीय मित्र की भाँति नहीं, बल्कि एक अधीनस्थ राजा के रूप में व्यवहार करता है। उस ने समझा कि गौड़-राजा का भय न रह जाने से कदाचित् कन्नौज-सम्राट् की दृष्टि में कामरूप की मैत्री का महत्व कम हो गया है। भास्कर वर्मा इस

---

[1] वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ १८७

[2] वही, पृष्ठ १८९

[3] वही, पृष्ठ १९१

[4] 'कामरूप शासनावली' की भूमिका, पृष्ठ १६ तथा ५, ६ और ६। भट्टाचार्य महाशय की उक्ति को श्रीयुत बसाक महोदय ने उद्धृत किया है—देखिए, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ २२६

[5] मजुमदार, 'एंश्यंट इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलिज़ेशन्', पृष्ठ ३४८

अपमान का बदला लेने के लिए अवसर ढूँढ रहा था। हर्ष के जीवन-काल में किसी प्रकार प्रतिहिंसा-प्रवृत्ति के चरितार्थ करने की चेष्टा करना उस के लिए विपत्ति जनक सिद्ध होता। अतः महाराज हर्ष की मृत्यु के अनंतर देश भर में जो व्यापक विप्लव फैला, उस में भास्कर वर्मा ने अपने को संपूर्ण पूर्वी भारत का स्वामी बना लिया और इस प्रकार कर्णसुवर्ण भी उस के राज्य के अंतर्गत हो गया। किंतु डा० राधागोविंद बसाक इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उन का कथन है कि कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष और कामरूप के राजा भास्कर वर्मा के मैत्री-बंधन के शिथिल होने का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। उन का भी मत यही है कि हर्ष ने कर्णसुवर्ण को एक दूसरे आक्रमण में जीत कर उसे अपनी अटल मित्रता के पुरस्कार-स्वरूप भास्करवर्मा को दे दिया[१]।

इन दो विरोधी मतों की उपस्थिति में विवाद-ग्रस्त प्रश्न की मीमांसा करना कठिन है। दोनों राजाओं के बीच कुछ थोड़ी-बहुत अनबन अवश्य हो गई थी, इस का प्रमाण मौजूद है[२]। किंतु चीनी यात्री ह्वेनसांग के मौनावलंबन से सामंजस्य स्थापित करने के लिए हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ६३७ ई० में जब कि ह्वेनसांग वहां पहुँचा था—कर्णसुवर्ण महाराज हर्ष के अधीन था। मालूम होता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद ही वह देश भास्कर वर्मा के अधिकार में गया था। श्रीयुत रमाशंकर त्रिपाठीजी का कथन है कि महाराज हर्ष इतने अधिक उदार नहीं थे कि कर्णसुवर्ण जैसे उर्वर प्रदेश को राजनीतिक मित्रता के नाते भास्कर वर्मा को अर्पित कर देते[३]। अर्थशास्त्र और महाभारत में कूटनीति का यह सिद्धांत निरूपित किया गया है कि प्रत्येक राजा को अपने मित्र राजा के प्रति ऊपर से मित्रता का भाव और अंदर से अविश्वास का भाव बनाए रखना चाहिए। यही नहीं उसे मित्र-राजा को सदैव दबाए रखने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए। चाणक्य-नीति का यही सिद्धांत है और प्राचीन भारत के राजा इसी सिद्धांत का अनुसरण करते थे। ऐसी अवस्था में यह बात विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती कि महाराज हर्ष ने भास्कर वर्मा को वह देश केवल मित्रता के नाते दे दिया होगा। ह्वेनसांग के मौन-भाव से भी यही प्रमाणित होता है कि शशांक की मृत्यु के अनंतर कर्णसुवर्ण महाराज हर्ष के अधिकार में चला गया। उन के देहावसान के पश्चात् सारे देश में विप्लव मच गया और अरुण अथवा अरुणाश्व नामक किसी अज्ञात व्यक्ति ने हर्ष के साम्राज्य पर बलपूर्वक अपना अधिकार

---

[१]बसाक, 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ २२६-२७

[२]कोंगद पर आक्रमण करने के पश्चात् जब श्री हर्ष अपने देश लौट रहे थे, तब उन्हों ने सुना कि चीनी-यात्री इस समय कामरूप के दरबार में निवास करता है, अतः उन्हों ने कुमार राजा के पास एक दूत भेज कर प्रार्थना की कि ह्वेनसांग तत्काल ही उन के शिविर में भेज दिया जाय। कामरूप-नरेश ने पहले तो असभ्य शब्दों में अस्वीकार कर दिया; परंतु बाद को सम्राट् की धमकी के वश वह स्वयं ही यात्री को ले कर उन के पास गया।

[३]त्रिपाठी, 'आन दि एक्सटेंट आफ़ हर्षाज़ एम्पायर', 'जर्नल बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ ३१६

जमा लिया। इस के बाद भास्कर वर्मा ने चीनी यात्री वैंग-ह्वेन-सी के साथ उसे हरा कर कर्णसुवर्ण को अपने अधिकार में कर लिया।

क-मो-लु-पो (कामरूप)[1] :—कामरूप अथवा आसाम की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति बहुत अस्पष्ट है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि महाराज हर्ष ने अपने शासन-काल के प्रारंभ में ही कामरूप के राजा भास्कर वर्मा के साथ मैत्री-संबंध स्थापित कर लिया था। यह संबंध दोनों के लिए अत्यंत उपादेय सिद्ध हुआ। एक ओर तो शशांक की शत्रुता के कारण महाराज हर्ष को कामरूप के राजा के साथ मित्रता करना आवश्यक था और दूसरी ओर भास्कर वर्मा भी उस की महान् शक्ति से डरता था। अतः उत्तरी भारत में शशांक की बढ़ती हुई शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए थानेश्वर और कामरूप के राजाओं में मैत्री-संबंध होना अनिवार्य था। कुछ विद्वानों का मत है कि भास्कर वर्मा हर्ष का एक सामंत था। किंतु यह मत किसी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकता। कन्नौज की धार्मिक-सभा में और प्रयाग के महाभिक्षा-दान के अवसर पर कामरूप-राजा का उपस्थित रहना यह कदापि प्रमाणित नहीं करता कि वह महाराज हर्ष के अधीन था। बाण के 'हर्षचरित' में एक स्थल पर यह अवश्य लिखा है "अत्र देवेन अभिषिक्तः कुमारः[2]"। किंतु इस पद में आए हुए 'कुमारः' शब्द से भास्कर वर्मा का अर्थ लगाने का कोई यथेष्ट कारण नहीं है। यह कथन भी ठीक है कि महाराज हर्ष ने भास्कर वर्मा को यह आदेश किया था कि वह चीनी यात्री ह्वेनसाग को अपने दरबार से तुरंत भेज दे और भास्कर वर्मा ने तत्परता के साथ उस आज्ञा का पालन किया था। किंतु इस से यह प्रमाणित नहीं होता कि हर्ष के साथ कामरूप के राजा का संबंध एक सामंत के रूप में था। हां, इतना अवश्य मानना पड़ता है कि यदि हर्ष दृढ़ता के साथ उस से कोई अनुरोध करते तो वह उस अनुरोध को आदेश समझ कर उस का पालन करने के लिए तैयार रहता था। किंतु क्या हम इस से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भास्कर वर्मा हर्ष के अधीन था? स्वतंत्र होते हुए भी वह अपनी प्रगाढ़ मित्रता के कारण ऐसा कर सकता था, विशेष कर उस अवस्था में, जब वह अपने मित्र हर्ष के सामने एक छोटा राजा था। इस प्रकार इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि कामरूप का देश स्वतंत्र था।

ऊ-टू[3] अथवा ओड्र तथा कुंग-यू-टो[4] अथवा कोंगोध:—ऊड्र का आधुनिक नाम उड़ीसा और कोंगोध का गंजाम है। इन दोनों देशों की राजनीतिक स्थिति के विषय में ह्वेनसांग बिलकुल मौन है। अतः हमें अपने सिद्धांत के अनुसार इन्हें महाराज हर्ष के अधीन समझना चाहिए। चीनी-यात्री ह्वेनसांग की 'जीवनी' से हमें यह पता लगता है कि हर्ष ने उड़ीसा प्रदेश के जयसेन नामक एक विद्वान बौद्ध-श्रमण को ८० बड़े-बड़े नगरों

---

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १८९
[2]'हर्ष-चरित', पृष्ठ १२६
[3]वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ १९३
[4]वही, पृष्ठ १९७

का लगान वसूल कर लेने के अधिकार के लिए प्रस्ताव किया था[1]। यदि वे उड़ीसा के स्वामी न होते तो यह उदार-कार्य कैसे संभव होता। कोंगद का प्रदेश महानदी के दक्षिण में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित था। उपरोक्त 'जीवनी' से हमें निश्चयात्मकरूप से यह ज्ञात होता है कि महाराज हर्ष ने ६४३ ई० के लगभग इस देश पर विजय प्राप्त की थी[2]। कोंगद पर अधिकार कर लेने के बाद ही उन्हें इस बात का पता लगा था कि चीनी-यात्री ह्वेनसांग भास्कर वर्मा के दरबार में है।

नेपाल :— नेपाल के विषय में ह्वेनसांग केवल इतना लिखता है कि "नेपाल के राजा लिच्छवि-वंश के क्षत्रिय थे। वे प्रसिद्ध विद्वान और बौद्धधर्मानुयायी होते थे। अभी हाल के एक राजा ने जिस का नाम अंग-शु-फ-म (अथवा अंशुवर्मा) बताया जाता है, शब्द-तत्व पर एक ग्रंथ लिखा है।" स्वर्गीय डा० भगवानलाल इंद्रजी[3] तथा बूलर ने यह मत चलाया कि नेपाल का देश महाराज हर्ष के अधीन था। किंतु सिलवां लेवी[4] ने इस मत का विरोध किया और उसे अग्राह्य ठहराया। लेवी का कथन है कि उस समय नेपाल तिब्बत के अधीन था। वाटर्स[5] तथा एटिंगहासन ने भी लेवी का पक्ष लिया है। डा० भगवानलाल इंद्रजी तथा बूलर ने यह सिद्ध किया है कि हर्ष ने नेपाल पर विजय प्राप्त की थी। इस मत के समर्थन में उन्हों ने अपने तर्कों की विवेचना पूर्ण विस्तार के साथ की है। पीछे से डा० मजुमदार, डा० मुकर्जी तथा त्रिपाठीजी आदि विद्वानों ने भी उन के मत का समर्थन किया है। किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने के पूर्व हमें इन तर्कों पर स्वयं विचार कर लेना चाहिए।

(क) अंशुवर्मा के—जिसे ह्वेनसांग ने नेपाल का 'हाल का' राजा बतलाया है—लेखों के संवत् ३४, ३६ और ४५ हैं। इन लेखों में उसे सामंत तथा महासामंत कहा गया है। कोई सामंत अपना निज का संवत् नहीं चला सकता। अतः मालूम होता है कि अंशुवर्मा ने अपने लेखों में किसी ऐसे राजा के चलाए हुए संवत् का उल्लेख किया है जिस की अधीनता वह स्वीकार करता था। उक्त लेखों के अक्षरों को देखने से पता चलता है कि वे छठी शताब्दी के अंत अथवा सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्कीर्ण किए गए थे। ह्वेनसांग ने अंशुवर्मा को 'हाल का' राजा कहा ही है। अतः यह परिणाम निकालना असंगत न होगा कि नेपाल का राजा अंशुमान महाराज हर्ष के अधीन था और उस ने अपने लेखों में हर्ष-संवत् का ही उपयोग किया है।

(ख) जयदेव के पिता शिवदेव द्वितीय के तीन लेख उपलब्ध हैं। ये तीनों लेख

---

[1] जीवनी, पृष्ठ १५४—१५६

[2] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ८४

[3] भगवानलाल इंद्रजी—'इंडियन एंटिक्वैरी,' जिल्द १३, पृष्ठ ४२०

[4] सिलवां लेवी—स्मिथ द्वारा 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया,' पृष्ठ ३५४ की पाद-टिप्पणी में उद्धृत।

[5] वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ ८५

क्रम से ११९, १४३ और १५१ संवत् में उत्कीर्ण कराए गए थे। जयदेव का प्रथम लेख १५३ संवत् का है। जयदेव की माता वत्सदेवी मौखरि-वंश के प्रसिद्ध राजा भोगवर्मा की पुत्री और मगध के स्वामी महान् आदित्यसेन की पौत्री थी। इस प्रकार जयदेव आदित्य-सेन का प्रपौत्र ठहरा। यह बात सर्वमान्य है कि आदित्यसेन के शाहपुरवाले मूर्ति-लेख में समय का उल्लेख हर्ष-संवत् ६६ (६७२ ई०) में किया गया है। प्रपौत्र और प्रपितामह के समय में (१५३-६६) ८७ वर्ष का अंतर पड़ता है जो तीन भारतीय पीढ़ियों के काल से थोड़ा ही अधिक है। तीन पीढ़ियों का काल लगभग ७८ वर्ष का होता है। ऐसी अवस्था में इस में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रपितामह और प्रपौत्र दोनों ने एक ही संवत् (हर्ष-संवत्) का व्यवहार किया है।

(ग) नेपाल देश की वंशावलियों को देखने से हमें यह ज्ञात होता है कि अंशुवर्मा के सिंहासनारोहण के ठीक पहले विक्रमादित्य उस देश में गए थे और वहां उन्हों ने अपना संवत् चलाया था। यह विक्रमादित्य उस काल में हर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई राजा नहीं हो सकता।

(घ) वंशावलियों से हमें यह भी पता चलता है कि नेपाल में बैस राजपूतों के घराने थे। ये बैस राजपूत निश्चय ही हर्ष के साथ उस समय नेपाल गए होंगे जब कि वे उस देश को जीतने के लिए ससैन्य वहां गए थे। महाराज हर्ष बैस (फि-शे) जाति के थे। कनिंघम का कथन है कि बैस जाति तथा बैस राजपूत जाति दोनों एक ही हैं।

(ङ) बाण ने एक स्थल पर लिखा है कि "अत्र परमेश्वरेण तुषारशैल भुवो दुर्गायाः गृहीतः करः"[१]। इस का अर्थ यह है कि हिमाच्छादित पर्वतों के दुर्गम देश से हर्ष ने कर लिया। कतिपय विद्वानों का मत है कि यह हिमावृत्त पार्वत्य प्रदेश नेपाल के अति-रिक्त और कोई नहीं हो सकता। जब महाराज हर्ष ने नेपाल देश से कर लिया तो इस का अर्थ यह कि नेपाल इन के अधीन था।

डा० भगवानलाल इंद्रजी तथा बूलर ने इन्हीं पाँच तर्कों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि नेपाल का देश महाराज हर्ष के अधीन था। दूसरे पक्ष के विद्वानों ने इन तर्कों का खंडन निम्न-लिखित ढंग से किया है:—

(क) ह्वेनसांग ने अंशुवर्मा को 'हाल का' राजा बतलाया है। इस का मतलब यह है कि नेपाल में यात्री के पहुँचने के थोड़े समय पहले ही अंशुवर्मा का शासन काल समाप्त हो गया था। चीनी-यात्री वहां ६३७ ई० में गया था। एक लेख के अनुसार अंशुवर्मा का अंतिम वर्ष संवत् ४५ है। अब यदि हम उसे हर्ष-संवत् मान लें तो संवत् ४५ बरा-बर होता है (६०६+४५) सन् ६५१ ई० के। इस प्रकार यात्री के समय और अंशुवर्मा के अवसान-संवत् में १४ वर्ष का अंतर पड़ जाता है। इस से सिद्ध होता है कि अंशुवर्मा के लेखों का समय हर्ष-संवत् में नहीं दिया गया है और नेपाल हर्ष के अधीन नहीं था। १४ वर्ष के अंतर की कठिनाई को हल करने के लिए कुछ विद्वान कहते हैं कि ह्वेनसांग

---

[१] **'हर्षचरित', पृष्ठ १२९**

कभी नेपाल नहीं गया था। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उन्हों ने ऐसा लिख दिया है। किंतु वास्तव में यह कथन निरर्थक और निराधार है। ह्वेनसांग एक विश्वसनीय लेखक था। उस के लिखे हुए विवरण को हम इतना ग़लत नहीं कह सकते। अंशुवर्मा के लेखों में दिए हुए संवत् से हर्ष-संवत् के अतिरिक्त अन्य किसी संवत् का अभिप्राय हो सकता है। यह भी असंभव नहीं है कि अंशुवर्मा ने स्वयं अपना कोई स्वतंत्र संवत् चलाया हो और उसी का उल्लेख अपने लेखों में किया हो। ऐसा करना उस के लिए कुछ अनुचित नहीं था; क्योंकि वही नेपाल देश का वास्तविक शासक था। उस का स्वामी शिवदेव केवल नाममात्र का राजा था। अंशुवर्मा ने जिस संवत् का प्रयोग किया उस का व्यवहार उस के उत्तराधिकारियों ने भी किया और अन्य अनेक संवतों की भाँति एक नवीन नेपाल-संवत् भी चल पड़ा। अंशुवर्मा ने विधिपूर्वक किसी नवीन संवत् को नहीं चलाया। पहले वह अपने शासन-काल के वर्षों ही में अपने लेखों की तिथि अंकित करता रहा। परवर्ती राजाओं ने भी उसी गणना का अनुसरण किया। इस संवत् का प्रारंभ ५९० ई० के लगभग समझना चाहिए[1]।

(ख) पहले तर्क के खंडन से दूसरे में कुछ भी बल नहीं रह जाता। जयदेव का लेख जिसका समय संवत् १५३ दिया हुआ है, इस नेपाल संवत् के अनुसार (१५३+५९०) ७४३ ई० का ठहरेगा। इस समय में कोई असंगति नहीं रह जाती। इस से प्रपितामह आदित्यसेन और प्रपौत्र जयदेव के समय में ७१ वर्ष का अंतर पड़ता है। आदित्यसेन का समय ६७२ ई० और उन के प्रपौत्र जयदेव का ७४३ ई० है[2]।

(ग) वंशावलियां एक दम से अविश्वसनीय हैं। उन का काल-क्रम बिलकुल अशुद्ध है। हमें इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि महाराज हर्ष कभी विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध थे। वंशावली में लिखा है कि 'यहां विक्रमादित्य आए और उन्हों ने अपना संवत् चलाया'। संभव है कि वंशावली के संकलन-कर्ताओं ने नेपाल के प्रचलित संवत् को विक्रमादित्य के प्रसिद्ध नाम के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न किया हो[3]।

(घ) चौथा तर्क इस कथन के आधार पर अवलंबित है कि बैस जाति और बैस राजपूतों की जाति दोनों एक ही हैं। वास्तव में ये दोनों अभिन्न नहीं थे। "फी-शे" जाति लिखने से ह्वेनसांग का अभिप्राय बैस राजपूतों की जाति से कदापि न रहा होगा। वह भारत के चार वर्णों से भली भाँति परिचित था। हर्षवर्द्धन के अतिरिक्त वह अन्य अनेक राजाओं की जाति का उल्लेख करता है। अतः यह अनुमान करना असंगत न होगा कि उस ने राजा की जाति का उल्लेख किया है, राजपूतों की किसी जाति का नहीं। पारियात्र देशों

---

[1]इस विषय में रमाशंकर त्रिपाठीजी का लेख 'आन दि एक्सटेंट आफ़ हर्षाज़ एंपायर' द्रष्टव्य है—'जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९३२, पृष्ठ ३१०-११

[2]त्रिपाठी, 'आन दि एक्सटेंट आफ़ हर्षाज़ एंपायर', 'जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ ३१२

[3]वही

के राजा को भी उस ने फी-शे जाति का लिखा है। 'वर्द्धन' की उपाधि से भी यही सूचित होता है कि हर्ष वैश्य जाति के थे। यह प्रायः निश्चित है कि ह्वेनसांग का अभिप्राय यह नहीं था कि हर्ष बैस राजपूतों की जाति के थे, बल्कि यह कि वे वैश्य जाति के थे।

(ङ) 'तुषारशैलभुवो' का अर्थ बिलकुल अस्पष्ट है। हिमाच्छादित पर्वतों के दुर्गम देश से काश्मीर, नेपाल अथवा शिवालक श्रेणी या काँगड़ा प्रदेश के अनेक छोटे-छोटे पहाड़ी प्रदेशों में से किसी का तात्पर्य हो सकता है। इतिहास के विद्वानों में इस विषय पर बड़ा मतभेद है। डा० मुकर्जी 'तुषार-शैल' शब्द से काश्मीर का तात्पर्य समझते हैं और डा० भगवानलाल इंद्रजी उस से नेपाल का अर्थ लगाते हैं। वास्तव में यह कहना कठिन है कि 'तुषार-शैल' से बाण नेपाल की ओर संकेत करता है अथवा काश्मीर की ओर। यह भी संभव है कि उस से नेपाल अथवा काश्मीर में से किसी का तात्पर्य न हो। इस में संदेह करने का कुछ भी अवकाश नहीं कि उस से किसी देश का अभिप्राय अवश्य है। त्रिपाठीजी[1] का कथन है कि उक्त पद में हर्ष के किसी शक्तिशाली पार्वतीय राजा की कुमारी के साथ विवाह का संकेत है। किंतु मेरी समझ में उन का यह अनुमान ग़लत है। वास्तव में यह पद 'हर्षचरित' में अन्य पदों के साथ आता है। प्रत्येक पद श्लेषयुक्त है। एक अर्थ हर्ष के किसी न किसी विजय से संबंध रखता है। इस पद में भी किसी विजय ही का श्लेषात्मक वर्णन है। यह विजय हर्ष ने पार्वत्य प्रदेश पर पाई थी। किंतु इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह पार्वत्य प्रदेश नेपाल ही था। यहां पर यह भी कहना अनुचित न होगा कि ब्रह्मपुर के उत्तर में स्थित सुवर्ण-गोत्र देश हिमाच्छादित विशाल पर्वतों में था[2]। उस देश में स्त्रियों का राज्य था। रानी का पति राजा होता था, किंतु वह शासन नहीं करता था। संभव है 'तुषार-शैल' से उसी देश का अभिप्राय हो। यदि ऐसी बात हो, तो यह मानना पड़ेगा कि बाण ने बड़ी कुशलता के साथ रानी का उल्लेख किया है। उपरोक्त विवेचना से प्रकट होता है कि जिन तर्कों के आधार पर हर्ष को नेपाल का स्वामी और विजेता सिद्ध किया जाता है, उन में कुछ सत्यता नहीं है।

नेपाल तथा पूर्व में स्थित तत्कालीन देशों की राजनीतिक स्थिति पर हम विचार कर चुके। हमें ज्ञात हो गया कि कामरूप को छोड़कर थानेश्वर से गंजाम तक के समस्त राजे-महराजे हर्ष का आधिपत्य स्वीकार करते थे। अब हम नीचे उन राज्यों का विचार करेंगे, जो उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में थे और जिन का उल्लेख ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में किया है—

क-पि-सिह[3] (कपिशा = काफ़िरिस्तान):—भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर कपिशा नाम का एक महत्वपूर्ण राज्य था। यह राज्य सर्वथा स्वाधीन था। इस के अंतर्गत लपाक, नगर तथा गांधार नामक तीन प्रदेश सम्मिलित थे। गांधार की राज-

---

[1] त्रिपाठी, 'आन द एक्स्टेंट आफ़ हर्षाज़ एम्पायर', 'जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ ३१२

[2] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३३०

[3] वही, पृष्ठ १२२

धानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। कपिशा का राजा क्षत्रिय और बौद्ध धर्म्मानुयायी था।

उ-द्या-न[1] (उद्यान):—कनिघम[2] के मतानुसार उद्यान के अंतर्गत पंकोरा, बिजावर, स्वात और बुनीर के प्रदेश शामिल थे। ह्वेनसांग ने यहां के राजा का उल्लेख नहीं किया है किंतु जहां तक पता चलता है यह राज्य भी स्वतंत्र था।

काश्मीर[3]—काश्मीर का विशाल देश भी स्वाधीन था। उस के अधीन ५ राज्य थे—(१) तक्षशिला अर्थात् आधुनिक साहढेर, (२) सिंहपुर अर्थात् नमक के पहाड़ के उत्तर में स्थित कतस (३) उरस अर्थात् आधुनिक हज़ारा (४) पन-नु-त्सो अर्थात् आधुनिक पुनाक तथा (५) हो-लो-शी-पु-लो अर्थात् आधुनिक रजोंडी। खेद की बात है कि हमारे चीनी यात्री ने काश्मीर की राजनीतिक स्थिति के ऊपर अपने यात्रा-विवरण में अधिक प्रकाश नहीं डाला है। उस ने वहां के राजा के नाम का भी उल्लेख नहीं किया है। किंतु कल्हण के प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजतरंगिणी' की सहायता से हमें वहां के संबंध में कतिपय बातें ज्ञात होती हैं। उस के अनुसार कारकोटा वंश का संस्थापक दुर्लभवर्द्धन लौकिक संवत् के ३६७७ वें वर्ष (तदनुसार ६०१ ई०) में सिंहासन पर बैठा और उस ने ३६ वर्ष तक राज्य किया। इस से पता चलता है कि वह महराज हर्ष और ह्वेनसांग का बिलकुल समकालीन था। ह्वेनसांग का कथन है कि काश्मीर के राजा की रक्षा एक पक्ष-धारी सर्प करता था। 'कारकोट' शब्द का अर्थ भी पक्षधारी सर्प है। इस से विदित होता है कि यद्यपि चीनी यात्री काश्मीर के राजा का नाम नहीं लेता; तथापि वह कारकोटा-वंश की ओर संकेत करता है।

'जीवनी' के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि काश्मीर का राजा हर्ष का आधिपत्य स्वीकार करता था।[4] जीवनी से[5] हमें यह पता लगता है कि काश्मीर-नरेश के अधिकार में भगवान् बुद्ध का एक दाँत था। उस का दर्शन और उस की पूजा करने के लिए महाराज हर्ष ने काश्मीर की प्रधान राज्यसीमा के पास आकर उस से आज्ञा माँगी। काश्मीर का बौद्ध-संघ हर्ष के इस अनुरोध को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था। फलतः बौद्ध-संघवालों ने उस दाँत को कहीं छिपा दिया। किंतु काश्मीर के राजा ने कदाचित सम्राट् हर्ष के महान पद से भयभीत हो कर उन को अनुमति प्रदान कर दी और दाँत का दर्शन भी करा दिया। उस का दर्शन करते ही वे श्रद्धातिरेक से विह्वल हो गए और लौटते समय उस दाँत को बलपूर्वक अपने साथ उठा लाए। डा० मुकर्जी ने इसी कथा के आधार पर उपरोक्त परिणाम निकाला है। उन के कथनानुसार बलपूर्वक उठा लाने से यह ध्वनि निकलती है कि काश्मीर के राजा हर्ष

---

[1]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २२५
[2]कनिंघम, 'एंश्यंट ज्योग्राफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ८१
[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २६१
[4]मुकर्जी, 'हर्ष' पृष्ठ ४०
[5]'जीवनी', पृष्ठ १८३

के अधीन थे। किंतु वास्तव में इतने शिथिल आधार का आश्रय ले कर इतना महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालना उन का साहस मात्र है। दाँत को बलपूर्वक उठा लाने का अर्थ केवल यही है कि महाराज हर्ष काश्मीर के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उसे ले आए। हर्ष ने काश्मीर के राजा के साथ न तो युद्ध किया और न उसे जीत कर अपने अधीन ही किया।

इसी सिलसिले में हमें 'राजतरंगिणी' के एक और उल्लेख पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। उस में एक स्थल पर लिखा है "इदं स्वभेद विधुरं हर्षादीनां धराभुजां कंचित् कालं अभूत भोज्यं ततः प्रभृति मंडलम्।" इस का अर्थ इस प्रकार है—उस समय से ले कर यह देश—जो अपने आंतरिक कलह से हानि उठा चुका है—कुछ काल तक हर्ष आदि राजाओं के अधीन रहा। श्री निहाररंजन महोदय इस पद को लक्ष्य कर के कहते हैं कि "क़ाश्मीर को कम से कम एक बार तो मध्य-भारत के महान् राजा के सामने अपना घुटना टेकना पड़ा था[१]।" किंतु त्रिपाठीजी इस कथन से सहमत नहीं हैं। वे यह नहीं मानते कि महाराज हर्ष ने काश्मीर को जीत कर उस पर राज किया था। वे कहते हैं कि ऐसा मान लेने से स्टाइन महोदय के लेखानुसार काल-क्रम में सामंजस्य स्थापित करना बड़ा कठिन हो जाता है[२]। एक बात और है। काश्मीर में राज्य करनेवाले हर्ष नामक राजा के एक पुत्र था; परंतु कान्यकुब्जाधीश महाराज हर्ष के कोई पुत्र नहीं था। इन सब बातों पर विचार करने के उपरांत हमारी सम्मति में तो श्री त्रिपाठीजी का मत ही मान्य एवं समीचीन ठहरता है। ह्वेनसांग ने जो कुछ लिखा है उस से भी यही परिणाम निकलता है कि काश्मीर भी कपिशा की भाँति एक स्वतंत्र राज्य था और उस में अन्य छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे।

चेह-का[३] (तक्क) काश्मीर के पश्चात् ह्वेनसांग तक्क राज्य में पहुँचे। यह देश सिंध और व्यास नदियों के बीच बसा था। इस की राजधानी शाकल थी। इस के अधीन दो और राज्य थे। एक का नाम चीनी यात्री ने मन-लो-सन-पो और दूसरे का पो-फै-टो लिखा है। मन-लो-सन-पो मूलस्थानपुर था जिसे आज-कल मुल्तान कहते हैं। पो-फै-टो पर्वत के नाम से प्रसिद्ध था जिसे प्राकृत में पव्वत लिखा गया है। तक्क का राज्य भी कपिशा और काश्मीर आदि की भाँति हर्ष के साम्राज्य के बाहर था।

चि-न-पुह-ति[४] (चिनभुक्ति):—यह प्रदेश महाराज हर्ष के अधीन था। इस पर पहले मिहिरकुल का राज था। कनिंघम के अनुसार इस की राजधानी आधुनिक पट्टी थी। पट्टी एक प्राचीन नगर है। यह कसूर से २७ मील उत्तर-पूर्व और व्यास नदी से १० मील पश्चिम है[५]।

---

[१] निहाररंजन राय, 'हर्ष शीलादित्य ए रिवाइज़्ड स्टडी', पृष्ठ ७८०

[२] त्रिपाठी, 'जर्नल बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द १८, पृष्ठ ३०४

[३] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २८७

[४] वही, पृष्ठ २९१

[५] वही, पृष्ठ २९३

शे-लन्-त-लो[1] (जालंधर) :—इस का अधुनिक नाम जलंधर है। इस देश के साथ महाराज हर्ष का कुछ संबंध था अथवा नहीं, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। शेलंतलों के बारे में ह्वेनसांग[2] ने लिखा है कि इस देश का एक पूर्ववर्ती राजा बौद्ध-धर्मेतर मतों का संरक्षक रह चुका था। बाद को वह एक अर्हत से मिला। उस से बौद्धधर्म की शिक्षा ले कर वह उस धर्म का सच्चा अनुयायी बन गया। इस पर मध्य-देश के राजा ने उस के सच्चे विश्वास की प्रशंसा कर के उसे संपूर्ण भारत के बौद्ध-धर्म संबंधी मामलों का मुख्य निर्णायक बना दिया (परिपूर्ण अधिकार दे दिया) श्री अविनाशचंद्र बनर्जी[3] का कथन है कि मध्यदेश के राजा से ह्वेनसांग का अभिप्राय महाराज हर्ष से है। यद्यपि यह कथन आवश्यक रूप से सत्य नहीं कहा जा सकता, तथापि संभव हो सकता है कि शेलंतलो का प्रदेश हर्ष के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत रहा हो। 'जीवनी' से ज्ञात होता है कि महाराज हर्ष ने ह्वेनसांग को सीमांत प्रदेश तक पहुँचा आने के लिए शेलंतलो के राजा अती अर्थात बुद्धि को आज्ञा दी थी[4]।

कु-लू-टो[5] :—यह पार्वत्य प्रदेश हिमालय के सन्निकट ही था। यहां पर औषधियां प्रचुर परिणाम में पाई जाती थीं। कनिंघम[6] का कथन है कि व्यास नदी की उत्तरी तरेटी में स्थित कुल्लू उसी का आधुनिक नाम है। ह्वेनसांग इस राज्य के राजा का उल्लेख नहीं करता, अतः हमारे पूर्व-कथित सिद्धांत के अनुसार यह देश हर्ष के अधीन था।

शे-टो-त्-लू[7] (शतद्रू) :—इस का भौगोलिक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हमें इतना मालूम है कि सतलज नदी इस राज्य की पश्चिमी सीमा थी। ह्वेनसांग ने इस देश के राजा का उल्लेख नहीं किया है, अतः ज्ञात होता है कि चिनभुक्ति, शेलंतलों तथा कुलूटो की भाँति शतद्रू का प्रदेश भी महाराज हर्ष के अधीन था। इस स्थान पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि महाराज हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन थानेश्वर के राजा थे। अंबाला ज़िले में स्थित थानेश्वर पंजाब के सीमाप्रांत के निकट था। ऐसी अवस्था में क्या यह संभव था कि थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन का प्रभाव पश्चिम की ओर पंजाब के कुछ भाग में न रहा हो? अतः यदि हर्ष की पश्चिमी राज्य-सीमा सतलज अथवा संभवतः व्यास नदी तक विस्तृत रही हो तो इस में आश्चर्य करने की बात ही क्या है?

पो-लि-ए-टो-लो (पार्यात्र अथवा पारियात्र) :—ह्वेनसांग के अनुसार इस देश

---

[1] वाटर्स, जिल्द १ पृष्ठ २९६

[2] वही, पृष्ठ २९६

[3] अविनाशचंद्र बनर्जी, 'जरनल आफ़ दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ६, १९३१-३२

[4] 'जीवनी, पृष्ठ १८९

[5] 'वाटर्स', जिल्द १, पृष्ठ २९८

[6] कनिंघम, 'एंश्यंट ज्यौग्राफी आफ़ इंडिया', पृष्ठ १४२

[7] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २९९

[8] वही, पृष्ठ ३००

का राजा वैश्य जाति का था। वह इस देश के राजा का उल्लेख करता है, अतः हमारे सिद्धांत के अनुसार प्रतीत होता है कि यह एक स्वतंत्र राज्य था। राज्यवर्द्धन की हत्या के अनंतर जब हर्ष शशांक से प्रतिशोध लेने के लिए ससैन्य प्रस्थान कर रहे थे, उस समय मार्ग में उन के साथी राजाओं ने पारियात्र, गुर्जर आदि देशों के संबंध में जो कुछ कहा था उस का उल्लेख हम ऊपर एक स्थल पर कर चुके हैं[1]। हर्ष को प्रोत्साहित करने के लिए अलंकारपूर्ण भाव से उन्हों ने जो कुछ कहा था, उस का आशय यह था कि पारियात्र आदि देशों पर विजय प्राप्त करना बड़ा आसान है। इस कथन से यह प्रकट होता है कि पारियात्र देश उस समय स्वतंत्र था। संभव है कि बाद को इस देश पर भी महाराज हर्ष की प्रभुता स्थापित हो गई हो।

पारियात्र देश से चल कर ह्वेनसांग मथुरा पहुँचा। मथुरा से ले कर नेपाल राज्य तक जितने भी छोटे-बड़े देश उस समय थे वे सब महाराज हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत थे। ह्वेनसांग इन देशों के राजाओं का उल्लेख नहीं करता। उस का मौनावलंबन हमारे उक्त कथन का समर्थन करता है। इन अधीन देशों की कुल संख्या कान्यकुब्ज को छोड़ कर १६ थी। उन के नाम ये थे :—(१) मथुरा (२) स्थानेश्वर (३) श्रुघ्न = वर्तमान सुधगाँव[2] (४) पो-लो-हिमो-पु लो (ब्रह्मपुर[3]) (५) कु-पी-संग-न (गोविशान[4]) = वर्तमान काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत के ज़िले (६) ओ-हि-चि-ता-लो (अहिछत्र[5]) = रुहेलखंड का पूर्वी भाग (७) पि-लो-शन-ना = कालीनदी के तट पर स्थित अतरंजीखेरा में उसी का ध्वंसावशेष पाया जाता है[6] (८) कपित्थ अथवा सांकश्य[7] = आधुनिक संकिस्स (६) अयुते[8] = आधुनिक अयोध्या (१०) अ-ए-मु-क = अयोमुख अथवा हयमुख = गंगा के उत्तरी तट पर स्थित वर्तमान डौंडियाखेरा[9] (११) प्रयाग (१२) कोशांबी = इलाहाबाद ज़िले का कोसम गाँव जो यमुना के पूर्वी तट पर इलाहाबाद शहर से लगभग ४० मील दूर है (१३) विशोक (१४) शि-लो-फा-सि-ति (स्रावस्ती) = बस्ती ज़िले में स्थित राप्ती नदी के दक्षिण तट पर वर्तमान सहेत-महेत (१५)राम अथवा रामग्राम यह छोटा सा देश नेपाल की तराई में स्थित था (१६) कुशीनगर = आधुनिक कसिया (१७) पो-लो-ना-सी = आधुनिक वाराणसी (१८) फे-शे-ली (वैशाली) = आधुनिक बसाड़ या बसाढ़ और उसी के

---

[1] 'हर्षचरित' पृष्ठ २८८

[2] कनिंघम, 'एंश्यंट ज्यौग्रफ़ी आफ़ इंडिया' पृष्ठ ३४५

[3] वही, पृष्ठ ३५५

[4] वही, पृष्ठ ३५७

[5] वही, पृष्ठ ३५६

[6] कनिंघम, 'एंश्यंट ज्यौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६५

[7] वही, पृष्ठ ३६८

[8] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३५४

[9] कनिंघम, 'एंश्यंट ज्यौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३८७

पास का गाँव बखीरा। यह ज़िला मुज़फ्फरपुर में पटने[1] से २७ मील पश्चिमोत्तर दिशा में है। (१६) फु-ली-चिह अर्थात वृजियों का देश।

मथुरा से नेपाल तक विस्तृत भू-भाग के अंदर इन अधीन राज्यों के अतिरिक्त ह्वेनसांग ने और चार राज्यों का उल्लेख किया है जो स्वतंत्र थे। ये चार देश पारियात्र, मतिपुर, सुवर्णगोत्र तथा कपिलवस्तु थे। ह्वेनसांग इन देशों के राजाओं का उल्लेख करता है। पारियात्र के संबंध में हम पहले ही विचार प्रकट कर चुके हैं। मतिपुर को आजकल मडावर या मंडावर कहते हैं। यह पश्चिमी रुहेलखंड में बिजनौर के पास स्थित है[2]। यहां एक शूद्र राजा राज करता था। जब पूर्वी रुहेलखंड महाराज हर्ष के अधीन था तब यह संभव नहीं है कि पश्चिमी रुहेलखंड बिलकुल ही स्वतंत्र रहा हो। हमारा अनुमान है कि मतिपुर एक करद राज्य रहा होगा। अतः उस की गणना उन सामंत राजाओं में करनी चाहिए जिन का उल्लेख बाण प्रचुरता के साथ करता है। सुवर्णगोत्र के संबंध में कहा जाता है कि यह ब्रह्मपुत्र के उत्तर में स्थित था। इस देश में परंपरा से स्त्रियां राज्य करती थीं; रानी के पति को राजा कहते थे। इस राज्य के विषय में और अधिक हमें कुछ नहीं मालूम है। उस की भौगोलिक स्थिति संपूर्णतः अज्ञात है[3]।

कपिलवस्तु—भगवान बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में कभी राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति नहीं प्रचलित थी। यहां के भिन्न-भिन्न नगरों में भिन्न-भिन्न सरदार शासन करते थे। ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय से यहां की शासन-प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उन के समय में भी यहां गणतंत्र शासन प्रचलित था[4]। आश्चर्य नहीं कि कपिलवस्तु का देश महाराज हर्ष के ही अधीन रहा हो।

अब हमें पूर्वी मालवा अथवा उज्जैन, पश्चिमी मालवा, वलभी, भड़ौच तथा सिंध आदि देशों की राजनीतिक स्थिति पर विचार करना शेष रह गया है।

वू-शे-यन-ना[5] (पूर्वी मालवा अथवा उज्जैन):—इस देश में एक ब्राह्मण राजा राज करता था। वह हिंदू-दर्शन का बड़ा भारी पंडित था, किंतु वह बौद्ध नहीं था। मालूम होता है कि मालवा के राजा देवगुप्त की पराजय के बाद उज्जैन के राज्य पर किसी ब्राह्मण ने अधिकार स्थापित कर लिया। बहुत संभव है कि देवगुप्त के ब्राह्मण मंत्री ने ही अपने स्वामी की पराजय तथा मृत्यु के पश्चात् राज्य पर अपनी प्रभुता जमा ली हो। प्राचीन भारत में ब्राह्मण मंत्रियों ने अनेक बार ऐसा किया है। पुष्यमित्र शुंग इस का एक उदाहरण है।

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३१

[2] कनिंघम 'एंश्यंट ज्योग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३४८

[3] वाटर्स, जिल्द १ पृष्ठ ३३०

[4] वही, २ ,, १

[5] वही, २ ,, । २५०

मो-ला-पो[1] अथवा पश्चिमी मालवा—यह वलभी के मैत्रकों के शक्तिशाली राष्ट्र का एक अंग था। इस के अधीन किटा (कच्छ या खेदा) आनंदपुर और सुलच (अथवा सौराष्ट्र) के राज्य थे। ६३० ई० से ६४० तक इस देश में दुर्लभभट्ट अर्थात् ध्रुवसेन द्वितीय नामक राजा राज करता था। ह्वेनसांग[2] का कथन है कि हमारे आने के ६० वर्ष पूर्व यहां का राजा शीलादित्य था। सिलवां लेवी के अनुसार यह शीलादित्य ध्रुवसेन का चाचा शीलादित्य धर्मादित्य ही था। इस में संदेह करने का तनिक भी अवकाश नहीं है कि पश्चिमी मालवा अथवा मो-ला-पो वलभी के राजा ध्रुवसेन के अधीन था। मालवा के अंदर रतलम नामक स्थान में ध्रुवसेन के शासन-काल की दो ताम्र-लिपियां उपलब्ध हुई हैं। एक में कुछ ब्राह्मणों को राजा के भूमि-दान-का उल्लेख है। इस का समय गुप्त-संवत् ३२४ है। दूसरी ताम्र-लिपि एक वर्ष पीछे की है। उस में भी इसी प्रकार के दान का उल्लेख है। इन दोनों ताम्र-लिपियों से यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि मालवा ध्रुवसेन के ही अधीन था। अतः सिद्ध होता है कि जैसी राजनीतिक स्थिति वलभी की रही होगी वैसी ही मो-ला-पो की भी रही होगी।

फ-ल-पि (वलभी):—वलभी का राजा मालवा के भूतपूर्व राजा शीलादित्य का भतीजा और कान्यकुब्जाधीश शीलादित्य का दामाद था। उस का नाम तु-लो-पो-पो-त अर्थात् ध्रुवभट्ट था। उस का मिज़ाज़ बड़ा उतावला और विचार बड़ा संकुचित था। किंतु वह बौद्ध-धर्म का सच्चा अनुयायी था[3]। कहा जाता है कि यह ध्रुवभट्ट शीलादित्य धर्मादित्य प्रथम का भतीजा ध्रुवसेन द्वितीय ही था। ध्रुवसेन द्वितीय (६२६—६३६ ई०) के संबंध में कुछ उल्लेख पाए गए हैं। जैन-ग्रंथ 'मंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार ध्रुव 'सेवक, कृपण तथा मूर्ख' था[4]। ह्वेनसांग भी ध्रुवभट्ट को संकुचित विचार और उतावले मिज़ाज का बतलाता है। इस से विदित होता है कि उक्त जैन-ग्रंथ के रचयिता और चीनी यात्री दोनों एक ही व्यक्ति की ओर संकेत करते हैं। ऐसी अवस्था में यह परिणाम निकालना असंगत न होगा कि ध्रुवभट्ट और महाराज हर्ष के बीच बराबरी का मैत्री-संबंध नहीं था, बल्कि वह हर्ष का एक अधीन राजा और मित्र था।

हम पहले ही बता चुके हैं कि हर्ष द्वारा पराजित होने के बाद वलभी के राजा ने (गुर्जर राजा) दद्द द्वितीय के यहां शरण ली। बाद को महाराज हर्ष और वलभी के राजा के बीच एक संधि हुई, जिस के अनुसार ध्रुवभट्ट ने हर्ष की लड़की के साथ अपना विवाह किया। इस में संदेह नहीं कि इस संधि में उसे हर्ष की रक्खी हुई शर्तों को ही स्वीकार करना पड़ा था। इस से वलभी राजा की कुछ अधीनता मालूम होती है। इस संधि के करने में हर्ष का जो कुछ भी उद्देश्य रहा हो, पर इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४२

[2] वही, २४२

[3] वही, २४६

[4] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ २४

ध्रुवभट्ट ने हर्ष की कुछ अधीनता स्वीकार की। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह संधि हर्ष की राजनीतिक चाल थी। इस के द्वारा उन्हों ने पुलकेशिन के विरुद्ध अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। जो कुछ भी हो, ऊपर निकाले हुए परिणाम के अनुसार हमें यह मानना पड़ेगा कि पश्चिमी मालवा अथवा मो-ला-पो अपने अधीन राज्यों के सहित महाराज हर्ष के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत आ गया था। ध्रुवभट्ट प्रयाग की धार्मिक-सभा में भी उपस्थित हुआ था। किंतु इस से यह प्रमाणित करने की चेष्टा करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि वलभी राजा हर्ष के अधीन था। वह हर्ष का दामाद था। अतः ऐसे महत्वपूर्ण उत्सव पर एक संबंधी की हैसियत से उपस्थित होना उस के लिए आवश्यक था।

कु-चे-लो[1] अथवा गुर्जर :—यहां का राजा जाति का क्षत्रिय था। राजधानी का नाम पि-लो-मो-ली अर्थात् भीनमल=(आधुनिक बलभैर) था। राजा एक युवक था और अपनी बुद्धि एवं पराक्रम के लिए प्रसिद्ध था। बौद्ध-धर्म का वह अनुयायी था और प्रतिभा-संपन्न योग्य व्यक्तियों को आश्रय देता था। इस बात का हमें तनिक भी प्रमाण नहीं मिलता कि यह राज्य हर्ष के अधीन था।

चिह-चि-टो[2] (चिचिटो) :—चिचिटो अर्थात् जंझोटी (अथवा जेजाकभुक्ति) आधुनिक बुंदेलखंड प्रदेश का नाम था। यहां का "राजा एक ब्राह्मण था। वह बौद्धधर्म का पक्का अनुयायी था। दूसरे देश के विद्वानों और योग्य व्यक्तियों को वह प्रोत्साहित करता था। ऐसे लोग अधिक संख्या में उस के यहां उपस्थित थे।" यह देश हर्ष के अधीन नहीं था।

मो-ही-स्सु-फ-लो-पु-लो[4] (महेश्वरपुर) :—चंबल और सिंध नदियों के बीच स्थित ग्वालियर के इर्द-गिर्द का प्रदेश ही महेश्वरपुर के नाम से प्रसिद्ध था। ह्वेनसांग लिखता है कि 'यहां का राजा ब्राह्मण था, वह बौद्धधर्म का अनुयायी नहीं था'। यह देश भी हर्ष के अधीन नहीं था।

सिंध—इस के अधीन तीन राज्य थे :—एटीन-पो-चिह-लो, पि-टो-शिह-लो (आधुनिक हैदराबाद अथवा नीरन कोट[5]), अफंनू (आधुनिक ब्राह्मनाबाद या खैरपुर का प्रदेश[6]) यहां का राजा शूद्र जाति का था और बौद्धधर्म का सच्चा अनुयायी था। यह शूद्र राजा कौन था यह बतलाना कठिन है। अधिक उल्लेखनीय बात तो यह है कि

---

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४६

[2]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २५०

[3]कनिंघम, 'एंश्यंट ज्यौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ ४८१

[4]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २५१

[5]कनिंघम, 'एंश्यंट जौग्रफ़ी आफ़ इंडिया', पृष्ठ २७८-२८२

[6]कनिंघम 'एंश्यंट जौग्रफ़ी आफ़ इंडिया,' पृष्ठ २७०

बाणभट्ट के अनुसार हर्ष ने "सिंधु के राजा को चूर कर दिया और राजलक्ष्मी अर्थात् राजा के धन-संपत्ति को ले लिया[1]।" यद्यपि बाण के इस स्पष्ट कथन को अस्वीकार कर देना कठिन है तथापि सिंधु को कन्नौज का करद-राज्य मानना आवश्यक नहीं है।

ऊपर किए हुए विचार से अब हम निम्न-लिखित निष्कर्ष निकालते हैं। हर्ष के साथ जिन राजाओं का राजनीतिक संबंध था वे तीन भागों में विभक्त किए जा सकते हैं:— (क) जिन प्रदेशों के संबंध में ह्वेनसांग मौन है वे कन्नौज-राज्य के अंतर्गत संमिलित थे। (ख) इन के अतिरिक्त कुछ और प्रदेश थे जो अर्द्ध-स्वतंत्र थे और हर्ष को अपना स्वामी मानते थे। (ग) कुछ राज्य ऐसे थे जो कन्नौज-के साथ मैत्री-सूत्र में बँधे हुए थे। ये राज्य स्वतंत्र थे किंतु तो भी उन के राजा अस्पष्ट रूप से हर्ष की श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे। 'क' समूह में कुल ३१ राज्य थे। उन की राजनीतिक स्थिति के विषय में चीनी यात्री बिल्कुल मौन है। उस का ख्याल था कि महाराज हर्ष के राज्य इतने अधिक प्रसिद्ध हैं कि उन की राजनीतिक स्थिति का विशेष रूप से उल्लेख करना अनावश्यक है। निम्न लिखित राज्य इस समूह में शामिल थे :—

(१) कुलूटो या कुल्लू (२) शे-तो-तू-लू या शतद्रु देश (३) मो-तू-लो या मथुरा (४) स-ता-नी-सन-लो या थानेश्वर (५) श्रुघ्न (६) पो-लो-हिह-मो-पु-लो या ब्रह्मपुर (७) की-पी-संग-नो = गोविशान (८) ओ-हि-चि-तो-लो या अहिछत्र, (९) पि-लो-शन-नो या अतरंजी खेरा (१०) कपित्थ अथवा संकिस्स (११) अ-यु-ते या अयोध्या (१२) अय-मु-ख या डौंडियाखेर (१३) प्रयाग (१४) कौशांबी (१५) पि-सो-क (१६) शि-लो-फा-सी-तू या श्रावस्ती (१७) राम या रामग्राम (१८) कुशीनगर (१९) पो-लो-ना-सो या वाराणसी (२०) फे-शे-ली या वैशाली (२१) फु-ली-चिह या वृज्जि देश (२२) मगध (२३) इ-लन-न-पो-फे-टो या हिरण्य-पर्वत (२४) चन-पो या चंपा (२५) क-च्-वेन-कि-लो या कजंगल (२६) पुन-ना-फा-तन-नो या पुंड्रवर्द्धन (२७) समतट (२८) तन-मो-लिप-ती या ताम्रलिपि (२९) कर्णसुवर्ण (३०) वू-तू या उड़ीसा और (३१) कुंग-यू-तू या कंगोध[2]।

हम ऊपर इस बात की विवेचना कर चुके हैं कि किन-किन कारणों से ये राज्य हर्ष के अधीन माने गए हैं। उन में से कुछ प्रदेशों के संबंध में कतिपय अन्य स्वतंत्र प्रमाणों की सहायता से यह सिद्ध होता है कि वे निश्चय ही महाराज हर्ष के साम्राज्य में संमिलित थे। इन सब प्रमाणों का सारांश हम यहां एकत्रित रूप से देते हैं :—थानेश्वर हर्ष के पैतृक राज्य का एक अंग था। बंसखेरा के फलक से यह सिद्ध होता है कि अहिछत्र हर्ष के साम्राज्य के अंदर शामिल था। इसी प्रकार मधुवन के फलक इस बात को सिद्ध करते हैं कि श्रावस्ती उन के साम्राज्य के अंतर्गत संमिलित था। प्रयाग में श्रीहर्ष दान वितरित करते थे। इस से निश्चय होता है कि वह हर्ष के राज्य के बाहर नहीं था। 'जीवनी' में

---

[1] अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीयाकृता—'हर्षचरित', पृष्ठ, १२९

[2] रमाशंकर त्रिपाठी, 'आन दि एक्स्टेंट आफ् हर्षाज़ एंपायर', 'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', पृष्ठ ३२६

हर्ष को मगध का राजा कहा गया है। अतः ज्ञात होता है कि मगध भी उन के राज्यांतर्गत था। हमारे पास कोई कारण नहीं है कि इस प्रमाण की सत्यता में कुछ संदेह करें। इस के अतिरिक्त नालंद मठ के समीप ह्वेनसांग ने पीतल के पत्रों से छाया हुआ एक विहार बनवाया था। यदि हर्ष उस देश के राजा न होते तो यह कैसे संभव हो सकता था। पूर्वी भारत की ओर जाते समय शीलादित्य ने काजंगल में दरबार किया था। दूसरे राजा के राज्य में वे अपना दरबार कैसे कर सकते थे? कुछ समय तक वे उड़ीसा में शिविर डाल कर ठहरे थे; यही नहीं उन्हों ने जयसेन नामक व्यक्ति को उड़ीसा प्रदेश के ८० बड़े-बड़े नगरों का लगान दान कर दिया था, यद्यपि उस ने स्वीकार नहीं किया।

दूसरे अर्थात् 'ख' समूह में मतिपुर, उज्जैन, वलभी, मो-ला-पो तथा उस के अधीन राज्य आनंदपुर, किचा या कच्छ (अथवा खेदा), सौराष्ट्र अथवा दक्षिण काठियावाड़ तथा संभवतः सिंध के राज्य सम्मिलित हैं।

तीसरे अर्थात् 'ग' समूह में कामरूप का राज्य शामिल है।

अतः महाराज हर्ष शीलादित्य के साम्राज्य के मानचित्र में इन तीनों समूहों के राज्यों की राजनीतिक स्थिति अलग-अलग दिखानी होगी। हम कह सकते हैं कि हर्ष के राज्य में पूर्वी पंजाब का कुछ भाग, वर्तमान संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल, कोंगोद सहित उड़ीसा और वलभी, पूर्वी मालवा, पश्चिमी मालवा तथा सिंध के प्रदेश सम्मिलित थे। अंतिम चार देशों पर हर्ष प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करते थे, किंतु ये उन के प्रभाव-क्षेत्र में अवश्य ही संमिलित थे।

महाराज हर्ष के साम्राज्य के विस्तार को बहुत अधिक घटा या बढ़ा कर कहना ठीक नहीं है। ह्वेनसांग, बाण तथा दक्षिणी लेखों के सम्मिलित प्रमाणों की अवहेलना हम सहज ही नहीं कर सकते। साथ ही यह कहना भी आपत्ति से खाली नहीं है कि हर्ष उत्तरी भारत के अंतिम महान् सम्राट् थे और उन की प्रभुता विंध्याचल के उत्तर प्रायः संपूर्ण देश पर फैली थी। हर्ष के परवर्ती कन्नौज का राजा यशोवर्मा, काश्मीर का राजा ललितादित्य, गुर्जर प्रतिहारों का राजा मिहिरभोज, पालवंश का राजा धर्मपाल आदि किसी प्रकार उन से घट कर नहीं, किंतु समान थे। महानता में ये सब श्रीहर्ष की बराबरी करनेवाले थे।

पर अंकित बुद्ध के पद-चिह्नों को मिटाने का प्रयत्न किया और जब उस का सब प्रयत्न विफल सिद्ध हुआ तब उस ने उस पत्थर को गंगा में फेंकवा दिया[1]। एक दूसरे स्थान पर वह एक विशाल नगर का उल्लेख करता है जो कुशीनगर के निकट भगवान बुद्ध के देहावयव-विभाग-सूचक स्तूप के दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित था। इस नगर में भिक्षु यात्रियों के स्वागत-सत्कार के लिए एक मठ था। शशांक के अत्याचार से इन बौद्ध-भिक्षुयों की संस्था नष्ट हो चुकी थी[2]।

अन्यत्र वह लिखता है कि हाल में बौद्ध धर्म के शत्रु और उत्पीड़क शशांक ने बोधि-वृक्ष को काट कर गिरा दिया, जल तक उस की जड़ों को नष्ट कर दिया और जो कुछ बचा उसे जला दिया। कतिपय मास के उपरांत मगध के सिंहासन पर आरूढ़ महाराज अशोक के अंतिम वंशधर पूर्णवर्मा ने धार्मिक युक्तियों के द्वारा उस वृक्ष को पुनरुज्जीवित किया, एक रात को वह वृक्ष दस फीट ऊँचा हो गया[3]। आगे चल कर बोधगया के मंदिर का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग कहता है कि राजा शशांक ने बुद्ध की मूर्ति को हटा कर उस के स्थान पर शिव की मूर्ति स्थापित करने का उद्योग किया; किंतु वह अपने प्रयत्न में विफल हुआ[4]। इस प्रकार यात्री के कथनानुसार बौद्ध धर्म के प्रधान केंद्र को शशांक की धार्मिक असहिष्णुता के कारण भारी क्षति उठानी पड़ी। पूर्व में गया तथा कर्णसुवर्ण पहुँचने के समय (६३७ ई०) वह शशांक को आसन्न-भूतकालीन राजा बतलाता है।

ह्वेनसांग के अनंतर अब हम पाठकों का ध्यान महाकवि बाण की ओर आकर्षित करेंगे और यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि उस ने शशांक के विषय में क्या लिखा है। डा० राधागोविंद बसाक का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि संपूर्ण हर्षचरित में बाण ने कहीं भी शशांक के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है[5], बल्कि उस की ओर केवल गौड़ाधिपति कह कर संकेत किया है। जिस समय कुंतल ने राज्यवर्द्धन की कष्टपूर्ण हत्या का भीषण संवाद महाराज हर्ष को सुनाया उस समय श्रीहर्ष ने शोक तथा क्रोध के आवेश में गौड़ाधिपति पर उस की अनुपस्थिति में निंदापूर्ण शब्दों की बौछार की। उन्हों ने गौड़ाधिपति को गौड़ाधिपाधम[6] तथा अनार्य[7] कहा। उन के कथनानुसार निदाघकाल के रवि से भी अधिक भयंकर[8] और श्वपाक से भी अधिक

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ४२

[2] वही, पृष्ठ ४३

[3] वही, पृष्ठ ११५

[4] वही, पृष्ठ ११६

[5] बसाक 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १३६

[6] गौड़ाधिपाधमपहाय कस्तादृशं महापुरुषं..............मुक्तशस्त्रं.........मृत्युना शमयेद् यैम्—'हर्षचरित', पृष्ठ २५६

[7] अनार्यं च तं मुक्त्वा........केषां मनःसु न कुर्युरार्यशौर्यगुणाः पक्षपातं—'हर्षचरित', पृष्ठ २५६

[8] निदाघरवेरिव उग्रस्य—'हर्षचरित', पृष्ठ २५६

हीन[1] था। उन्हों ने यहाँ तक कह डाला कि उस पापी का नाममात्र लेने से मेरी जिह्वा पाप-मल से लिप्त हो जाती है[2]। प्रधान सेनापति सिंहनाद ने हर्ष को शोक का परित्याग करने तथा अवसर के अनुकूल काम करने के लिए उद्बोधित एवं उत्साहित करते समय गौड़ाधिप को दुष्ट गौड़भुजंग कहा[3]। यही नहीं, उस ने उस के लिए भीरुता तथा चरित्र-हीनता-सूचक अन्य पदों का भी प्रयोग किया। उस ने कहा क्या ऐसे कातर हृदय-वाले राजा के यहां लक्ष्मी दो दिन के लिए भी ठहर सकती है[4]। एक अथवा दो और स्थानों पर भी गौड़-राजा का उल्लेख मिलता है। जिस दिन कामरूप के नरेश भास्करवर्मा का दूत हंसवेग संधि का प्रस्ताव ले कर महाराज हर्ष के पास आता है उस दिन की संध्या का वर्णन करते हुए बाण लिखता है कि प्राची दिशा मानो 'गौड़ापराध' से शंकित हो कर श्याम पड़ गई[5]।

कामरूप के राजदूत हंसवेग को विदा करने के पश्चात् हर्ष को भंडी मिला। मालवराज की संपूर्ण सेना के सहित आ कर उस ने श्रीहर्ष को सूचित किया कि जब महाराज राज्यवर्द्धन का स्वर्गवास हो गया और कान्यकुब्ज पर किसी गुप्त नामक व्यक्ति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब राज्यश्री ने कारागार से निकल कर सपरिवार विंध्य के बन में प्रवेश किया[6]। इस संवाद को सुन कर हर्ष ने राज्यश्री को ढूँढ़ लाने का भार स्वयं अपने ऊपर ग्रहण किया और भंडी को गौड़-राजा के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए भेजा।

उपरोक्त उल्लेखों के अतिरिक्त बाण ने अपने 'हर्षचरित' में एक अन्य स्थान पर शशांक के राजनीतिक महत्व के उदय का उल्लेख प्रच्छन्नरूप से किया है। विवाद-ग्रस्त पद जिस में उक्त प्रच्छन्न उल्लेख मिलता है, इस प्रकार है :—"प्रकटकलंकमुदयमानम् .. ..अकाशात आकाशे शशांकमंडलम्[7]"। 'हर्षचरित' के अंग्रेज़ी अनुवादकों (कावेल एवं टामस) को षष्ठ उच्छ्वास के 'देवोपि हर्षः' से ले कर 'शशांकमंडलम्'[8] तक पद में अनेक महत्वपूर्ण बातें दृष्टिगोचर हुई हैं। उन का कथन है कि "इस पद में वर्णित रक्त वर्णमय सूर्यास्त से रक्तपूर्ण युद्धों का अभिप्राय है। चक्रवाक-मिथुनों का वियोग

---

[1]श्वपाकोऽपि क इवमाचरेत्—'हर्षचरित', पृष्ठ, २५६

[2]नामापिचगृह्णतोऽस्य पापकारिणः पापमलेन लिप्यत इव मे जिह्वा—'हर्षचरित', पृष्ठ २५६

[3]दुष्ट गौड़ भुजंग ...... —वही, पृष्ठ २६२

[4]कातरस्य तु शशिन इव हरिणहृदयस्य पाण्डुरपृष्ठस्य कुतो चिरात्रमपि निश्चला लक्ष्मीः—'हर्षचरित' पृष्ठ २६०

[5]गौड़ापराधशंकिनी इव श्यामतां प्रपेदे दिक् प्राची—'हर्षचरित', पृष्ठ २६४

[6]देव देवभूयंगते देवे राज्यवर्द्धने गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशस्थले देवी राज्यश्रीः परिभ्रश्य बंधनात् विंध्याटवीं सपरिवार प्रविष्टति लोकतो वार्त्तामश्रृणवम्। 'हर्षचरित', पृष्ठ —३०२-३०३

[7]'हर्षचरित', पृष्ठ २४६

[8]'हर्षचरित', पृष्ठ २४५-४६

भ्राताओं के वियोग का सूचक है, भनभनाती हुई मक्षिकाएं बाणों को सूचित करती हैं, कलंक-युक्त चंद्रमा का उदय गौड़ नरेशों की शक्ति के अभ्युदय का द्योतक है। अंतिम बात महत्वपूर्ण है, क्योंकि चंद्रमा के लिए प्रयुक्त शब्द (शशांक) 'हर्षचरित' के टीकाकार शंकर के इस कथन[1] का समर्थन करता है कि गौड़ राजा का यही नाम (जिसे ह्वेनसांग ने का-चे-चाङ्-किया लिखा है) था[2]"। 'हर्षचरित' की एक हस्त-लिखित प्रति में उस का नाम नरेंद्रगुप्त लिखा है[3]। यदि टीकाकर का उक्त कथन ठीक है तो हम को यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि बाण ने शशांक शब्द का प्रयोग कर प्रच्छन्नरूप से गौड़-राजा का नामोल्लेख किया है। 'हर्ष चरित' के टीकाकार ने गौड़-राजा का नाम शशांक बतलाया है।

डा० बूलर का यह कथन कि 'हर्षचरित' की एक हस्त-लिखित प्रति में गौड़-राजा का नाम नरेंद्रगुप्त दिया हुआ है, मनोरंजक तथा विचारणीय है। उन का यह कथन यह प्रमाणित करता है कि शशांक का संबंध गुप्त राजवंश से था। इस के अतिरिक्त उस से यह भी सूचित होता है कि भारत के अन्य अनेक प्राचीन राजाओं की भाँति उस का एक दूसरा नाम नरेंद्रगुप्त भी था, जैसा कि स्वर्गीय श्री राखालदासजी बनर्जी ने मुद्रादि प्रमाण से सिद्ध करने की चेष्टा की है। शशांक की कतिपय स्वर्णमुद्राएं उपलब्ध हुई हैं। इन में से एक मुद्रा के मुखपृष्ठ पर शिव की मूर्ति बनी हुई है, वे नंदी के बगल में बैठे हुए हैं, दाहिनी ओर 'श्रीश' तथा नंदी के नीचे 'जय' शब्द लिखा हुआ है। दूसरी तरफ़ लक्ष्मी की मूर्ति अंकित है। उन के सिर पर दोनों ओर से दो हाथी जल डाल रहे हैं। देवी के दाहिनी ओर श्रीशशांक नाम अंकित है[4]। यह सिक्का निस्संदेह शशांक का है। दो अन्य स्वर्ण-मुद्राएं भी जो अधिक संभवतः शशांक की हैं, कलकत्ता के इंडियन म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। इन में से एक मुद्रा जेसोर ज़िले के अंदर अरुणखाली नदी के निकट स्थित मुहम्मदपुर के पास प्राप्त हुई है। इस मुद्रा के एक ओर राजा की मूर्ति बनी हुई है, वे एक पलँग पर बैठे हैं और उन के दोनों पार्श्व में एक-एक स्त्री की मूर्ति अंकित है। दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति है, वे खड़ी हुई हैं और उन के चरणों पर हंस बैठा है। मुद्रा के मुख-पृष्ठ पर राजा के सिर के ऊपर 'यम' तथा पलँग के नीचे 'ध' और दूसरी ओर 'श्री नरेंद्रविनत' लिखा हुआ है[5]। दूसरी मुद्रा का प्राप्ति-स्थान अभी तक अज्ञात है। इस के एक ओर राजा की मूर्ति है, वे धनुष-बाण लिए हैं। दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति है, वे कमल के

---

[1]तथाहि कृतोऽन्तो विनाशो येन स शशांकनामा गौडाधिपतिः, शंकर की टीका
--'हर्षचरित', पृष्ठ २४१

[2]'हर्षचरित', कावेल एवं टामस का अनुवाद, परिशिष्ट बी, पृष्ठ २७९, नोट १६८-२६०

[3]बूलर महोदय ने एपिग्राफ़िआ इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ ७० में 'हर्षचरित' की उस हस्त-लिखित प्रति का उल्लेख किया है जिस में शशांक को नरेंद्रगुप्त कहा गया है।

[4]एलन, 'केटलॉग आफ़ क्वायंस इन दि बृटिश म्यूज़ियम', पृष्ठ १४७- ४८; नं० ६०६ से ६१२ तक। 'केटलॉग आफ़ क्वायंस इन दि इंडियन म्यूज़ियम', जिल्द १, पृष्ठ १२१-१२२ नं० १-८

[5]देखिए, 'इंडियन म्यूज़ियम का केटलॉग', जिल्द, १ पृष्ठ १२२, अनिश्चित नं० १

ऊपर बैठी हैं और एक कमल हाथ में लिए हैं। पहली ओर राजा की वाम भुजा के नीचे 'यम' टाँगों के बीच 'च' और दूसरी ओर 'नरेंद्रविनत' लिखा हुआ है[१]। इन मुद्राओं के आधार पर स्वर्गीय डा० बनर्जी ने कहा था कि शशांक गुप्त-वंश (अर्थात् मगध के उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के वंश) का था[२] और संभवतः महासेनगुप्त का भतीजा था। डा० राधा-कुमुद मुकर्जी का यह कथन है कि राज्यवर्द्धन के विरुद्ध मालवराज देवगुप्त के साथ शशांक ने एक युद्ध किया था, इसी अनुमान पर अवलंबित है कि वे दोनों एक ही वंश के थे[३]।

स्वर्गीय डा० बनर्जी का विचार था कि गुप्त-सम्राटों की भाँति शशांक भी 'आदित्य' की उपाधि से विभूषित था। उस की पूरी उपाधि 'नरेंद्रादित्य' थी। डा० बसाक का मत है कि 'महाशीविषइव दुर्नरेंद्राभिभवशोषित'[४] पद जिस का प्रयोग एक विशेषण के रूप में बाण ने हर्षवर्द्धन के लिए किया है, शशांक की ओर संकेत करता है। अन्य बहुसंख्यक पदों की भाँति यह भी एक श्लेषात्मक पद है। इस का अर्थ है कि महाराज हर्ष "महान सर्प की भाँति, एक दुष्ट नरेंद्र (राजा अथवा जादूगर)[५] द्वारा किए गए अपमान पर क्रुद्ध थे"। हर्ष के संबंध में 'नरेंद्र' शब्द का अर्थ केवल राजा अथवा उस नाम का कोई व्यक्ति हो सकता है।

ऊपर जिन तीन स्वर्ण-मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, उन में से दूसरी मुद्रा के मुख-पृष्ठ पर श्री एन० के० भट्टशाली को एक नाम 'समाचारदेव' लिखा हुआ दिखाई पड़ता है। किंतु यह पाठ संदेहात्मक है। समाचारदेव के वंश के साथ शशांक का संबंध जोड़ने का विचार वस्तुतः बहुत ही निर्बल आधार पर अवलंबित है[६]।

डा० बसाक ने कुछ अधिक विश्वसनीयरूप से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शशांक का संबंध जयनाग-वंश से था जिस का नामोल्लेख कर्ण-सुवर्ण के राजा के रूप में एक ताम्र-लेख में मिलता है। इस ताम्र-लेख को डा० बर्नेट ने एपिग्राफ़िआ इंडिका (जिल्द १८, पृष्ठ ६०) में प्रकाशित किया है[७]। उस लेख में 'उदुंबर' विषय का उल्लेख मिलता है। उदुंबर का राजा जयनाग का एक सामंत था और उस का नाम नारायणभद्र था। 'मंजुश्रीमूलकल्प' डा० बसाक के इस सिद्धांत का समर्थन करता है। उस में जयनाग तथा उदुंबर नगर का स्पष्ट उल्लेख है[८]।

---

[१] देखिए, इंडियन म्यूज़ियम का केटलॉग, पृष्ठ १२०, अनिश्चित नं० ३

[२] देखिए, डा० राखालदास बनर्जी का 'बांगालार इतिहास', पृष्ठ ६७

[३] मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ ७१

[४] 'हर्षचरित', पृष्ठ २२६। बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १२८

[५] 'नरेन्द्रो मंत्रज्ञः राजापि' शंकर की टीका, 'हर्षचरित', पृष्ठ २२६

[६] 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १३७

[७] बसाक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १३८

नागराजासमाह्वयो गौडराजा भविष्यति।
अंते तस्य नृपे तिष्ठं जयाद्या वर्णितद्विशौ॥

ग्रंथ की शिथिल संस्कृत भाषा से यह प्रतीत होता है कि ग्रंथकार अपने साधारण

इस प्रकार लिपि-प्रमाण से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी के अंतिम भाग में जयनाग नाम का एक राजा था जो कर्णसुवर्ण अथवा गौड़ (मध्य-बंगाल) में शासन करता था। यद्यपि 'मंजुश्रीमूलकल्प' उसे शशांक का प्रायः उत्तराधिकारी बतलाता है; किंतु वास्तव में हमें उसे शशांक का पूर्ववर्ती और प्रभाकरवर्द्धन अथवा आदित्यवर्द्धन का समकालीन राजा समझना चाहिए। जयनाग का अस्तित्व एक प्रकार की उन मुद्राओं से भी प्रमाणित होता है जो शशांक की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। उन के एक तरफ़ 'जय' लिखा है जो जयनाग का संक्षिप्त रूप है। दूसरी ओर लक्ष्मी बैठी हुई हैं और एक हाथी कुंभाभिषेक कर रहा है। डा० बसाक का सिद्धांत अनुमान पर अवलंबित है, इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं। भविष्य में किसी दिन, खोज-द्वारा किसी मुद्रा अथवा लेख के उपलब्ध होने से उन का सिद्धांत सत्य प्रमाणित हो सकता है। यहां तक तो हमने शशांक के वंश के विषय में विवेचना की है, अब हम उस की जीवन-यात्रा का कुछ वर्णन करेंगे।

जैसा कि शाहाबाद ज़िले के अंदर रोहतासगढ़ के पहाड़ी क़िले में प्राप्त मुहर के लेख से प्रमाणित होता है, शशांक ने संभवतः एक सामंत के रूप में अपने जीवन क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस मुहर पर 'श्रीमहासामंत शशांकदेवस्य' लिखा हुआ है। महासामंत की उपाधि केवल अधीन राजा ही धारण करते थे। प्रश्न यह उठता है कि शशांक का स्वामी कौन था? वह किस के अधीन था? उस का स्वामी निस्संदेह एक मौखरि राजा था। हम पहले ही कह आए हैं कि सर्ववर्मा तथा अवंतिवर्मा के समय में ही मौखरियों ने मगध पर अधिकार स्थापित कर लिया था। संभवतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि शशांक का संबंध मगध के गुप्त-राजाओं से था। हो सकता है कि जिस समय मौखरियों ने दक्षिणी बिहार पर विजय प्राप्त की, उस समय उन्हों ने शशांक के राज्य को वहां क़ायम रहने दिया हो। यह भी संभव है कि वह साहसिक व्यक्ति रहा हो और अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए बाहर गया हो। मगध के मौखरि-नरेशों के दरबार में पहुँच कर संभव है वह अपने गुणों की बदौलत मौखरि-राज्य की अधीनता में रोहतासगढ़ का शासक हो गया हो। जो कुछ भी हो, असीम आकांक्षा का व्यक्ति होने के कारण वह अपनी उस पराधीनता की स्थिति से संतुष्ट नहीं था। उस ने मगध के शासक को हानि पहुँचा कर अपने राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया। उस समय मगध का शासक संभवतः मौखरियों का वंशधर पूर्णवर्मा था[1]। शशांक ने, जो शिव का अनन्यभक्त था इसी

भविष्यवक्ता के रूप में यह घोषित करता है कि भविष्य में एक गौड़ राजा होगा। उस के नाम के प्रारंभ में 'जय' तथा अंत में 'नाग' रहेगा।

[1] ह्वेनसांग हमें बतलाता है कि मगध के सिंहासन पर आरूढ़ अशोक के अंतिम वंशधर पूर्णवर्मा ने उस बोधि-वृक्ष को पुनरुज्जीवित किया, जिसे शशांक ने नष्ट कर दिया था। यह घटना वृक्ष के नष्ट किए जाने के कुछ महीने बाद की है। पूर्णवर्मा ने यह चमत्कारपूर्ण काम निश्चय ही उस समय किया होगा जिस समय शशांक गौड़-देश में उपस्थित न रहा होगा। कनिंघम के मतानुसार पूर्णवर्मा मौखरि-वंश का राजा था। किंतु महाराज अशोक मौर्य-वंश के थे। इस से ज्ञात होता है कि या तो ह्वेनसांग ने मौखरि और मौर्य के भेद को

समय बौद्धों पर अत्याचार करना और मगध के बौद्ध धर्म-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारंभ किया। गया उस के इस अत्याचार का विशेषरूप से शिकार बना। नालंद का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध विश्वविद्यालय भी कदाचित् ही उस के इस अत्याचार से बच सका हो। संपूर्ण आधुनिक विहार ने अवश्य ही उस की अधीनता स्वीकार कर ली होगी। 'मंजुश्रीमूलकल्प' के रचयिता का कथन है कि शूरवीर राजा 'सोम' (शशांक) बनारस तक विस्तृत गंगा की तरेटी के प्रदेश पर शासन करेगा। इस के अनंतर शशांक बंगाल पर आक्रमण करने के लिए अवश्य ही अग्रसर हुआ होगा। भारतीय इतिहास के मुग़ल-कालीन बादशाह शेरशाह की भाँति उस ने भी बंगाल प्रांत की संपन्नावस्था तथा सामरिक स्थिति के महत्व को अवश्य ही समझा होगा और उसे तत्कालीन राजा से ले लिया होगा। इस के लिये शशांक को संभवतः कोई युद्ध नहीं करना पड़ा था। उस समय बंगाल देश के बिभिन्न राज्यों में ही पारस्परिक शत्रुता थी, चारों ओर अराजकता का राज था। कम से कम, उस देश की अवस्था तो बिल्कुल ही अनिश्चित थी। बंगाल का राजकोष बिल्कुल रिक्त हो गया था। शशांक मध्य-बंगाल का शासक हो गया, और गौड़ाधिपति कहलाने लगा। उस की यह विजय निश्चयतः प्रभाकारवर्द्धन की मृत्यु (६०५ ई०) के कुछ पूर्व ही हुई होगी, क्यों कि राज्यबर्द्धन के सिंहासनारोहण के पश्चात्, जब शशांक ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया उस समय बाण के कथनानुसार वह गौड़ाधिप था।

किंतु यदि हम यह मान लें कि शशांक ने कर्ण-सुवर्ण के एक स्वतंत्र राजा के रूप में ही अपने जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया और मगध से उस का कुछ संबंध नहीं था, तब यह समझना उतना आसान नहीं रह जाता कि वह कब और किस प्रकार सामंत बना। संभवतः यह अनुमान किया जा सकता है कि जब वह कर्ण-सुवर्ण का राजा था तब वह मौखरियों के आधिपत्य में आगया था। किंतु अधीन राजा की हैसियत से वह दक्षिणी बिहार के प्रांत पर शासन करता था। यह अनुमान करना असंगत-सा प्रतीत होता है कि बंगाल का एक राजा—जिस का पहले मगध से कुछ भी संबंध नहीं था—अपनी प्रभुता के केंद्र से इतनी दूर दक्षिणी बिहार में सामंत के रूप में शासन करता रहा होगा। हम संभवतः एक और अनुमान कर सकते हैं। श्री निहाररंजन राय का अनुमान है[1] कि रोहतासगढ़ की

समझने में भूल की या जैसा कि अर्वमुत्थम महोदय का कथन है, मौखरि शब्द मौर्य का अपभ्रंश हो सकता है। श्रीहर्ष की 'जीवनी' में भी, मगध के स्वामी के रूप में पूर्णवर्मा का उल्लेख मिलता है। उस ने जयसेन नामक प्रकांड विद्वान तथा बौद्ध-श्रमण को बीस नगरों का लगान देना चाहा, किंतु उस विरक्त भिक्षु ने उसे स्वीकार नहीं किया। पूर्णवर्मा की मृत्यु के पश्चात् राजा शीलादित्य ने भी उसे मगध प्रदेश का प्रधान आचार्य बनाना चाहा और साथ ही उड़ीसा के ८० नगरों का लगान देना चाहा। 'जीवनी' के इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाराज हर्ष के शासन-काल के कुछ भाग में, पूर्णवर्मा मगध में (निस्संदेह हर्ष के सामंत के रूप में) शासन करता था। उस की मृत्यु के बाद ही माधवगुप्त जो हर्ष का साथी था, मगध का राजा बनाया गया होगा।

[1] निहाररंजन राय— 'हर्षशीलादित्य—ए रिवाइज़्ड स्टडी', देखिए, 'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली', जिल्द ३ (१९२७), पृष्ठ ७७९

मुहर कन्नौज की क्रांति के पश्चात्वर्ती 'अधीनता के युग' की ओर संकेत करती है। संभव है कि गौड़ राजा पर भांडी का आक्रमण पहले सफल हुआ हो और फलतः शशांक ने महाराज हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली हो, परंतु बाद को, जैसा कि गंजाम के लेख से विदित होता है, वह स्वतंत्र बन बैठा हो। किंतु हमारे पास जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे सब इसी परिणाम की ओर संकेत करते हैं कि शशांक अपनी जीवन-यात्रा के प्रारंभ में मगध का शासक था और ग्रहवर्मा के सिंहासनारोहण के अनंतर किसी समय (६०२ ई० के लगभग) उस ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इस के बाद ही वह गौड़ देश पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ा और बिना किसी कठिनाई के उस ने गौड़ देश को अपने अधीन कर लिया। आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर लेने के पश्चात् शशांक ने अपने जीवन के सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान दिया। गुप्त राजाओं के लुप्त गौरव की स्मृति उस के चित्त-पटल पर अभी तक अंकित थी। गुप्त राजाओं की अवनत अवस्था का आंशिक दायित्व पुष्यभूति तथा मौखरि राजाओं की उन्नति पर था। शशांक ने अपने लुप्त गौरव को पुनरुज्जीवित करने के लिए एक साहसपूर्ण युक्ति सोच निकाली। उस कार्य के लिए यह आवश्यक था कि मौखरियों तथा उन के मित्र पुष्यभूति वंशवालों की शक्ति पर आघात किया जाय। जब तक प्रभाकरवर्द्धन जीवित था तब तक उस के लिए कदाचित् यह संभव नहीं था कि सुदूरस्थ कन्नौज पर आक्रमण करने का विचार करता। किंतु जब उस ने देखा कि वृद्ध राजा मृत्युशय्या पर पड़ा है और राज्यवर्द्धन हूणों पर आक्रमण करने के लिए राज्य से बाहर चला गया है, तब उस ने मालवा के स्ववंशीय राजा देवगुप्त के साथ एक संधि कर ली। इस संधि का सर्वप्रथम परिणाम यह हुआ कि जिस दिन थानेश्वर के बूढ़े राजा प्रभाकरवर्द्धन का देहांत हुआ, उसी दिन कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा की पराजय और मृत्यु हुई[1]। किंतु मालवा का राजा स्वयं राज्यवर्द्धन के हाथ से पराजित हुआ और मारा गया। इस से शशांक का मनोरथ अंशतः विफल हुआ। वास्तव में यह घटना उस के लिए नेत्रोन्मीलक सिद्ध हुई। वह कूटनीति में पक्का मैकियावेली (चाणक्य) था। खुले युद्ध में परास्त करने की चेष्टा करने के बदले उस ने धोखा दे कर राज्यवर्द्धन की हत्या कर डाली। इस जघन्य राजनीतिक हत्या का प्रमाण इतना सबल है कि हम उस की विवेचना करने के लोभ को संवरण नहीं कर सकते।

बाण का कथन है कि गौड़राजा ने राज्यवर्द्धन को—जिस का विश्वास उस के प्रति गौड़राजा के मिथ्या शिष्टाचारों के कारण बढ़ गया था[2]—अकेला और निःशस्त्र पा कर अपने ही शिविर में मार डाला। ह्वेनसांग भी कहता है कि राज्यवर्द्धन कर्ण-सुवर्ण के दुष्ट राजा द्वारा धोखा दे कर मार डाला गया[3]। बंसखेरा का ताम्र-लेख उक्त कवि और

---

[1]यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इत्यभूद् वार्त्ता तस्मिन्नेव देवो......आदि 'हर्षचरित', उछ्वास ६, पृष्ठ २५१

[2] मिथ्योपचारोपचितविश्वासं, 'हर्षचरित' उछ्वास ६, पृष्ठ २५१

[3] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४३

यात्री दोनों के कथन का समर्थन करता है[1]। कतिपय लेखक तो इस बात को भी नहीं मानते कि राज्यवर्द्धन की हत्या की गई थी। स्वर्गीय श्री अक्षयकुमार मैत्र का कथन है कि शशांक ने राज्यवर्द्धन को युद्ध में पराजित किया और फिर बंदी बना कर उस का सिर कटवा लिया[2]। स्व० राखालदास बनर्जी महोदय, उस हत्या की कथा पर विश्वास नहीं करते[3]। श्री रमाप्रसाद चंदा भी हत्यावाली कथा को सत्य नहीं मानते[4]। रमेशचंद्र मजुमदार भी हत्या में विश्वास नहीं करते[5]। किंतु दुर्भाग्य से शशांक-द्वारा राज्यवर्द्धन की कपटपूर्ण हत्या का प्रमाण इतना अधिक स्पष्ट है कि हम इन उक्त लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से सहमत नहीं हो सकते। संभवतः देश-प्रेम के भाव से प्रेरित हो कर ही इन विद्वानों ने शशांक को जघन्य हत्या के अपराध से मुक्त करने का प्रयास किया है। वे इस बात को नहीं सहन कर सके कि एक राष्ट्रीय नायक इतिहास में अधम हत्यारे के रूप में प्रसिद्ध हो। किंतु देश-प्रेम तथा सच्चे इतिहास में सदैव सामंजस्य नहीं हो सकता।

ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा राज्यवर्द्धन की हत्या के बीच में बहुत समय का अंतर था। मालवा-नरेश के विरुद्ध प्रस्थान करने के बहुत दिनों बाद राज्यवर्द्धन की हत्या का संदेश श्रीहर्ष को सुनाया गया। इस बीच में दोनों शत्रुओं ने एक दूसरे के विरुद्ध घात-प्रतिघात अवश्य ही किया होगा। ज्ञात होता है कि शशांक लड़ाई को आगे जारी रखने में असमर्थ था; क्योंकि वह बहुत दिनों से अपनी राजधानी के बाहर था। अतः अंत में उस ने राज्यवर्द्धन के पास संधि करने के लिए झूठे प्रस्ताव भेजे। अपने प्रस्ताव में उस ने राज्यवर्द्धन के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देने की भी इच्छा प्रकट की थी। भोला-भाला निष्कपट राजा राज्यवर्द्धन उस के इस जाल में फँस गया। विवाह की आशा से प्रलोभित हो कर वह उस के प्रस्तावों पर बात-चीत करने के लिए शत्रु के शिविर में निःशस्त्र जा पहुँचा,[7] और अपने अनुचर-वृंद के सहित मारा गया। राज्यवर्द्धन की

[1] गाणानुज्झित वानराति भवने सत्यानुरोधेनयः।

[2] देखिए स्वर्गीय अक्षयकुमार मैत्र की 'गौड़राजमाला' जिसे मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'हर्ष' में (पृष्ठ १६ टिप्पणी) उद्धृत किया है।

[3] 'हिस्ट्री आफ़ उड़ीसा', जिल्द १, पृष्ठ १२६

[4] 'गौड़राजमाला', पृष्ठ ८-१० जिसे बसाक ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है—देखिए, पृष्ठ १४६

[5] 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ बेंगाल', पृष्ठ १७ (बसाक-द्वारा, पृष्ठ १४६ में उद्धृत)

[6] अतिक्रांतेषु च बहुषु वासरेषु—'हर्षचरित', पृष्ठ २२४

[7] विवाह-प्रस्ताव संबंधी सूचना हमें 'हर्षचरित' के टीकाकार शंकर से मिलती है। उन्हों ने लिखा है कि एक दूत-द्वारा अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव भेज कर शशांक ने वर्द्धन राजा को प्रलोभित किया। जिस समय वह भोजन कर रहा था उस समय गौड़-राजा ने भेष बदल कर उस का वध किया। [शशांकेन विश्वासार्थं दूतमुखेन कन्या प्रदानमुक्त्वा प्रलोभितो राज्यवर्द्धनः स्वगेहे सानुचरो भुंजमान एव छद्मनः व्यापादितः] इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सेनापति स्कंदगुप्त ने हर्ष को क्या उपदेश

हत्या करने के उपरांत शशांक ने कन्नौज पर अपना अधिकार जमा लिया। राज्यश्री का, जो मालवा-नरेश की आज्ञा से कारागार में बंद कर दी गई थी, गुप्त नामक कुलपुत्र ने जो एक दयालु और वीर पुरुष था उद्धार किया[1]। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्यश्री का उद्धार करनेवाला स्वयं शशांक था। किंतु यह मत बिल्कुल भ्रमपूर्ण है। हम निश्चयत्माकरूप से कह सकते हैं कि उस ने राज्यश्री का उद्धार नहीं किया। जो कुछ भी हो कारागार से मुक्त होने के उपरांत वह विंध्य के जंगलों में भाग गई।

जब हर्ष को कुंतलक से राज्यवर्द्धन की हत्या का संदेश मिला, तब वे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्हों ने दुष्ट गौड़-राजा से बदला लेने की प्रतिज्ञा की। उन्हों ने शशांक पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया और सरस्वती नदी के तट पर अपना पड़ाव डाला। शीघ्र ही मार्ग में उन्हें भांडी मिला जो मालवाराज की सेना के साथ वापस आ रहा था। भांडी को राज्यवर्द्धन की हत्या और कारागार से राज्यश्री के निकल भागने की केवल उड़ती हुई ख़बरें ही मिली थीं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस समय कन्नौज में अथवा उस के निकट राज्यवर्द्धन मारा गया उस समय भांडी वहां उपस्थित नहीं था। मालवा-नरेश की पराजय के पश्चात् राज्यवर्द्धन ने उसे थानेश्वर भेज दिया था[2]। बहिन के भागने के समाचार को सुन कर श्रीहर्ष बहुत दुखित हुए। वे तत्काल उस की खोज करने के लिए रवाना हुए और भांडी को गौड़ देश पर आक्रमण करने की आज्ञा दी।

राज्यवर्धन की हत्या के उपरांत शशांक के ऊपर क्या बीता, यह एक ऐसा रहस्य है जिस का उद्घाटन करना सरल नहीं है। बाण इस संबंध में हमें कुछ भी नहीं बतलाता। संभव है कि मगध अथवा अन्य किसी स्थान में उपद्रव खड़ा हो गया हो और उस के कारण वह अपने राज्य को तुरंत चल पड़ा हो।

दिया था। उस ने कहा था "अपने देश के आचार के अनुकूल, स्वभावतः सरल हृदय से उत्पन्न होनेवाली, सब पर विश्वास करने की जो आदत है उसे छोड़ दीजिए।" इस उपदेश के साथ ही उस ने अनेक उदाहरण भी दिया था कि किस प्रकार असावधानी के कारण समय-समय पर अनेक राजाओं को भीषण आपत्तियां उठानी पड़ीं। जैसा कि डा० बसाक हमें बतलाते हैं, स्कंदगुप्त ने स्त्रियों के कारण असावधान हो जानेवाले पुरुषों की भारी भूलों पर अधिक ज़ोर दिया है। डा० बसाक कहते हैं कि जब तक हम यह नहीं मान लेते कि स्कंदगुप्त के कथन में राज्यवर्द्धन की दुखद मृत्यु की ओर संकेत है—क्योंकि एक स्त्री के प्रलोभन में पड़ कर ही उस ने विचारशून्य कार्य किया और अपना प्राण खोया—तब तक उस के सत्परामर्श तथा उदाहरणों का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। बसाक, 'हिस्ट्री, आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ १४८

[1]भुक्त्वांश्च बंधनात् प्रभृति विस्तरतः स्वसुः कान्यकुब्जात् गौड़संभ्रमे गुप्तितो गुप्तनाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासनं, निर्गतायाश्च राज्यवर्द्धन मरण श्रवणं श्रुत्वांचाहम् निराकरणं अनाहार परिहतायाश्च विन्ध्याटवी पर्यटनखेदं जातनिर्वेदायाः पावकप्रवेशोपक्रमणं यावत् सर्व्वमश्रृणोत् व्यतिकरं परिजनतः—'हर्षचरित', पृष्ठ ३२३

[2]रामप्रसाद चंदा, 'गौड़राजमाला', पृष्ठ ८–१०

ज्ञात होता है कि भांडी ने जिसे श्रीहर्ष ने शशांक पर आक्रमण करने के लिए भेजा था, उसे गौड़ राज्य को वापस लौट जाने के लिए विवश किया। मगध पर से अपना अधिकार उठा कर शशांक पीछे हट गया। यद्यपि बाण के ग्रंथ से इस बात पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता कि गौड़ देश पर किए गए हर्ष से आक्रमण का क्या परिणाम हुआ, तथापि 'मंजुश्रीमूलकल्प'[1] की सहायता से हमें शशांक के उत्तरकालीन जीवन के संबंध में कुछ बातें मालूम होती हैं। उस के कथनानुसार राजा जिस का नाम 'ह' अक्षर से प्रारंभ होता है—अर्थात् हर्ष पूर्वी भारत की ओर बढ़ा और पुंड्र नगर में जा पहुँचा। दुष्ट कर्म करनेवाला सोम, पराजित हुआ। वह अपने राज्य के अंदर बंद पड़े रहने के लिए विवश किया गया। किंतु मालूम होता है कि गौड़-देश के लोगों ने श्रीहर्ष का स्वागत नहीं किया। वे निर्द्वंद्वभाव से धीरे-धीरे अपने राज्य को लौट आए। उन्हों ने इस बात पर संतोष कर लिया कि मैंने विजय प्राप्त कर ली है।

इस प्रकार शशांक साफ़ बच गया। उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं उठानी पड़ी। पूर्व के इन सुदूरस्थ प्रदेशों पर महाराज हर्ष अपनी प्रभुता नहीं स्थापित कर सके। जैसा कि गंजाम के लेख से विदित होता है, शशांक निस्संदेह ६१९ ई० के लगभग सम्राट् के रूप में शासन करता था[2]। यह लेख उस के सामंत, शैलोद्भव-वंश के महाराज, महासामंत माधवराज द्वितीय का है जिस ने सूर्य-ग्रहण के अवसर पर, कोंगद में सालिम नदी के तट पर स्थित एक गाँव ब्राह्मणों को दान कर दिया। उक्त लेख गुप्त-संवत् ३०० का है। हम निश्चयात्मक रूप से यह तो नहीं कह सकते कि इस समय उस के राज्य का विस्तार ठीक-ठीक कितना था; किंतु इतना ज्ञात है कि उस में उड़ीसा तथा बंगाल का प्रायः अधिकांश भाग संमिलित था।

शशांक का देहावसान ६१९ और ६३७ ई० के मध्य में किसी समय हुआ। ६३७ ई० में ह्वेनसांग ने जो इस समय पूर्वी भारत में भ्रमण कर रहा था उसे आसन्न भूतकाल हाल का राजा लिखा। शशांक की मृत्यु के फलस्वरूप महाराज हर्ष को उस के राज्य को अपने राज्य में मिला लेने का अवसर प्राप्त हुआ। यही कारण है कि बंगाल में

---

[1] पराजयामास सोमाख्यं दुष्टकर्मानुचारिणम्।
ततो निषिद्धः सोमाख्यो स्वदेशेनावतिष्ठतः॥
निवर्तयामास हकाराख्यः म्लेच्छराज्येसपूजितः।
तुष्टकर्मा हकाराख्यो नृपः श्रेयसा चार्थधार्म्मिणः॥
स्वदेशेचैव प्रयातो यथेष्ट गतिनापि वा

'मंजुश्रीमूलकल्प' श्लोक ७२५-७२७

देखिए जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', संस्कृत भाग, ५३

[2] चतुरुदधिसलिलवीचिमेखला निलीनायां सद्वीपनगर पत्तनवत्यां वसुंधरायां गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्रीशशांक राजेशासति:

गंजाम का लेख—'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द, ६ पृष्ठ १४४

कर्णसुवर्ण तथा अन्य स्थानों पर शासन करनेवाले व्यक्ति के नाम के संबंध में ह्वेनसांग मौन है। कर्णसुवर्ण पर बाद को राजा भास्कर वर्मा ने अपना अधिकार जमा लिया।

प्राचीन भारत के इतिहास के एक बहुत आकर्षक व्यक्ति का यह इतिहास है और हमें यह मानना पड़ेगा कि उस का बहुत-सा अंश कल्पना और अनुमान पर अवलंबित है। उस का व्यक्तित्व इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लेता है। उस के जीवन का कार्य-कलाप वास्तव में अलौकिक तथा प्रायः कथात्मक है। वह नाटककार की कला के लिए एक उपयुक्त विषय था। भारत के राजनीतिक गगन पर उस का उदय प्रायः अलक्षित रूप से हुआ। वह केवल अपनी योग्यता की बदौलत ही एक महान् व्यक्ति बन गया और राजाओं तथा अन्य लोगों के ध्यान को उस ने अपनी ओर आकर्षित किया। वे सभी उस से भय खाते थे। उस के शत्रु उस से घृणा करते थे। ज्ञात होता है कि उस के जटिल चरित्र में उस की उच्च आकांक्षा ही सर्वप्रधान विशेषता थी। प्रकृति ने उसे अनेक बड़े-बड़े गुण प्रदान किए थे। वह बड़ा कुशल और बहादुर सैनिक था। कूटनीति में वह पारंगत था। जब तक उस ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर ली[१] तब तक उस की आकांक्षा तथा देश-प्रेम के उत्साह ने उसे दम नहीं लेने दिया। वह प्रधानतः एक कार्यपरायण तथा व्यवहारिक कार्यकर्ता था, बौद्धिक अथवा अध्यात्मिक वीर न था। सातवीं शताब्दी के प्रारंभिक दर्शकों में वह भारत के राजनीतिक गगन-मंडल में चंद्रमा की भाँति चमकता था। किंतु उस चंद्रमा में बड़े-बड़े धब्बे भी थे। उस के उज्ज्वल चरित्र का वास्तव में एक दूसरा पहलू भी था। उसे उचित-अनुचित का इतना कम विचार था कि उस के चरित्र की विवेचना करते समय इतिहासकार के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह उसे भारत के महान् शासकों तथा राजनीतिज्ञों की श्रेणी में स्थान दे। भारतीय अर्थशास्त्र के वे दूषित सिद्धांत उस के दिमाग़ में घुस गए थे जिन के अनुसार विजय की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए सब कुछ कर सकता था, अच्छे-अच्छे कामों के द्वारा भुलावा दे कर बात-चीत करने के लिए अपने घर पर बुलाए हुए व्यक्ति की हत्या कर डालने का काम किसी देश अथवा काल के नैतिक सिद्धांतों के अनुसार कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। फिर हमारे देश में तो उस का समर्थन और भी नहीं हो सकता क्योंकि कि यहां राजा और प्रजा दोनों समान रूप से नैतिक आचरण का अत्यधिक आदर करते हैं।

किंतु केवल निर्दयता और नैतिक विचार-शून्यता ही उस के दोष नहीं थे। उस में धार्मिक सहिष्णुता नहीं थी, यद्यपि यह देश सभी मतों और संप्रदायों के प्रति सहिष्णु होने के लिए बहुत प्रसिद्ध है। वह शैव था, अतः बौद्धों का सर्वनाश करना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता था[१]। शशांक प्राचीन भारत के उन थोड़े-से शासकों में से

---

[१]'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भी उसकी धार्मिक असहिष्णुता का उल्लेख है। इस ग्रंथ के अनुसार उस ने बुद्ध की मनोरम मूर्ति को तोड़ दिया तथा धर्म की सेतु को नष्ट कर दिया--

है, जिन्हों ने धार्मिक अत्याचार किया। प्राचीन भारत का कोई भी निष्पक्ष इतिहासकार उसे योग्य अथवा महान् शासक नहीं मान सकता।

ध्रुवभट्ट

श्रीहर्ष के अन्य समकालीन राजाओं में से वलभी-नरेश ध्रुवभट्ट कामरूप के राजा भास्करवर्मा तथा चालुक्य-राजा पुलकेशी द्वितीय उस के प्रत्यक्ष संपर्क में आए। अतः इस स्थल पर संक्षेप में उन के इतिहास का उल्लेख करना असंगत न होगा। ध्रुवभट्ट का नाम इस पुस्तक में अनेक बार आया है। वह क्षत्रिय जाति का था और ६४१ ई० के लगभग, जिस समय ह्वेनसंग वलभी-देश में पहुँचा, वह वहां शासन करता था। वह मालवा के भूतपूर्व राजा शीलादित्य धर्मादित्य का भतीजा और महाराज हर्ष का दामाद था। वह उतावले स्वभाव तथा संकुचित विचार[1] का मनुष्य था; किंतु बौद्धधर्म का वह सच्चा अनुयायी था। हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीहर्ष ने उस के साथ युद्ध किया और अंत में एक संधि की। इस संधि के अनुसार महाराज हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह उस के साथ कर दिया। वह कन्नौज की धार्मिक परिषद् में सम्मिलत हुआ था और ६४३ ई० में प्रयाग के भिक्षादानोत्सव में भी वह उपस्थित था।

भास्कर वर्मा

कामरूप का राजा भास्कर वर्मा जाति का ब्राह्मण था। वह सुस्थित वर्मा का पुत्र था और रानी श्यामादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के कथनानुसार वह विद्या का प्रेमी और विद्वानों का आश्रयदाता था। यद्यपि वह स्वयं बौद्ध न था; फिर भी योग्य बौद्धों के साथ वह आदर का बर्ताव करता था[2]।

भास्कर वर्मा के जीवन की सब से अधिक महत्वपूर्ण घटना महाराज हर्ष के साथ उस का मैत्री-संबंध करना था। शशांक के साथ उस की शत्रुता थी और वास्तव में इसी कारण श्रीहर्ष के साथ उस ने मैत्री-संबंध स्थापित किया था। सभी विद्वान इस कथन से सहमत हैं। इस संबंध में कामरूप-नरेश के दूत हंसवेग के उस पद का कुछ महत्व हो सकता है जिस में उस ने अपने स्वामी की ओर से श्रीहर्ष के साथ अजिट संधि करने का प्रस्ताव किया। हंसवेग ने बतलाया कि हमारे स्वामी ने यह दृढ़ संकल्प किया है कि शिव के चरण-कमलों के अतिरिक्त कभी अन्य किसी के सामने मैं अपना मस्तक नत नहीं करूँगा[3]।

संस्कृत श्लोक इस प्रकार है–

नाशयिष्यति दुर्मेधः शास्तुर्बिम्बा मनोरमाम्।
जिनैस्तुकथितपूर्वं धर्मसेतुमनल्पकम्॥..........श्लोक ७१६

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४६

[2]वही जिल्द १, पृष्ठ १८६

[3]अयमस्य च शैशवादारभ्य संकल्पः स्थेमान् स्थाणु पादारविंदद्वयादृते नाहमन्यम् नमस्कुर्यामिति॥ ईदृशश्चयं मनोरथः त्रयाणामन्यतमेन संपद्यते—सकलभुवनविजयेन वा मृत्युना वा यदि वा जगत्येक वीरेण देवोपमेन मित्रेण।— 'हर्षचरित,' पृष्ठ २९९

उस का यह संकल्प तीन साधनों में से किसी एक के द्वारा पूरा हो सकता है। संपूर्ण पृथ्वी की विजय द्वारा, मृत्यु के द्वारा अथवा महाराज हर्ष के समान मित्र के द्वारा। इस कथन से विदित होता है कि चाहे जिस कारण से हो, भास्कर वर्मा को अपने दृढ़ संकल्प की रक्षा करना कठिन प्रतीत हुआ। श्रीहर्ष के साथ संधि का प्रस्ताव करने का सब से अधिक संभव कारण यह था कि शशांक के साथ उस की शत्रुता थी। हर्ष ने उस के प्रस्ताव को उत्सुकता के साथ स्वीकार किया; क्योंकि अपने भ्रातृहंता गौड़-राजा पर आक्रमण करने के लिए उन्हें एक मित्र राजा की सहायता की आवश्यकता थी।

हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि शशांक पर प्रथम बार आक्रमण करने के समय भास्कर वर्मा ने महाराज हर्ष की कुछ सक्रिय सहायता की थी अथवा नहीं। डा० बनर्जी ने अपने ग्रन्थ 'बागांलार इतिहास', में यह अनुमान किया है कि श्रीहर्ष तथा भास्कर वर्मा दोनों ने मिल कर शशांक को पराजित करने में सफलता प्राप्त की। यद्यपि यह बात ठीक है कि शशांक पराजित हुआ; किंतु हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि भास्कर वर्मा ने उस के विरुद्ध किए गए आक्रमण में हर्ष को किसी प्रकार की सहायता प्रदान की। किंतु जैसा कि निधानपुर के ताम्रलेख सिद्ध करते हैं, कर्णसुवर्ण बाद को भास्कर वर्मा के अधिकार में आ गया था। ऐसा कब और कैसे हुआ, इस विषय पर हम पहले विचार कर चुके हैं।

पुलकेशी द्वितीय

श्रीहर्ष के समाकालीन दक्षिणी राजा पुलकेशी द्वितीय के संबंध में, 'हर्ष की विजय' शीर्षक अध्याय में काफ़ी लिखा जा चुका है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ह्वेनसांग ने जो ६४१ ई० में उस के दरबार में पहुँचा था, उस के संबंध में क्या लिखा है। उस ने लिखा है कि "अपने शूरवीरों के बल पर निर्भय होकर राजा ने पड़ोसी देशों के साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया। वह जाति का क्षत्रिय था। उस की उदारतापूर्ण प्रभुता दूर-दूर तक फैली थी। उस के सामंत पूर्ण राजभक्ति के साथ उस की सेवा करते थे। इस समय राजा शीलादित्य महान् पूर्व तथा पश्चिम में आक्रमण कर रहे थे। पास-पड़ोस तथा दूर-दूर के देश उन को अधीनता स्वीकार कर रहे थे; किंतु महाराष्ट्र ने उस की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया"[१]। डा० विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार[२] वह ६३० ई० के लगभग, नर्मदा नदी के दक्षिण में निस्संदेह सब से अधिक शक्तिशाली सम्राट् था। यही समय ऐहोड़े के लेखों का है जो उस की विजयों और कार्य-कलाप का उल्लेख प्रशंसात्मक शब्दों में करते हैं। पुलकेशी का सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य श्रीहर्ष पर विजय प्राप्त करना था। उस की इस विजय की विवेचना हम विस्तार के साथ पीछे कर चुके है। इस विजय की स्मृति कई पीढ़ियों तक बनी रही और बाद के जन-समुदाय ने इसे प्रायः अंतर्राष्ट्रीय महत्व की घटना माना।

---

[१]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २३९

[२]स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ २४२

षष्ठ अध्याय

हर्ष के शासनकाल की कुछ अन्य घटनाएं

महाराज हर्ष का दीर्घ शासन-काल केवल विजय-कार्यों के लिए ही प्रसिद्ध नहीं था, अपितु उस में अन्य उल्लेखनीय घटनाएं भी घटित हुईं; जिन का उल्लेख भगवान् बुद्ध के चरण-चिह्नानुयायी ह्वेनसांग ने किया है। हर्षकालीन भारत का पूर्ण विवरण देने के लिए हम वास्तव में चीनी यात्री के ऋणी तथा कृतज्ञ हैं और रहेंगे। हम देख चुके हैं कि बाण के ग्रंथों से हमें श्रीहर्ष के शासन के कुछ प्रारंभिक मासों का ही वृत्त उपलब्ध होता है। उस के वर्णन से हमें यह भी नहीं ज्ञात होता कि अपने शत्रु शशांक पर महाराज हर्ष ने जो आक्रमण किया, उस का क्या परिणाम हुआ। विंध्य-बन के सघन मध्यभाग में, दिवाकर मित्र के आश्रम के समीप, राज्यश्री की पुनः प्राप्ति का वर्णन कर के बाण मौन हो जाता है। इस में संदेह नहीं कि राज्यश्री की प्राप्ति का जो विवरण वह अपने ग्रंथ में देता है, वह आश्चर्यजनक रूप से सजीव तथा मनोरंजक है। भांडी अपने साथ मालवराज[1] की जो सेना लाया था उस का निरीक्षण कर के श्रीहर्ष राज्यश्री की खोज करने के लिए रवाना हुए और कुछ दिनों के बाद वे विंध्य के वन में जा पहुँचे। वहां जंगल में उन्हों ने एक बस्ती (वन-ग्रामक) देखी। बाण ने उस का जो सजीव तथा विस्तृत वर्णन किया है वह वास्तव में पठनीय है[2]। उस गाँव के बाहर हो कर वे विंध्य के जंगल में जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर कुछ समय तक तो वे इधर-उधर घूमते रहे। अंत में एक दिन, उस बन के करद सरदार (अटवीं सामंत) शरमकेतु का पुत्र व्याघ्रकेतु, निघति नामक एक पहाड़ी आदमी के साथ राजा के पास आया। आवश्यकता, नियम और

---

[1] 'हर्षचरित', पृष्ठ ३०३ 'साधनं सपरिवर्हं मालवराजस्य'

[2] 'हर्षचरित', पृष्ठ ३०३-३०८

क़ानून आदि की अवहेलना कर, सब कुछ करा लेती है। अतः श्रीहर्ष भी उस व्यक्ति से जो पाप का फल-स्वरूप ही था,[1] आदरपूर्ण शब्दों में बोलने के लिए बाध्य हुए। वैसा सम्मानपूर्ण व्यवहार उन्हों ने कदाचित् अपने सर्वप्रधान मंत्रियों के साथ भी नहीं कभी किया था। राजा ने कहा मुझे कोई ऐसी युक्ति बताओ, जिस से राज्यश्री हमें मिल जाय। निघति ने बौद्ध मुनि दिवाकर मित्र के आश्रम की ओर संकेत कर के कहा वहां जाइए, वे शायद आप की बहिन के संबंध में कुछ बतला सकेंगे। जिस दिशा की ओर उस ने संकेत किया था उसी दिशा में महाराज हर्ष चल पड़े। एक बीहड़ बन के बीच से हो कर वे अंत में दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचे। वहां बौद्ध तथा ब्राह्मण-धर्म के विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी विद्याध्ययन में लगे हुए थे और तप करते थे। दिवाकर मित्र, मृत राजा ग्रहवर्मा के बाल्यकाल के एक सखा थे। वे पहले मैत्रायणी शाखा के एक ब्राह्मण गुरु रह चुके थे[2]। उन्हों ने अपने शांत तथा श्रद्धाजनक रूप, अपनी नम्रता, अपनी आध्यात्मिक शक्ति तथा अपने उग्र तपाचरण के द्वारा श्रीहर्ष पर बड़ा प्रभाव डाला। उस समय वे युवावस्था में थे। पारस्परिक अभिवादन तथा प्रशंसा के पश्चात् राजा ने मुनि से पूछा कि क्या आप मेरी बहिन के बारे में कुछ पता दे सकते हैं? मुनि राज्यश्री के विषय में कुछ नहीं जानते थे। एक भिक्षु ने जो उन की बात-चीत के समय मुनि के आश्रम पर आया था, बतलाया कि एक स्त्री निराश हो कर चिता में जल मरने के लिए तैयार है। महाराज हर्ष ने सोचा कि जिस स्त्री की चर्चा भिक्षु करता है वह अभागिनी राज्यश्री के अतिरिक्त और कोई नहीं है। फलतः वे और उन के पीछे-पीछे बौद्ध मुनि दोनों तुरंत उस स्थान पर जा पहुँचे जहां राज्यश्री चिता में जलने के लिए उद्यत थी। संयोगवश ठीक समय पर पहुँच जाने से हर्ष ने उस का उद्धार किया। महाकवि बाण हमें एक हृदयद्रावक पद में बतलाते हैं कि राजकुमारी तथा उस के साथ की अन्य स्त्रियां जो उस के साथ चिता में जलने के लिए तैयार थीं, कितनी निराश एवं शोकाभिभूत हो गई थीं।[3] श्रीहर्ष के बहुत कहने पर अंत में राज्यश्री अपने संकल्प को छोड़ने के लिए राज़ी हुई। राजा ने उसे चिता के पास से हटा कर एक वृक्ष की जड़ पर बैठा दिया। किंतु शोकग्रस्ता राजकुमारी ने मरने के संकल्प का परित्याग करने के पश्चात् काषायवस्त्र धारण करने की इच्छा प्रकट की। किंतु बौद्धमुनि ने उसे ऐसा करने से रोका और कहा कि तुम्हारे बड़े भाई और संरक्षक हर्ष जैसी सलाह दें, उसी के अनुसार चलो। वास्तव में हर्ष स्वयं इतनी जल्दी उस की इच्छा के सामने अपना सिर झुकाने के लिए तैयार न थे। वे नहीं चाहते थे कि राज्यश्री इस अल्पावस्था में अपने दुःख को भूल जाने के लिए भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करे। उन की इच्छा थी कि अभी

---

[1] 'फलमिव पापस्य' 'हर्षचरित', पृष्ठ ३११

[2] श्रूयते हि तत्रभवतः सुगृहीतनाम्नः स्वर्गतस्य ग्रहवर्मणो बालमित्रं मैत्रायणी यस्त्रयीं विहाय ब्राह्मणायनो विद्वानुत्पन्न समाधिः सौगते मते युवैक काषायाणि गृहीतवान्—
—'हर्षचरित', पृष्ठ३१२

[3] 'हर्षचरित', पृष्ठ ३२२-३२४ तथा ३२७-३२६

कुछ समय तक राज्यश्री का पालन करने और शत्रु से बदला लेने के संकल्प को पूरा करने का अवसर मुझे मिले। महाराज हर्ष ने मुनि से राजधानी तक चलने और बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों पर उपदेश दे कर राज्यश्री के शोक को शांत करने की प्रार्थना की[1]। उन के सौभाग्य से दिवाकरमित्र ने उन के विनम्रतापूर्ण शब्दों में किए हुए निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। इस पर राजा को बहुत प्रसन्नता हुई। वे गंगा के तट पर पड़े हुए अपने सेना के पड़ाव को लौट गए[2]।

हर्ष के शासन-काल की सब से अधिक उल्लेखनीय घटनाओं में से एक घटना यह थी कि चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत का भ्रमण करने के लिए आया। उस के जीवन-चरित तथा उस के कार्यों का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। महाराज हर्ष से ह्वेनसांग ६४३ ई० में बंगाल में मिला और कन्नौज की धार्मिक परिषद् तथा प्रयाग-दानोत्सव में सम्मिलित हुआ। ये निस्संदेह हर्ष के समय की उल्लेखनीय घटनाएं थीं और ह्वेनसांग ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में उन का विस्तृत तथा मनोरंजक वर्णन किया है। धार्मिक परिषद् करने का वास्तविक उद्देश्य धार्मिक प्रचार करना था। सम्राट् श्रीहर्ष महायान संप्रदाय के सिद्धांतों को हीनयान मत के सिद्धांतों से श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहते थे। उन्हों ने ह्वेनसांग से कहा, "मैं कान्यकुब्ज में एक बड़ी सभा करने का इरादा करता हूं और महायान की ख़ूबियों को दिखाने तथा उन के चित्त के भ्रम का निवारण करने के लिए, श्रमणों ब्राह्मणों तथा पंचगौड़ के बौद्धधर्म्मेतर मतावलंबियों को आज्ञा देता हूं कि आ कर उस में सम्मिलित हों ताकि उन का अहंभाव दूर हो जाय और वे प्रभु के महान् गुण को समझ लें[3]।

परिषद की बैठक फ़रवरी अथवा मार्च के महीने में हुई। उस में अठारह देशों के राजा और तीन हज़ार श्रमण जो महायान तथा हीनयान दोनों संप्रदायों के सिद्धांतों में पूर्ण पारंगत थे, सम्मिलित हुए। इन के अतिरिक्त तीन सहस्र ब्राह्मण एवं निर्ग्रंथ अर्थात् जैन और नालंदा मठ के एक हज़ार पुरोहित भी उपस्थित थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि हर्ष के शासन-काल में जितने भी प्रधान धर्म देश में प्रचलित थे, यह परिषद् उन सब की एक प्रतिनिधि महासभा थी। प्रतिनिधि-गण अपनी साहित्यिक पटुता तथा तर्ककला के लिए प्रसिद्ध थे। पांडित्य तथा योग्यता में वे देश के चुने हुए व्यक्ति थे। वे सभी अपने दल-बल के साथ आए थे। सारी सभा बड़ी शानदार दिखाई पड़ती थी। उस महती सभा में जितने राजा सम्मिलित हुए थे, उन में वलभी तथा कामरूप के नरेश सर्वश्रेष्ठ थे। अभ्यागतों को बड़े आराम के साथ शिविरों में टिकाया गया था। ये शिविर घास-फूस के बने हुए झोपड़े थे। सम्राट् स्वयं एक महल में ठहरे थे, जो उसी अवसर के लिए बनाया गया था।

---

[1] अतः किञ्चिदभ्यर्थये भदंतम् इयं हिनः स्वसाबाला बहुदुःख खेदिता च...... यावज्ञालनीया नित्यमस्माभिश्च भ्रातृवधा......आदि—'हर्षचरित', पृष्ठ ३३६

[2] कटकं अनुजाह्नविनिविष्टं प्रत्याजगाम—'हर्षचरित', पृष्ठ ३४०

[3] जीवनी, पृष्ठ १७६

प्रतिनिधियों के बैठने के लिए दो बड़े-बड़े कमरे (हाल) पहले से तैयार किए गए थे। उन में दो सहस्र व्यक्तियों के बैठने के लिए स्थान था। सभा-भवन में पूरे आकार की बनी हुई बुद्ध की स्वर्ण-मूर्ति के लिए एक सिंहासन बना था। सी० यू० की० के कथनानुसार सभा का स्थान एक बड़ा संघाराम था जिस के पूर्व भाग में १०० फ़ीट ऊँची एक मीनार थी। वहीं पर राजा के क़द के बराबर बुद्ध की एक स्वर्ण-मूर्ति स्थापित थी।

धार्मिक परिषद का विधिपूर्वक उद्‌घाटन करने के पूर्व, तीन फ़ीट ऊँची बुद्ध की मूर्ति का एक शानदार जुलूस निकाला गया। यह मूर्ति हाथी की पीठ पर रक्खी गई थी। जुलूस के साथ राजा शीलादित्य स्वयं थे। मूर्ति की दाहिनी ओर हाथ में चँवर लिए हुए श्रीहर्ष इंद्रदेव के स्वरूप और बाईं ओर कुमार राजा ब्रह्मराज के रूप में चल रहे थे। राजा लोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, त्यों-त्यों वे मोती, सोने के फूल तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएं लुटाते जाते थे। ह्वेनसांग तथा राज्य के प्रधान-प्रधान मंत्री, राजा के पीछे विशाल-काय हाथियों पर सवार थे। तीन सौ अन्य हाथियों पर विभिन्न देशों के राजा, मंत्री तथा प्रधान-प्रधान पुरोहित सवार थे। जब जलूस सभा-भवन के समीप पहुँचा तब सब लोग हाथियों पर से उतर पड़े और बुद्ध की मूर्ति को बड़े कमरे में ले गए। वह मूर्ति एक बड़े सिंहासन पर जो उसी के लिए बनाया गया था, स्थापित कर दी गई। इस के उपरांत महाराज हर्ष तथा ह्वेनसांग ने उस मूर्ति पर बहुमूल्य वस्तुएं चढ़ाईं। फिर बड़े कमरे में अठारह राजाओं का प्रवेश कराया गया। उन के पश्चात् एक सहस्र चुने हुए विद्वान् पुरोहित, पाँच सौ चुने हुए ब्राह्मण तथा बौद्धेतर धर्मानुयायी और विभिन्न देशों से आए हुए दो सौ बड़े-बड़े मंत्री प्रविष्ट कराए गए। जिन को बड़े कमरे में स्थान नहीं दिया गया उन्हें प्रवेश-द्वार के बाहर बैठने की आज्ञा दी गई। एकत्रित अतिथियों को भेज दिया गया। तदुपरांत श्रीहर्ष, ह्वेनसांग तथा अन्य पुरोहितों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार बुद्ध की मूर्ति पर चढ़ावे चढ़ाए। तदनंतर महायान बौद्ध-धर्म के ऊपर वाद-विवाद प्रारंभ हुआ। ह्वेनसांग को वाद-विवाद का अध्यक्ष बनाया गया। वाद-विवाद का उद्‌घाटन करने के पूर्व ह्वेनसांग ने अपने भाषण में महायान संप्रदाय के सिद्धांतों की खूब प्रशंसा की। इस के बाद उस ने वाद-विवाद के विषय को घोषित किया और नालंदा के एक श्रमण को श्रोता-समुदाय के संमुख, तर्कपूर्ण रीति से उस विषय का समर्थन करने की आज्ञा दी। स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध-धर्म-संबंधी अध्ययन के लिए नालंदा के विद्वत्समाज को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी। सभा के फाटक के बाहर, एक तख्ती लटका कर, वाद-विवाद का विषय सार्वजनिकरूप से घोषित कर दिया गया था। उस तख्ती में निम्न-लिखित शब्दों में प्रत्येक को चुनौती भी दी गई थी। "यदि कोई व्यक्ति प्रस्ताव में एक शब्द भी तर्क-विरुद्ध दिखाए अथवा वाद-विवाद में उलझन पैदा[१] कर दे तो मैं विपक्ष के अनुरोध से उस के बदले अपना सिर कटाने को तैयार हूं।

[१]जीवनी, पृष्ठ १७६

रात्रि के पहले किसी ने भी इस चुनौती को ग्रहण नहीं किया। अवांछनीय परिणाम की आशंका से किसी को उस का जवाब देने का साहस ही नहीं हुआ। डा० विंसेंट स्मिथ का मत है[1] कि वाद-विवाद एक-तरफ़ा था, विवाद की शर्तें न्याय-संगत न थीं। हर्ष इस बात पर तुले हुए थे कि उन का कृपापात्र विवाद में पराजित न होने पावे। संभव हो सकता है कि उन्हीं के पक्ष तथा मत के लोगों से सभा-भवन के खचाखच भरे होने के कारण अथवा उन की अप्रसन्नता के भय से किसी ने आगे बढ़ने का साहस न किया हो। इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता कि उस प्रतिष्ठित विद्वत्समाज में विपक्षी-दल का एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो महायान बौद्धमत के पोषक ह्वेनसांग के सामने खड़ा हो कर अपनी शक्ति की परीक्षा करने का साहस करता।

जो कुछ भी हो, महाराज हर्ष इस बात से प्रसन्न थे कि कोई विपक्षी विरोध करने के लिए आगे नहीं बढ़ रहा है। किंतु बहुत-से लोग राजा के पक्षपात के कारण पहले से ही असंतुष्ट तथा रुष्ट हो गए थे। इस सांप्रदायिक शत्रुता के परिणाम-स्वरूप कुछ लोगों ने ह्वेनसांग की हत्या करने के लिए एक षड्यंत्र रचा। जब श्री हर्ष को मालूम हुआ कि ह्वेनसांग का प्राण खतरे में है तब उन्हों ने एक घोषणा-पत्र निकाल कर सब को सूचित किया कि "यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य को स्पर्श करेगा अथवा चोट पहुँचावेगा तो उसे प्राण-दंड दिया जायगा और जो कोई उन के विरुद्ध कोई बात कहेगा उस की जीभ काट ली जायगी; किंतु जो लोग उन के उपदेशों से लाभ उठाना चाहते हों वे सब मेरी सत्कामना पर विश्वास रक्खें और इस घोषणा-पत्र से भयभीत न हों।"[2]

इस घोषणा-पत्र का परिणाम वही हुआ जो राजा चाहते थे। वाद-विवाद की विजय-प्रतिष्ठा से अपना प्राण सब को स्वभावतः अधिक प्यारा होता है। अतः किसी को ह्वेनसांग के विरुद्ध कुछ करने का साहस न हुआ; क्योंकि वह राजकीय कृपारूपी लौहवर्म से सुरक्षित था। अठारह दिन बीत गए, ह्वेनसांग ने अंत में महायान संप्रदाय की प्रशंसा की और सभा भंग हो गई। ह्वेनसांग की विजय के उपलक्ष्य में, नगर के अंदर उस का एक शानदार जुलूस निकाला गया और साथ ही यह घोषणा की गई कि उस ने सभी विरोधियों को परास्त कर महायान के सिद्धांत की सत्यता तथा हीनयान संप्रदायवालों के भ्रम को प्रमाणित कर दिया।

सी० यू० की० के कथनानुसार ह्वेनसांग की हत्या करने के लिए कोई षड्यंत्र नहीं रचा गया था। हां, स्वयं सम्राट् का वध करने के लिए एक षड्यंत्र अवश्य रचा गया था। धार्मिक सभा के लिए जो अस्थायी मठ बनाया गया था, उस में सहसा आग लग गई और उस का अधिकांश नष्ट हो गया। संभव है ह्वेनसांग के धार्मिक शत्रुओं ने आग लगाने का निंदनीय कार्य किया हो। ह्वेनसांग पर राजा की बड़ी कृपा थी और वे सब इस बात से जलते थे। किंतु इस के अनंतर जो कुछ हुआ, उस से साफ़ मालूम होता

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६१

[2] जीवनी, पृष्ठ १८०

है कि स्वयं राजा का प्राण लेने का प्रयत्न किया गया था। महाराज हर्ष अन्य राजाओं के साथ अग्नि-कांड का दृश्य देखने के लिए बुर्ज के शिखर पर चले गए थे। जिस समय वे सीढ़ी से नीचे उतर रहे थे उस समय हाथ में छूरा ले कर एक विधर्मी ने उन पर आक्रमण किया। वह हत्यारा (दुष्ट) तुरंत गिरफ़ार कर लिया गया। उस ने स्वीकार किया कि मैं विधर्मियों के द्वारा सम्राट् की हत्या करने के लिए नियुक्त किया गया था। उस ने यह भी बतलाया कि वे सब इस बात से रुष्ट हैं कि राजा बौद्ध-धर्मावलंबियों पर विशेष कृपा रखते हैं। षड्यंत्र के मुख्य-मुख्य नायकों को प्राण-दंड दिया गया और लगभग ५०० ब्राह्मणों को निर्वासित किया गया।

यह घटना बहुत महत्वपूर्ण है और देश की तत्कालीन धार्मिक वैमनस्यपूर्ण अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती है। इस से केवल यही नहीं सिद्ध होता कि उस समय देश में विरोधी संप्रदायों के बीच धार्मिक शत्रुता एवं वैमनस्य का भाव फैला हुआ था, बल्कि हमें इस बात का भी कुछ आभास मिलता है कि बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच कैसा संबंध था। जिस व्यक्ति ने महाराज हर्ष की हत्या करने की चेष्टा की थी वह ब्राह्मण था और जिन लोगों को दंड दिया गया था वे सभी उसी की भाँति विधर्मी थे। यह बात स्पष्ट है कि षड्यंत्र ब्राह्मणों ने किया था। वे यह देख कर सशंकित हो गए थे कि सम्राट् हमारे विरोधी बौद्ध-धर्मानुयायियों पर अत्यधिक कृपा रखते और उन्हें आश्रय देते हैं।

ब्राह्मण-धर्म को—जिस ने गुप्त-सम्राटों की प्रबल संरक्षता में बड़ी उन्नति कर ली थी—हूणों के आक्रमण से धक्का लगा था। जिस प्रकार भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् दक्षिण हिंदू-धर्म का केंद्रस्थल बन गया था, ठीक उसी प्रकार मालूम होता है कि हूणों के आक्रमणों के उपरांत भी ब्राह्मण लोग दक्षिण चले गए और वह छठीं तथा सातवीं शताब्दी में पौराणिक हिंदू-धर्म का केंद्र बन गया। वैदिक यज्ञ-धर्म को एक नया प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन ब्राह्मणों ने मीमांसादर्शन के अध्ययन-अध्यापन को पुनरुज्जीवित किया। डाक्टर भंडारकर ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि अधिकांश प्रसिद्ध ब्राह्मण-लेखकों के नाम के साथ 'स्वामी' की उपाधि लगी है[१]। उन का कथन है कि इस उपाधि का प्रयोग किसी विशेष समय में होता था और उन्हीं लोगों को यह उपाधि दी जाती थी जो यज्ञीय कर्म-कांड में पारंगत होते थे। मालूम होता है कि वह प्रारंभिक चालुक्य-राजाओं का ही काल था। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न राजकुलों के राजाओं ने जिन ब्राह्मणों को दान दिया, उन के नाम के अंत में 'स्वामिन्' शब्द लगा रहता था। उड़ीसा के शैलोद्भव तथा वलभी के मैत्रकों ने जिन ब्राह्मणों के नाम दान-पत्र जारी किए उन के नाम के अंत में 'स्वामी' शब्द लगा था। गुप्त राजाओं के समय में भी हूणों के आक्रमण के पूर्व हमें ऐसे नाम मिलते हैं जिन के अंत में 'स्वामी' शब्द है। उदाहरणार्थ चंद्रगुप्त द्वितीय के मंत्री का नाम शिखरस्वामी था और संभव है कि वह याज्ञिक कर्म-कांड का प्रकांड पंडित रहा हो। जैसा कि जायसवाल महोदय कहते

---

[१] **भंडारकर, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ दि डेकन', पृष्ठ ८२-८३**

हैं[1], यह असंभव नहीं है कि नाम के अंत में लगा हुआ 'स्वामी' शब्द यज्ञीय कर्मकांड के ज्ञान का सूचक रहा हो। यह उपाधि याज्ञिकों को प्रदान की जाती थी जो यज्ञ करते थे। ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष के शासन-काल के पूर्वार्द्ध में याज्ञिकों का बड़ा प्रभाव था, किंतु उत्तरार्द्ध में हर्ष बौद्ध-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए थे। उन्हों ने पशु-वध का निषेध कर दिया और वे प्रकट रूप से बौद्ध-धर्म का पक्ष लेने लगे। बौद्ध-धर्म याज्ञिक विधि-विधान का विरोधी था। अतः ब्राह्मणों में असंतोष का भाव फैलने लगा और उन का यह असंतोष उस समय पराकाष्टा को पहुँच गया, जिस समय महाराज हर्ष ने अपने साम्राज्य की राजधानी में धार्मिक परिषद् की और ब्राह्मणों के साथ प्रायः अपमान-जनक व्यवहार किया। राजा का यह व्यवहार उन्हें बुरा लगा और फलतः उन्हों ने राजा की हत्या करने का षडयंत्र किया। जैसा कि वैद्य महोदय कहते हैं[2], यह भी हो सकता है कि पूर्वमीमांसा के महान् आचार्य कुमारिलभट्ट हर्ष के शासन के उत्तरकाल में बहुत प्रसिद्ध हो गए हों और उन के अनुयायियों ने महाराज हर्ष की अंतिम धार्मिक-सभा में बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रवल विरोध किया हो।

इस के पश्चात् ह्वेनसांग महाराज हर्ष के शासन-काल की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना का वर्णन करता है। यह प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर होनेवाला पंचवर्षीय दान वितरणोत्सव था। श्रीहर्ष के समय का यह छठा उत्सव था। अन्य किसी स्थान की अपेक्षा यहां पर दान करने का धार्मिक माहात्म्य बहुत अधिक समझा जाता था और अति प्राचीन-काल से अनेक राजा दान देने के लिए यहां पर आया करते थे। इसी लिए इस का एक नाम 'दान-क्षेत्र' भी पड़ गया था। इस दानोत्सव में सभी सामंत राजा और अनुमानतः पाँच लाख मनुष्य संमिलित हुए थे। राजाज्ञा का पालन कर श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रंथ, निर्धन तथा अनाथ सभी राजा के हाथ से दान लेने के लिए एकत्रित हुए थे। एक वर्गाकार हाता बनाया गया था, जो हज़ार फ़ीट लंबा और हज़ार फ़ीट चौड़ा था। बीच में, घास-फूस के बहुत-से झोंपड़े बने थे जिन के अंदर सोना, चांदी, इंद्रनील तथा महानील जैसे सुंदर मोती आदि बहुमूल्य कोष जमा थे। उन से कम मूल्यवान वस्तुएं; जैसे रेशमी और सूती वस्त्र, सोने और चांदी के सिक्के आदि अन्य बहुसंख्यक भांडार-गृहों में रक्खे थे। हाते के बाहर भोजन करने के लिए स्थान बने थे। विश्राम करने के लिए लगभग १०० लंबे-लंबे झोंपड़े बने हुए थे जिन में से प्रत्येक में एक हज़ार आदमी सो सकते थे।

उत्सव के प्रारंभ में, अनुचरदलों के साथ राजाओं का एक शानदार जुलूस निकला। पहले दिन, घास-फूस के बने हुए एक अस्थायी भवन में बुद्ध की मूर्ति स्थापित की गई और बहुमूल्य वस्तुएं तथा प्रथम श्रेणी के बहुमूल्य वस्त्र वितरित किए गए। दूसरे तथा तीसरे दिन क्रमशः आदित्यदेव (सूर्य) तथा ईश्वरदेव (शिव) की मूर्तियां

---

[1] जायसवाल, 'दि बुक आन पोलिटिकल साइंस बाई शिरवर प्राइममिनिस्टर आफ़ चंद्रगुप्त'; देखिए 'जर्नल आफ़ बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १६३२, पृष्ठ ३७-३६

[2] वैद्य, 'मेडीएवल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३३६

स्थापित की गईं। किंतु पहले दिन जितनी वस्तुएं दान की गईं थीं उन की आधी ही वस्तुएं दूसरे और तीसरे दिन दान में दी गईं। चौथे दिन, बौद्ध-धर्म-संघ के चुने हुए दस हज़ार धार्मिक व्यक्तियों को दान दिया गया। उन में से प्रत्येक को १०० स्वर्ण-मुद्राएं, एक सुंदर मोती और एक उम्दा सूती कपड़े के अतिरिक्त भोजन, शरबत, फूल और सुगंधित पदार्थ मिले। अगले २० दिनों में राजा ने बहुत-से ब्राह्मणों को दान दिया। तदनंतर बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म से इतर मतावलंबियों की बारी आई। उन्हें आगामी १० दिनों तक दान मिलता रहा। इस के उपरांत १० दिनों तक उन लोगों को दान दिया गया जो आमंत्रित नहीं किए गए थे और दूर-दूर के देशों से आए थे। अंत में एक मास तक ग़रीबों, अनाथों तथा असहाय लोगों को दान दिया गया।

दान-वितरण करते-करते राजा का खजाना ख़ाली हो गया। अश्व-गज-दल तथा सैनिक सामग्रियों के अतिरिक्त, संग्रहीत कोष में से कुछ भी शेष न बचा। ये अवशिष्ट वस्तुएं शासन का कार्य चालित रखने के लिए आवश्यक थीं। महाराज हर्ष ने अपने निजी हीरे-जवाहरों तथा आभूषणों को भी दान कर दिया। अंत में, अपनी निर्धनता के चिह्न-स्वरूप उन्हों ने अपनी बहिन राज्यश्री के हाथ से दिए हुए जीर्ण-शीर्ण (लबादे) वस्त्र को धारण किया और दसो दिशाओं के बुद्धों की अर्चना की। यह सब कुछ कर चुकने के पश्चात् वे यह सोच कर प्रसन्न थे कि मैंने अपनी समग्र संपत्ति पुण्य-खाते में लगा दी है और भगवान् बुद्ध का 'दशबल' प्राप्त करने के लिए मैंने अपना मार्ग प्रशस्त कर लिया है।[1]

सभा के समाप्त होने के कुछ ही समय पश्चात् ह्वेनसांग ने अपने देश चीन 'स्वर्गीय साम्राज्य' को वापस जाने के लिए प्रस्थान किया। महाराज हर्ष का आदेश पा कर जालंधर के राजा उदित ने उस के साथ एक सैनिक रक्षक-दल कर दिया। सम्राट् स्वयं उसे दूर तक पहुँचाने गए। यात्री की बिदाई के समय उन का हृदय बहुत दुखित था।

प्राचीन भारत में उपरोक्त प्रकार के धार्मिक उत्सव का प्रर्याप्त प्रचलन था, उसे मोक्ष कहते थे। ज्ञात होता है कि मो-ला-पो के शीलादित्य ने भी मोक्ष-परिषद् की थी[2]। कपिशा के राजा प्रति वर्ष बुद्ध की १८ फ़ीट ऊंची चांदी की मूर्ति बनवाते थे और मोक्ष-परिषद् के अवसर पर, निर्धनों, विधवाओं तथा विधुरों को मुक्तहस्त से दान देते थे[3]। ध्यान देने के योग्य एक मनोरंजक बात यह है कि महाकवि बाण भी अपने 'हर्षचरित' में एक स्थल पर दान-वितरणोत्सव का उल्लेख करते हैं। बाण ने महाराज हर्ष से सर्व प्रथम मणितारा नामक स्थान पर उन के शिविर में भेंट की थी। एक पद में श्री हर्षवर्द्धन

---

[1]जीवनी, पृष्ठ १८७

[2]वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ २४२

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १२३

का उस समय का वर्णन करते हुए बाण यह वाक्य लिखते हैं कि "उन का वक्षस्थल हार के मुक्ताफलों के किरण-जाल से ऐसा आच्छादित, था मानो वह जीवन-काल में प्राप्त, समस्त संपत्ति का महादान-दीक्षा-सूचक संकीर्ण वस्त्र-खंड था[1] ।

महाराज हर्ष के शासन-काल की कदाचित् अन्य कोई ऐसी घटना हमें ज्ञात नहीं है जिस का उल्लेख किया जा सके । युद्धक्षेत्र में उन्हों ने जितनी सफलता प्राप्त की, शांति-स्थापन-कार्य में उस से कम सफलता उन्हें नहीं मिली । डा० विंसेंट स्मिथ का कथन है कि उन के "सारे साम्राज्य में यात्रियों, निर्धनों तथा रोगियों के हित के लिए अशोक के ढंग पर परोपकारी संस्थाएं स्थापित की गई थीं । नगरों तथा देहातों में धर्मशालाएं बनवाई गई थीं और वहां (ग़रीबों के लिए) खाने-पीने का प्रबंध किया गया था । धर्मशालाओं में वैद्य भी रक्खे गए जो बिना किसी बंधन के मरीज़ों को दवाएँ देते थे । अशोक की ही भाँति हर्ष ने भी हिंदू देवताओं की उपासना के लिए मंदिर तथा बौद्धों के लिए मठ स्थापित किया ....बहुसंख्यक मठ बनाए गए थे और गंगा के किनारे-किनारे कई हज़ार स्तूप स्थापित किए गए थे, जिन में से प्रत्येक लगभग १०० फ़ीट ऊँचा था । निस्संदेह ये मंदिर, मठ तथा स्तूप मुख्यतः लकड़ी और बांस के बने थे और यही कारण है कि अब उन का कोई चिह्न शेष नहीं रह गया है[2] ।

हर्ष की मृत्यु

हमें यह ज्ञात नहीं है कि महाराज हर्ष अपने जीवन के अंतिम तीन-चार वर्षों में किस कार्य में लगे थे । हमारा अनुमान है कि उन्हों ने अपना यह समय धर्म-चिंता तथा धार्मिक कार्यों में अतिवाहित किया । जिस तलवार का उपयोग उन्हों ने छत्तीस वर्षों तक किया, उसे अंत में म्यान के अंदर बंद कर दिया । बात यह थी कि शासन की चिंताओं से मुक्त हो कर वे विश्राम करना चाहते थे । इस के अतिरिक्त एक हिंदू-नरेश होने के नाते उन्हें केवल इसी जीवन की चिंता नहीं थी, बल्कि, "पुण्य का वृक्ष आरोपित करने की चेष्टा में वे इतने संलग्न थे कि अपना सोना और खाना भी भूल गए",[3] ताकि परलोक में उस का फल मिल सके । उन की आकांक्षा थी कि हम बुद्धत्व को प्राप्त हो जायं । जब प्रयाग में दान-वितरण का उत्सव समाप्त हुआ था तब पुण्यात्मा राजा ने कहा था, "ईश्वर करे कि मैं आगामी जन्म-जन्मांतरों में सदा इसी प्रकार अपने धन-भंडार को मानव-जाति को धार्मिक रीति से दान करता रहूं, और इस प्रकार अपने को बुद्ध के दस बलों से संपन्न कर लूं[4] ।" ६४६ ई० के अंतिम दिनों में अथवा ६४१ ई० के प्रारंभ में मृत्यु ने

---

[1] जीवितावधिगृहीत सर्वस्व महादानदीक्षा चीवरेणेव हारमुक्ताफलानां किरणनिकरेण प्रावृतवक्षः स्थलम् । 'हर्षचरित', कावेल ऐंड टामस पृष्ठ ११९

[2] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३२८

[3] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४४

[4] जीवनी, पृष्ठ १८७

आ कर उन की जीवन-लीला को समाप्त कर दिया[1]। उन के इस संसार से विदा होते ही सारे देश में एक बार अव्यवस्था और अराजकता फैल गई।

महाराज हर्ष का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। बाण के एक कथन[2] से प्रमाणित होता है कि उन्हों ने अपना विवाह किया था। फिर या तो उन की रानियों से पुत्र ही नहीं उत्पन्न हुए अथवा उत्पन्न हो कर उन के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे। ज्ञात होता है कि राज्यवर्द्धन का भी कोई पुत्र उन की मृत्यु के समय जीवित नहीं था। जो कुछ भी हो, राजकुल में ऐसा एक भी व्यक्ति न था जो योग्यतापूर्वक रिक्त सिंहासन पर बैठता और अराजकता के बढ़ते हुए वेग को रोकता। चीनी ग्रंथों में हमें, उत्तराधिकार के संबंध में एक विचित्र कथा मिलती है। उस कथा के अंतर्गत जो अनेक महत्वपूर्ण बातें विस्तार के साथ कही गई हैं वे मेरे विचार से विश्वास करने योग्य नहीं है; यद्यपि ज्ञात होता है कि डाक्टर स्मिथ जैसे आलोचनात्मक दृष्टि-कोण के इतिहासकार को भी वह कथा अविश्वसनीय नहीं प्रतीत हुई। कथा इस प्रकार है :—

जब श्रीहर्ष कालकवलित हो गए और उन के पीछे कोई उत्तराधिकारी न रहा तब मृत राजा से एक मंत्री ने जिस का नाम अरुणाश्व अथवा अर्जुन था, सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। उस समय चीनी मिशन जिस का अध्यक्ष वांग-ह्वेन-सी था, भारत में मौजूद था। वांग-ह्वेन-सी तिब्बत भाग गया, जहां उस समय स्रांग-सैन-गंपो नामक राजा शासन करता था। वहां पहुँच कर उस ने एक सेना संगठित की और अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। उस ने तिरहुत के प्रधान नगर को ध्वस्त कर दिया। अर्जुन भाग निकला और एक नई सेना एकत्रित कर के वह शत्रु के साथ फिर से लगा। किंतु इस युद्ध में वह बड़ी बुरी तरह से पराजित हुआ। विजेता ने सारे राज-परिवार को क़ैद कर लिया और बहुत-सा माल लूटा। ५८० प्राचीर-परिवेष्ठित नगरों ने उस की अधीनता स्वीकार कर ली और पूर्वी भारत के राजकुमार ने उस की विजयी सेना के लिए बहुत से मवेशी, अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध के अन्य आवश्यक सामान भेजे। अर्जुन को क़ैद कर के वांग-ह्वेन-सी चीन ले गया।[3]

इस कथा को स्मिथ, लेवी, वैडेल तथा उन का अनुसरण करनेवाले अन्य विद्वानों ने सत्य माना है। अर्जुन बिल्कुल एक अज्ञात व्यक्ति है। भारत के किसी भी ग्रंथ अथवा लेख आदि में उस का उल्लेख नहीं मिलता। तथापि उस के सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार करने की बात को सत्य मानने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। भारत के

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६६

[2] कलत्रं रक्षस्विति श्रोस्ते निस्त्रिंशे अधिवसति 'हर्षचरित्र', पृष्ठ २२३

[3] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया,' पृष्ठ ३६७

स्मिथ महोदय ने 'जर्नल एशियाटिक' (१९००) में प्रकाशित सिलवां लेवी के उस लेख का उल्लेख किया है जिसमें वांग-ह्वेन-सी की संपूर्ण कथा का वर्णन है यह लेख 'इंडियन एंटिक्वेरी' (पृष्ठ १११ और आगे) में अनुदित हो चुका है।

प्राचीन इतिहास में, बलपूर्वक राज्यापहरण के ऐसे अनेक उदाहरण हमें मिलते हैं। असली कठिनाई हमारे सामने उस समय आती है जब हम सिंहासन पर अधिकार कर लेने के बाद का विवरण पढ़ते हैं। मिशनरी तिब्बत भाग गया और वहां के तत्कालीन शासक को राज़ी कर उस से एक तिब्बती पदातिक सेना तथा एक नेपाली अश्वारोही सेना, कुल मिला कर ८००० सैनिकों को भारत के मैदान पर चढ़ाई करने के लिए प्राप्त किया। फिर इस छोटी-सी सेना की सहायता से एक शांतिमय चीनी मिशन के अध्यक्ष ने, जिस ने अब सैनिक का जामा पहन लिया था—एक विशाल साम्राज्य की सेना को पराजित कर दिया। यह सारी कथा वस्तुतः आश्चर्यजनक है। यद्यपि महाराज हर्ष की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य की सेना कुछ असंगठित हो गई थी, तथापि इतिहास में इस प्रकार की सैनिक विजयों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इस के अतिरिक्त एक विदेशी राज्य के दूत से हम स्वभावतः यह आशा करते हैं कि वह इस देश के ऐसे झगड़ों से अपने को बिल्कुल अलग रक्खेगा। अतः हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि वांग-ह्वेन-सी जैसे व्यक्ति के लिए जो कि केवल एक दूत था, यह कैसे संभव था कि वह अपने स्वामी चीनी सम्राट् तैत्सुंग की अनुमति के बिना भारत के आंतरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करता? स्रांग-सन-गंपो ने ऐसा भारी राजनीतिक अनुचित कार्य क्यों कर किया कि एक विदेशी राजा के दूत को ऐसे विशाल साम्राज्य पर आक्रमण करने में सहायता दी, जिस के साथ युद्ध करने में बहुत संभव था कि उसे लेने के देने पड़ जाते।

चीनी-ग्रंथों में यह कथा जिस रूप में वर्णित है हम उस कथा पर विश्वास कर सकते हैं। संभव है कि आसाम के राजा भास्कर वर्मा ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए, हर्ष की मृत्यु से लाभ उठाया हो। महाराज हर्ष के जीवन-काल के अंतिम दिनों में उन का तथा भास्कर वर्मा का संबंध मित्रतापूर्ण नहीं था। हर्ष ने जिस प्रकार धमकी दे कर अधिकारपूर्ण शब्दों में चीनी यात्री ह्वेनसांग को भेज देने की आज्ञा दी थी उसे वह संभवतः भूल न सका होगा। जो कुछ भी हो, भारत के एक प्रांतीय नरेश के लिए यह निस्संदेह संभव और स्वाभाविक था कि वह देश में फैली हुई अराजकता से लाभ उठाता और अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने की चेष्टा करता। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कुमार राजा अपनी सेना के साथ राज्यापहारक अर्जुन पर—जिस ने हर्ष के संपूर्ण साम्राज्य के ऊपर नहीं बल्कि केवल मगध पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी—आक्रमण करने के लिए बढ़ा होगा। आसामी सेना ने मार्ग में स्थित उत्तरी तथा मध्य बंगाल को निश्चय ही अधिकृत कर लिया होगा। भास्कर वर्मा के निधानपुर-वाले ताम्र-लेख, जो कर्णसुवर्ण में जारी हुए थे इस बात को प्रमाणित करते हुए-से प्रतीत होते हैं। बिहार पर चढ़ाई कर के और अनेक नगरों पर क़ब्ज़ा कर विजयी राजा ने मगध को अपने अधिकार में कर लिया था। अरुणाश्व जिस ने बलपूर्वक सिंहासन पर अधिकार कर लिया था, अंत में पराजित हुआ और क़ैद कर लिया गया। इस मामले में चीनी मिशन ने संभवतः कोई बहुत महत्वपूर्ण भाग न लिया होगा। मिशन के अध्यक्ष के तिब्बत की राजधानी में भाग जाने के बाद तिब्बती तथा नेपाली सैनिक यहां के उपद्रवों

से लाभ उठाने के लिए ही भारत की उत्तरी सीमा के इस पार आए होंगे। वे लूट-पाट करनेवाले स्वतंत्र सैनिक थे। उन का भारत के अंदर प्रवेश करने का उद्देश्य केवल यह था कि यहां की फैली हुई अराजकता से लाभ उठा कर अपने को संपन्न कर लें। चीनी-कथा में जो जयमाल वांग-ह्वेन-सी के गले में डाला गया है उसे वास्तव में भास्कर वर्मा के गले में पड़ना चाहिए। जब वह राजदूत अपने देश चीन को वापस गया, तब उस ने सम्राट् से इस कथा का वर्णन किया। किंतु इस कथा की सत्यता की परीक्षा करने के लिए सम्राट् के पास कोई साधन नहीं था।

भारत के इतिहास में हर्ष का स्थान

हमें यह तो मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत के गौरवमय इतिहास में हर्ष का स्थान इतना ऊँचा नहीं है जितना कि उन के पूर्वज महाराज अशोक तथा कनिष्क का। अशोक का नाम तो निस्संदेह संसार के इतिहास में अमर बना रहेगा। समर्थ समालोचक तथा इतिहासकार श्री एच्० जी० वेल्स महोदय के कथनानुसार उन की गणना इतिहास के ६ महान् राजाओं में है। कनिष्क एक बड़ा सेनापति था। उस ने अपनी सेना के सहित तागदंबाश पामीर के दर्रों को पार कर काशगर, यारकंद तथा खोतान को जीत कर जैसा अलौकिक एवं वीरतापूर्ण कार्य किया वैसा भारत का कोई आधुनिक शासक भी नहीं कर सका। बौद्ध-धर्म के इतिहास में कनिष्क का स्थान उतना ही ऊँचा है, जितना कि ईसाई धर्म के इतिहास में रोम के सम्राट् कन्स्टेंटाइन का। कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के प्रचार और उन्नति में भी बड़ा भारी योग दिया। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हर्ष की भाँति बौद्ध-धर्म को उस ने भी पीछे से गद्दी पर बैठने के बाद स्वीकार किया था। महाराज हर्ष का आसन बौद्ध-धर्म के इतिहास में उतना अधिक ऊँचा नहीं है जितना कि कनिष्क का। उस धर्म के लिए उन्हों ने जो कुछ किया वह कनिष्क के कार्य की भाँति उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। सेनापति के रूप में हर्ष का दर्जा संभवतः समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त द्वितीय से ही नहीं प्रत्युत स्कंदगुप्त से भी—जिस ने कम से कम कुछ समय के लिए हूणों के आक्रमण को रोक दिया—घट कर था; क्योंकि उन की विजय-यात्रा रेवा नदी के तट पर रोक दी गई थी। मलिक काफ़ूर जैसे दक्षिण भारत के विजयी सेनापतियों से भी उन की तुलना नहीं हो सकती। मलिक काफ़ूर ने नर्मदा के सीमाप्रांत की कठिनाइयों को पार कर दक्षिण में प्रवेश किया था। किंतु यदि हर्ष प्राचीन भारत के कतिपय शासकों से कुछ बातों में घट कर थे तो अन्य अनेक बातों में निस्संदेह वे उन से बढ़े-चढ़े थे। विद्वत्ता में कदाचित् भारत के बड़े-बड़े राजाओं में से कोई भी उन के जोड़ का न था। हां, मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक बाबर अलबत्ता उन की तुलना कर सकता है। योद्धा भी वह उच्चकोटि के थे, यह बात इतिहासकार को माननी पड़ेगी। पिता की मृत्यु के उपरांत अव्यवस्था तथा अराजकता के बढ़ते हुए वेग को रोक देने का काम कम बहादुरी का नहीं था। इस के अतिरिक्त उन्हों ने भारत के एक बड़े भाग को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। एक महान् शासक तथा संगठन-कर्ता के रूप में वे भारत के बड़े-बड़े शासकों में परिगणित किए जाने के योग्य हैं। उन की शासन-व्यवस्था को देख कर ह्वेनसांग प्रसन्न हो गया था

और उन की प्रशंसा की थी। ह्वेनसांग ने उन के धार्मिक भाव तथा विश्व-कल्याण-कामना की प्रशंसा कर उचित ही किया है। यद्यपि भारत में ऐसे राजा अधिक संख्या में उत्पन्न हो चुके हैं। उदाहरणार्थ मो-ला-पो का शीलादित्य—जो ह्वेनसांग के वहां पहुँचने के कुछ ही वर्ष पूर्व शासन करता था—परोपकार, धार्मिकता तथा पशुओं के प्रति दया दिखलाने के लिए प्रसिद्ध था। एक साधारण मनुष्य के रूप में भी हर्ष में अनेक सुंदर चारित्रिक गुण थे। वे अपनी माता यशोमती के बड़े भक्त थे। महाराज प्रभाकरवर्द्धन की जीवितावस्था में माता के प्राणोत्सर्ग कर देने के संकल्प को सुन कर वे मारे शोक के स्तंभित से हो गए थे। जब उन्हें ज्ञात हो गया कि माता का संकल्प अटल है तब उन्हों ने अदृष्ट की अपरिहार्य आज्ञा के सामने अपना सिर झुकाया। वे माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्य का समुचित पालन करते थे। पिता की मृत्यु पर वे एक साधारण व्यक्ति की भाँति ज़ोर ज़ोर से देर तक रोते रहे। देवताओं तथा ब्राह्मणों का वे बहुत आदर करते थे। संसार त्यागी विरक्त पुरुषों में उन की अगाढ़ श्रद्धा थी। दिवाकर मित्र के आश्रम पर पहुँच कर मुनि के प्रति उन्हों ने जो विनम्रता प्रदर्शित की वह सराहनीय है। वे अपने भाई और बहिन को भी ख़ूब मानते थे। उन्हों ने अपनी विधवा बहिन के साथ जो स्नेह-पूर्ण व्यवहार किया, उस की भी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। लोभ तो उन को छू तक नहीं गया था। पिता की मृत्यु के अवसर पर उन के बड़े भाई राजधानी के बाहर थे। उन्हों ने भाई को राजधानी में बुलवाने के लिए कई दूत भेजे। अंत में जब राज्यवर्द्धन आए और उन्हों ने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि शासन का काम हर्ष के सिपुर्द कर ईश्वर का ध्यान करने के लिए मैं जंगल में चला जाना चाहता हूं, तब हर्ष मारे शोक के किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए। बड़े भाई के इस निर्णय पर उन्हें जो शोक हुआ था वह बाण के उल्लेखानुसार असीम था। श्रीहर्ष की स्थिति में यदि कोई दूसरा राजकुमार होता तो वह अपने भाई के इस संकल्प का स्वागत बड़ी प्रसन्नता के साथ करता और ऊपर से शोक का भाव प्रकट कर अंदर ही अंदर मारे ख़ुशी के फूला न समाता। वास्तव में श्री-हर्ष की प्रकृति हमें वैराग्यमयी प्रतीत होती है। कन्नौज के राजमुकुट को धारण करने में भी उन्हें बड़ा संकोच हुआ था और ह्वेनसांग का कथन है कि जब उन्हों ने उसे किसी प्रकार स्वीकार भी किया तो कभी अपने को महराजा नहीं कहा और न कभी राजसिंहासन पर ही पैर रक्खा।

सब बातों को ध्यान में रखते हुए अंत में हम प्रियदर्शिका[1] के अंग्रेज़ी अनुवादकों तथा संपादकों के स्वर में स्वर मिला कर यही कह सकते हैं कि कन्नौज के श्री हर्षवर्द्धन को, जो राजा, सम्राट्, प्रतिभाशाली सैनिक, संगठन-कर्त्ता, विद्वानों के आश्रयदाता तथा कवि सभी कुछ थे—भारत के महापुरुषों में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है।

[1] नारिमन, जैक्सन तथा आग्डेन, 'प्रियदर्शिका बाई हर्ष', भूमिका, पृष्ठ ३४

सप्तम अध्याय

ह्वेनसांग

हर्ष के शासनकाल की एक प्रधान उल्लेखनीय घटना चीनी-यात्री ह्वेनसांग का इस देश में आगमन था। यह बात भली-भाँति विदित है कि तत्कालीन सामाजिक अवस्था तथा बौद्धधर्म की स्थिति के संबंध में हम इस श्रेष्ठ यात्री के प्रति अपने ऋण को जितना ही अधिक महत्व दें वही थोड़ा है; क्योंकि भारत के प्राचीन इतिहास के इस युग का हमारा ज्ञान उस के बिना अपूर्ण रह जाता। विंसेंट स्मिथ का कथन है कि "यद्यपि ह्वेनसांग के ग्रंथ का प्रधान ऐतिहासिक मूल्य इस बात में है कि उस ने राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं का वर्णन किया है किंतु बहुत-सी प्राचीन जन-श्रुतियों का उल्लेख कर के उस ने हमारी कृतज्ञता के ऋण को और भी बढ़ा दिया है। यदि उस ने सावधानी के साथ इन की रक्षा न की होती तो ये जन-श्रुतियां लुप्त हो गई होतीं।"

ह्वेनसांग तथा उस की भारतीय यात्रा का विवरण देने के पूर्व यहां पर संक्षेप में यह बतलाना असंगत न होगा कि प्रारंभिक काल से ले कर ईसा की सातवीं शताब्दी तक चीन और भारत के पारस्परिक संपर्क-विपर्क में कौन कौन-सी प्रधान घटनाएं घटीं[1]।

चीनी लोग ई० पू० दूसरी शताब्दी में मध्य-एशिया के प्रदेशों के संपर्क में आए। मध्य-एशिया में भारतीय उपनिवेश थे और उस प्राचीन युग में वहां बौद्ध लोग रहते थे। इस में संदेह नहीं कि इन्हीं उपनिवेशों के कारण चीन और भारत के सांस्कृतिक संपर्क का श्रीगणेश हुआ। चीनी राजदूत चैंकीन, जिसे सम्राट् हियाओ-ऊ (१४०-८० ई० पू०) ने भेजा था, फ़रगना, पार्थिया तथा बैक्ट्रिया आदि अनेक पश्चिमी देशों

---

[1] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृ० १४-१५। चीन और भारत के पारस्परिक संबंध के विषय में प्रभातकुमार मुकर्जी के "इंडियन लिटरेचर इन चाइना एंड दि फ़ार ईस्ट" नामक पुस्तक से हम ने संपूर्ण सामग्री ली है।

का हाल लाया। पार्थिया एक बौद्ध देश था। ई० पू० दूसरी शताब्दी के अंतिम भाग में उस ने एशिया के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्वपूर्ण भाग लिया था। पार्थिया से हो कर चीन का रेशम रोम साम्राज्य में जाता था। चीन और पार्थिया के व्यापारिक संबंध के कारण उन दोनों देशों के बीच धीरे-धीरे घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो गया और अंत में चीन और भारत में घनिष्ठता बढ़ गई। संभव है कि बौद्धधर्म चीन में ई० पू० २ में लाया गया हो और वहां उस का स्वागत किया गया हो। चीन के पौराणिक इतिहास-ग्रंथों से हमें ज्ञात होता है कि पूर्वी हन वंश (ई० पू० २०-२२१ ई०) के सम्राट् मिंग ने बौद्धधर्म-ग्रंथों तथा पुरोहितों को लाने के लिए भारत को राजदूत-दल भेजा था। यह दल ६४ ई० में काश्यप मातंग तथा धर्मरत्न नामक दो भारतीय भिक्षुओं को ले कर वापस गया था। चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार का नियमित कार्य दूसरी शताब्दी के मध्य काल से प्रारंभ हुआ। भिक्षुओं में से अधिकांश भारत के नहीं, बल्कि मध्य-एशिया के निवासी थे। मध्य-एशिया के कूच, खोतान आदि स्थानों में बौद्धों के उपनिवेश स्थापित थे। उत्तरी चीन में एक मठ लोयंग नामक स्थान पर था। वह चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार का केंद्र बन गया। भारत से भी बौद्ध-भिक्षु जाते थे; किंतु बहुत कम। हन काल में चीन के अंदर बौद्ध-धर्म प्रचार करनेवाले अधिकांश व्यक्ति मध्य-एशिया के भिक्षु थे। उत्तर कालीन हन-वंश का अंत २२० ई० में हुआ। उस के बाद 'तीन राज्यों' का युग प्रारंभ हुआ। इस युग में बौद्ध-धर्म प्रचारकों का कार्य लोयंग के शांतिमय 'श्वेत मठ' भवन में होता रहा (२२०-२६५ ई०)। अंत में पश्चिमी सीन वंश के लोगों ने उन तीन राज्यों को पदच्युत किया (२६५-३१६)। सीन-वंश के लोगों ने चंग-अन को अपनी राजधानी बनाया जहां बौद्धों के मठ थे। इन मठों में भारतीय भिक्षु आते थे और चीनी बौद्ध भी आश्रय लेते थे। इन भिक्षुओं का एक महान् कार्य बौद्ध-साहित्य का अनुवाद करना था। चीन के भारतीय विद्वानों तथा चीनी बौद्धों के ही दीर्घकालीन परिश्रम का फल है कि आज बहुसंख्यक बौद्ध-ग्रंथ वहां सुरक्षित हैं; नहीं तो उन ग्रंथों का आज कहीं अस्तित्व न मिलता।

जिस समय उत्तरी चीन में बौद्ध-धर्म का प्रभाव स्थिर रूप से फैल रहा था, उस समय दक्षिणी चीन में नए मत का प्रचार प्रारंभ हुआ और बिल्कुल स्वतंत्ररूप से उस की उन्नति हुई। पहली शताब्दी से ही चीन और उत्तर भारत के बीच व्यापार होता था, यद्यपि उस का सिलसिला बीच-बीच में टूट जाता था। इस के अतिरिक्त दक्षिणी चीन, भारत तथा इंडोनेशिया के बीच सामुद्रिक संबंध स्थापित था। ईसा की पहली तथा दूसरी शताब्दी में इंडोनेशिया में हिंदुओं के उपनिवेश थे। दक्षिणी चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करनेवाले भिक्षु या तो इंडोनेशिया के हिंदू उपनिवेशों से जहाज़ में बैठ कर आये या सीधे भारत से व्यापारिक जहाज़ों पर चढ़ कर आए। इस के सिवाय इंडोनेशिया के उपनिवेशों से चीन का घनिष्ठ राजनीतिक संबंध भी था। ऊ० वंश के शासनकाल में (२२०—२८० ई०) बौद्ध-धर्म की दक्षिणी चीन में बड़ी उन्नति हुई और अनुवाद का काम बड़ी तेज़ी से हुआ। वास्तव में दक्षिणी चीन को तातारियों के आक्रमण का भय न

था और इस लिए भिक्षुओं को वहां बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल क्षेत्र मिला।

पश्चिमी सीन वंश के पतन के पश्चात् चीन में अनेक तातार राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वी सीन-वंश—जिस ने ३१७ ई० में दक्षिणी चीन में बड़ी ख्याति प्राप्त की और ४२० ई० तक शासन किया—के राजा सम्राट् होने का दावा करते रहे। इस वंश के सभी सम्राटों ने बौद्ध-धर्म के प्रति अच्छा व्यवहार किया। इस वंश का नवां राजा हियाओ-ऊ-ही पहला चीनी सम्राट् था, जिस ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। नानकिंग बौद्धों का केंद्रस्थल बन गया। भारत और मध्य-एशिया के विद्वान् भिक्षु अधिक संख्या में चीन की ओर प्रस्थान करने लगे। किंतु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि भिक्षु लोग उत्तरी चीन में भी आते थे। धर्मरत्न, संघदेव तथा बुद्धभद्र जैसे प्रकांड भारतीय विद्वानों ने बौद्ध आगमों को चीनी भाषा में अनूदित किया। किंतु इस काल का सब से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति फ़ाह्यान था, जिस के साथ चीन और भारत के बीच प्रत्यक्ष संबंध प्रारंभ हुआ। इस संबंध की महत्ता पर जितना अधिक ज़ोर दिया जाय वह थोड़ा है। चौथी शताब्दी के अंत तक चीनी लोगों का भारत के साथ कुछ भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, यद्यपि वे चीन तथा मध्य-एशिया में पार्थिया, शक और कूच के बौद्धों और कभी-कभी भारत के बौद्ध धर्मोपदेशकों से मिलते थे। फ़ाह्यान ने एक नवीन परिपाटी निकाली। चीनी भिक्षु सीधे सभ्य एशिया के ज्ञान एवं संस्कृति के केंद्र भारत को आने लगे। गुप्त साम्राज्य की चरमोन्नति के काल में फ़ाह्यान ने १५ वर्षों (३९९-४१५) तक भारत का भ्रमण किया। उस ने मठों तथा तीर्थस्थानों को जा-जा कर देखा। अपने देश को वापस जाते समय वह बंगाल के ताम्रलिप्ति बंदरगाह से जहाज़ पर रवाना हुआ। इंडोनेशिया के हिंदू उपनिवेशों तथा चीन को जाने के लिए सौदागर यहीं जहाज़ पर बैठते थे।

उत्तरी चीन में बौद्धों के कार्य का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कुमारजीव जिस का पिता एक भारतीय और माता कूचा देश की थी और जिसे चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में एक उच्च स्थान प्राप्त है उत्तरकालीन सीन-वंश (३८४ से ४१७ ई०) के दूसरे राजा का समकालीन था। कुमारजीव की साहित्यिक कृतियों की बहुत अधिक प्रशंसा नहीं की जा सकती। सीन-वंशीय सम्राटों के शासन-काल में बौद्ध-धर्म ने चीन में बड़ी उन्नति की। दक्षिणी चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार कार्य को कुछ अंश में विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ा था। वहां ४२० ई० में एक नए वंश का राज प्रारंभ हुआ, जो कि बौद्ध-धर्म के कुछ खिलाफ़ था। इतना सब होते हुए भी बौद्ध-धर्म की वहां उन्नति हुई और चीनी लोगों का झुकाव भारत की यात्रा करने की ओर हुआ। सुंग तथा ची नामक दो अन्य वंशों के शासन के बाद दक्षिणी चीन लियांग वंश के राजाओं (५०२-५५७ ई०) के हाथ में चला गया। इस वंश के पहले सम्राट् ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। वह बड़ा ही उत्साही बौद्ध था। अपने धार्मिक जोश तथा धर्माचरण में वह अशोक की समानता करता था। इंडोनेशिया के उपनिवेशों के संपर्क के कारण बौद्ध-धर्म की शक्ति और अधिक सबल हो गई। लियांग-हुती के शासन-काल में प्रथम बौद्ध-त्रिपिटक का संग्रह किया गया।

इस काल में चीन के अंदर आनेवाले भिक्षुओं में सब से अधिक प्रसिद्ध उज्जैन का परमार्थ नामक श्रमण था, जो कि ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुआ था। उत्तरकालीन गुप्त-वंशीय मगध के राजा जीवितगुप्त प्रथम ने चीन के सम्राट् की प्रार्थना पर एक चीनी मिशन के साथ—जो कि हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज में मगध आया था—उसे ५३६ ई० में चीन भेजा। चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए उस ने अपनी शक्ति भर उद्योग किया। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा वसुबंधु एवं आसंग के ग्रंथों का उस ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस के अतिरिक्त उस ने कुछ अन्य बौद्ध-ग्रंथों को भी अनूदित किया। बौद्ध-धर्म के इतिहास के एक अंधकारपूर्ण काल पर उस के ग्रंथों से अप्रत्याशित प्रकाश पड़ा।

उत्तरी चीन, जो कई शताब्दियों तक अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, अंत में सुई-वंश के दृढ़ शासन से एकता के सूत्र में बँध गया। ५८६ ई० में संपूर्ण चीन पहली बार एक सम्राट् के शासन में आया। चीन देश के इतिहास में, विशेषतः बौद्ध-धर्म के इतिहास में, सुई-वंश का शासन-काल एक गौरव-पूर्ण युग था। किंतु चीनी-इतिहास का स्वर्ण-युग टैंग वंश के प्रादुर्भाव ६१८ से प्रारंभ होता है। इस वंश का दूसरा राजा तैत्सुंग (६२७-६४६) चीन देश के महान् शासकों में से था। तैत्सुंग ने तिब्बत के प्रथम महान् राजा स्रांग-सन-गंपो के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया। ६४१ ई० में उस ने तिब्बत के राजा के साथ अपनी लड़की वेनचेंग का विवाह कर दिया। इस संबंध से चीनी सभ्यता का प्रभाव तिब्बत पर पड़ा। स्रांग-सन-गंपो ने अपने देश में बौद्ध-धर्म का प्रवेश कराया और भारतीय विद्वानों की सहायता से तिब्बतीय वर्णमाला का आविष्कार किया[1]। नेपाल तिब्बत का एक अधीन राज्य हो गया।

तैत्सुंग ने ६२७ ई० में हर्षवर्द्धन के दरबार में एक दूत-दल यह सीखने के लिए भेजा कि भारत में चीनी कैसे बनाई जाती है[2]। अपने जीवन-काल में हर्षवर्द्धन ने चीन-साम्राज्य के साथ संबंध स्थापित रक्खा। उन्हों ने ६४१ ई० में चीन को एक ब्राह्मण राजदूत भेजा और वह ६४३ में एक चीनी मिशन के साथ लौटा। इसी मिशन को चीन के सम्राट् ने हर्ष के पत्र का उत्तर लिख कर दे दिया था[3]। यह मिशन ६४५ ई० के पहले चीन को वापस नहीं गया। दूसरे साल एक दूसरा मिशन ३० अश्वारोही रक्षक-दल के साथ आया, जिस का अध्यक्ष वांग-हेन-सी था। यह व्यक्ति उस दूत-दल के अध्यक्ष का सहायक था, जो पहले भारत आ चुका था।

तैत्सुंग स्वयं बौद्ध-धर्म का न तो शत्रु था और न मित्र। उस के शासन-काल में प्रभाकरमित्र नामक एक हिंदू भिक्षु चीन में गया। वह मध्य-भारत के एक क्षत्रिय राजकुल में पैदा हुआ था। उस ने १० वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया और एक योग्य गुरु के

[1] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया' पृष्ठ ३७९ और पाद-टिप्पणी

[2] प्रभातकुमार मुकर्जी 'इंडियन लिटरेचर इन चाइना एंड दि फ़ार ईस्ट', पृष्ठ २०६, टिप्पणी २

[3] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६६

पास बैठ कर अध्ययन किया। वह नालंदा में शीलभद्र से मिला और सप्त-दश-भूमि शास्त्र पर उन के व्याख्यानों को सुना। नालंदा में वह अभिधम्म का अध्यापक नियुक्त किया गया और अपने प्रकांड पांडित्य के बल पर अपने साथी अध्यापकों का प्रशंसा-पात्र बन गया। कुछ समय के बाद नालंदा छोड़ कर वह बाहर चला गया और विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए पश्चिमी तुर्कों के खान के शिविर में जा पहुँचा। थोड़े ही समय में उस के उपदेशों के परिणाम-स्वरूप असभ्य तुर्क लोग बौद्ध-धर्म के प्रभाव में आ गए। बाद को वह चीन चला गया। वहां तैत्सुंग ने बड़ी धूम-धाम से उस का स्वागत किया और उस से बौद्ध-ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने की प्रार्थना की। इन अनुवादों के कारण चीन के बौद्ध-विद्वानों पर उस का बड़ा प्रभाव जम गया[1]।

किंतु चीन और भारत के पारस्परिक संबंध में इस काल का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ह्वेनसांग था। उस के सामने और सब नगण्य हैं। वह ६०० ई० में एक कन्फ़्यूसियन परिवार में, जो बौद्ध-धर्म के विरुद्ध था, पैदा हुआ था। उस के पिता के चार पुत्र थे और उन में वह सब से छोटा था। उस ने अपने भाइयों के साथ विद्योपार्जन किया और अपनी बाल्यावस्था में ही अपने मस्तिष्क की परिपक्वावस्था का प्रमाण दे दिया। अभी वह निरा बालक ही था कि शाक्यमुनि के शांतिमय धर्म की ओर आकर्षित हो गया। उस ने बौद्ध-धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया और भिक्षु बनने के उद्देश्य से मठों की यात्रा की। २० वर्ष की अल्पावस्था में ही उस का उद्देश्य पूरा हुआ। अपने देश के अनेक मठों में विद्वान् चीनी भिक्षुओं के चरणों में बैठकर उस ने बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। चीन में उस ने अपनी विद्वत्ता और वाग्मिता के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। किंतु बौद्ध-ग्रंथों के चीनी अनुवाद को पढ़कर वह संतुष्ट न हो सका। वह बुद्ध के चलाए हुए धर्म का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। वह उस देश को देखने के लिए लालायित था जहां पहले-पहल एशिया का प्रकाश अपनी पूर्ण ज्योति के साथ चमका। उस की लालसा थी कि चलकर अध्यात्म-विद्या का रस-पान वहीं करे, जहां उस का प्रवाह फूट निकला था। वह उन पवित्र स्थानों को देखने के लिए उत्सुक था जो प्रभु (बुद्ध) के चरण-चिह्नों से पवित्र हो चुके थे। बुद्ध के एक क्षुद्र भक्त होने के नाते वह उन के चरण-चिह्नों का अनुसरण करना चाहता था और चाहता था कि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों के चरणों के पास बैठ कर उन की सहायता से अपनी आध्यात्मिक तथा दार्शनिक शंकाओं का समाधान करावे। इस के अतिरिक्त उस की यह भी अभिलाषा थी कि मूल-भाषा में लिखित बौद्ध-धर्म-ग्रंथों को प्राप्त करे; क्योंकि अनुवादों के पढ़ने से उस को संतोष नहीं हुआ था। सब प्रकार की तैयारी और पूछ-ताँछ करके वह ६२९ ई० में टैंग राजाओं की राजधानी चैंग-अन से भारत के लिए चल पड़ा।

भारत में आने के लिए प्राचीन काल से चार मार्ग थे। इन में से दो मार्ग प्रधान थे—एक उत्तरी मध्य-एशिया और दूसरा दक्षिणी मध्य-एशिया से हो कर गया था। तीसरा रास्ता तिब्बत से हो कर आया था। टैंग-वंश के शासन-काल में

[1] प्रभातकुमारमुकर्जी, 'इंडियन लिटरेचर इन चाइना एंड दि फार ईस्ट' पृ० २०६-११

विशेष कर तिब्बत के राजा स्नांग-सन्-गंपो के साथ चीन की राजकुमारी के विवाह के बाद बहुत से लोगों ने उसी पथ का अनुसरण किया था। चौथा रास्ता हिंद महासागर तथा इंडोनेशिया के उपनिवेशों से हो कर आता था। ह्वेनसांग के ५० वर्ष बाद इत्सिंग इसी मार्ग से भारत आया।

ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के लिए उत्तरी मार्ग का अवलंबन किया और तुरफ़ान, कूचा, इसिक्कुल, ताशकंद, समरकंद, कुंदुज़, काबुल तथा पेशावर होता हुआ वह भारत आया। तुरफ़ान के राजा ने उस को अमूल्य सहायता दी और मध्य-एशिया के अनेक सरदारों से उस का परिचय कराया। पश्चिमी तुर्कों के प्रधान काग़ान या सरदार टांग-शी-हू ने उस को यात्रा के लिए अनुमति-पत्र दिया था। इस के सहारे वह कपिशा तक सकुशल पहुँच सकता था, मार्ग में कोई खटका नहीं हो सकता था। अतः जहां-जहां वह गया उस का स्वागत किया गया और बड़े आराम के साथ उस ने अपनी यात्रा की।

चीन से भारत पहुँचने में उसे लगभग १ साल (सितंबर ६२९ से सितंबर ६३० तक) लग गया। हिंदूकुश पर्वत को पार कर के वह कपिशा के राज्य में दाखिल हुआ और वहां की राजधानी में श-लो-का नामक मठ में उस ने चातुर्मास्य बिताया। वर्षा ऋतु के बीतने पर वह पंजश्री की घाटी से नीचे उतरा और काला पर्वत (सियाह-कोह) को पार कर के लमघन देश में दाखिल हुआ। अब उसे किसी प्रकार की कठिनाई न रह गई। काबुल नदी की तरैटी से होता हुआ वह मुख्य भारत में आ पहुँचा। रास्ते में उस ने कुनार नदी को पार किया और जलालाबाद के पास स्थित ना-का-ला-हो के मठ से हो कर वह अक्तूबर ६३० के प्रारंभ में गांधार राज्य में पहुँचा।[1]

मई ६३१ से अप्रैल ६३३ तक दो वर्ष ह्वेनसांग काश्मीर में ठहरा रहा। वहां वह सूत्रों और शास्त्रों का अध्ययन करता रहा। काश्मीर से चल कर वह तक्क राज्य की राजधानी में पहुँचा। एक मास तक वहां रुक कर वह पूर्वी पंजाब में स्थित चीनभुक्ति गया, जहां उस ने १४ महीने बिताए (६३३—६३४ ई०) और एक प्रसिद्ध बौद्ध पुरोहित से धर्मशास्त्रों को पढ़ा। वहां से वह जलंधर पहुँचा और वहां चार मास (६३४ ई०) तक ठहरा रहा। वहां से कुलूट और मथुरा हो कर थानेश्वर आया। कहा जाता है कि यमुना नदी इस राज्य के बीच से होकर पूर्व की ओर बहती थी और इस की पूर्वी सीमा पर गंगा नदी बहती थी। इस देश में वह जाड़े भर तथा आधे वसंत तक ठहरा और उस ने जयगुप्त नामक श्रमण से अध्ययन किया। इस के बाद वह मतिपुर के लिए रवाना हुआ, जो बिजनौर ज़िले में था। रास्ते में उसे गंगा नदी को पार करना पड़ा। मतिपुर में उस ने शेष वसंत काल एवं ग्रीष्म का समय बिताया (६३५ ई०)। मतिपुर से वह ६३६ ई० के मध्य-काल के लगभग हर्षवर्द्धन की राजधानी कन्नौज में पहुँचा और भद्र विहार में ठहरा। उत्तरी भारत

[1] देखिए, वाटर्स जिल्द २, पृष्ठ ३३४ में प्रकाशित ह्वेनसांग के भ्रमण के संबंध में विंसेंट स्मिथ का नोट।

के इस सर्व-प्रधान नगर को छोड़ कर वह पूर्व की ओर बढ़ा। अयोध्या, प्रयाग, कोशांबी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली (आधुनिक वसार) और नेपाल होता हुआ वह मगध राज्य में गया। यह देश बुद्ध भगवान् की पुण्य-स्मृतियों से परिपूर्ण था। यहां युद्ध और शांति के समय में बड़े-बड़े काम कर के अनेक राजे इतिहास और पौराणिक कथाओं में प्रसिद्ध हो चुके थे। पाटलिपुत्र का प्राचीन नगर तो अब नष्ट हो चुका था, उस के अंदर तथा चारों ओर स्थित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मठों और पवित्र स्तूपों को उस ने देखा। फिर गया की यात्रा कर बोधिवृक्ष की पूजा की। यहां उस ने नैरंजन नदी और महाबोधि मंदिर का दर्शन कर अपना जीवन सार्थक किया। लड़कपन में वह जो स्वप्न देखा करता था वे अब पूरे हो गए। उस का हृदय भावों से भर गया और उसे अपने पिछले कर्मों का खयाल आया, जिन के कारण वह मृत्युलोक में पैदा हुआ था। वह अपने आंसुओं को न रोक सका। बोधिमण्ड अथवा वज्रासन को देख कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वहां एक हज़ार बुद्ध बोधि प्राप्त कर चुके थे। ह्वेनसांग लिखता है कि बोधिवृक्ष के पास असंख्य पवित्र चिह्न थे। वह वहां आठ या नौ दिनों तक रहा और एक-एक करके प्रत्येक स्थान की उस ने पूजा की।

गया से ह्वेनसांग नालंदा विश्वविद्यालय (६३७ ई०) गया। इस प्राचीन विश्व-भारती में उस की ख्याति उस के पहले ही पहुँच चुकी थी। नालंदा की संघ की ओर से उस का राजसी स्वागत किया गया और जुलूस निकाल कर वह संघ तक पहुँचाया गया। जुलूस के साथ-साथ दो सौ भिक्षु और हज़ारों उपासक थे, जिन के हाथों में छत्र, चँवर, झंडे, फूल और सुगंधित पदार्थ थे। नालंदा में ह्वेनसांग संघ के एक सम्मानित अतिथि के रूप में कुछ समय तक ठहरा। उस को सभी वस्तुएं भांडार से मिलती थीं। वहां पर अपने समय का उस ने बड़ा सदुपयोग किया, वह योगशास्त्र पर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष शीलभद्र के व्याख्यानों को सुनता और हेतु-विद्या, शब्दविद्या, वसुबंधु के कोष तथा पाणिनि के व्याकरण आदि का अध्ययन करता था।

नालंदा के बाद वह हिरण्य देश (मुंगेर) में पहुँचा। फिर चंपा (आधुनिक भागलपुर) तथा खजुधिर (राजमहल) जो कि बंगाल का प्रवेश-द्वार था—होता हुआ वह पूर्व की ओर बढ़ता गया और अंत में पुंड्रवर्द्धन (रंगपुर) पहुँचा। बंगाल में समतट तथा कर्णसुवर्ण जैसे प्रसिद्ध देशों में भ्रमण करके वह दक्षिण भारत की ओर मुड़ा। उस का इरादा लंका जाने का था, जहां स्थविर दल के विद्वान श्रमण थे। वहां ऐसे विद्वान भी थे जो योगशास्त्र को खूब समझा सकते थे और यही उस के अध्ययन का प्रधान विषय था।

उड़ीसा होता हुआ वह थोड़े दिनों के लिए कोशल (मध्यप्रांत के छत्तीसगढ़ की कमिश्नरी का विभाग) पहुँचा। उड़ीसा तीन भागों में विभक्त था—ओड्र, कंगोद और कलिंग। दक्षिण कोशल बौद्धों के महान गुरु नागार्जुन का निवास-स्थान था—जो उत्तरकालीन बौद्धधर्म का रहस्यमय तथा आश्चर्यजनक व्यक्ति था[१]। ह्वेनसांग और

---

[१] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २०३

दक्षिण की ओर बढ़ता गया और ६३८ ई० में धनकटक (कृष्णानदी के तट पर स्थित अमरावती) पहुँचा। वहां वह कई महीने तक रहा। दूसरे वर्ष (६४० ई०) पल्लवों की राजधानी कांची जाने का उस ने इरादा किया। वहां एक बंदरगाह था। लंका जाने के लिए वहीं जहाज़ पर बैठना पड़ता था। स्मिथ[1] महोदय कहते हैं कि ह्वेनसांग दक्षिण में कांची तक ही जा सका था, वही उस की दक्षिण-यात्रा का चरम-बिंदु है। वहां वह अधिक समय तक ठहरा और लंका जाने की उस की इच्छा भी बराबर बनी रही; किंतु उस के भाग्य में वहां का जाना बदा न था। द्रविड़ देश की राजधानी को छोड़ कर वह उत्तर की ओर बढ़ा और बनवासी होता हुआ महाराष्ट्र देश में पहुँचा। ६४१ ई० की वर्षा-ऋतु उस ने सभवतः पुलकेशी की राजधानी में व्यतीत की। इस राज्य को छोड़ कर वह उत्तर-पश्चिम की ओर चला और नर्मदा नदी को पार करके वह भड़ौंच के गुर्जर राज्य में गया। भड़ौंच से ह्वेनसांग मालवा देश की ओर बढ़ा जो कि अपनी विद्या, संस्कृति तथा उदारता के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वहां उस ने सुना कि शीलादित्य धर्मादित्य नामक एक धर्मात्मा बौद्ध राजा साठ वर्ष पहले वहां राज करता था। दूसरा महत्वपूर्ण देश जहां ह्वेनसांग गया, वलभी राज्य था। यहां हर्ष का दामाद ध्रुवभट्ट शासन करता था। वहां से आनंदपुर और सुराष्ट्र होता हुआ वह भिनमल के गुर्जर राज्य में पहुँचा। फिर वह दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ा और उज्जयिनी जझोटि (आधुनिक बुंदेलखंड का ज़िला) तथा महेश्वरपुर (ग्वालियर देश) की यात्रा की। अब वह फिर गुर्जर देश को लौट गया और वहां से उत्तर दिशा की ओर यात्रा करना प्रारंभ किया। मार्ग में सिंध आदि अनेक स्थलों का भ्रमण करता हुआ वह मूलस्थानपुर (मुल्तान) पहुँचा। वहां पर उस ने सूर्यदेव का एक भव्य मंदिर देखा। पो-फे-टो (पर्वत, आधुनिक काश्मीर राज्य के दक्षिण में स्थित जम्मू) देश में वह दो मास तक (६४२ ई०) ठहरा। भारत को छोड़ने के पहले एक बार फिर उस की इच्छा नालंदा के मठ को जाने की हुई। वह चाहता था कि वहां चल कर बौद्ध-दर्शन का अध्ययन, जिसे कुछ वर्ष पूर्व उस ने प्रारंभ किया था, फिर प्रारंभ करे। ६४२ ई० के लगभग वह एक बार फिर नालंदा पहुँचा और अपने गुरु शीलभद्र की बंदना की। वहां रहते हुए वह जयसेन नामक श्रमण के पास गया जो एक प्रकांड पंडित था। बौद्ध-दर्शन के अनेक गूढ़ विषयों पर उस ने अपनी शंकाओं का निवारण किया। वहां से एक बार फिर वह बोधि-विहार पहुँचा और नालंदा लौट कर अपने गुरु शीलभद्र के आदेश से महायान शास्त्र पर उस ने संघ में कई व्याख्यान दिए। उस की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई। तर्क में उसे कोई हरा नहीं सकता था और जो उस के विरुद्ध बोलते थे, पराजित एवं लज्जित होते थे। योगाचार दल के सिद्धांतों की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए उस ने एक ग्रंथ भी रचा।

ह्वेनसांग की ख्याति कामरूप जैसे दूर देश में पहुँची। वहां का राजा भास्कर वर्मा उस का दर्शन करने के लिए लालायित हुआ और दूतों को नालंदा भेज कर उसे अपनी राजधानी में आने के लिए निमंत्रित किया। ह्वेनसांग अपने देश चीन को जाने के लिए

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २२५ में स्मिथ साहब का मंतव्य देखिए।

उत्सुक था और फलतः वह इस निमंत्रण को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। किंतु शीलभद्र ने उसे कामरूप जाने के लिए राज़ी कर लिया। उस ने समझाया कि एक ऐसे राजा के यहां, जो बौद्ध नहीं है, जाना कर्त्तव्य है। ह्वेनसांग कामरूप पहुँचा। भास्कर वर्मा ने बड़े सम्मान के साथ उस का स्वागत किया; क्योंकि चीन-सम्राट् तैत्सुंग की ख्याति भास्कर वर्मा के पास पहले ही पहुँच चुकी थी।

उस समय महाराज हर्षवर्द्धन खजुविर में सेना सहित पड़ाव डाले पड़े थे। वेकंगोद देश पर आक्रमण करने के बाद अपनी राजधानी कन्नौज को वापस जा रहे थे। जब उन्हों ने सुना कि ह्वेनसांग कामरूप के राजा कुमार के दरबार में पहुँचा है, तब उन्हों ने उस के पास दूत भेज कर यह आज्ञा दी कि अपने विदेशी अतिथ को साथ ले कर वह सेना के पड़ाव पर मिले। कामरूप का राजा यह नहीं चाहता था कि ह्वेनसांग को अपने यहां से बिदा करे; किंतु जब महाराज हर्षवर्द्धन ने उसे धमकी दी, तब वह ह्वेनसांग को ले कर उन के पास गया। हर्षवर्द्धन चीन के सम्राट् तैत्सुंग के यश तथा कामों की प्रशंसा पहले ही सुन चुके थे। भेंट होने के बाद शीलादित्य और कुमार अपने प्रतिष्ठित अतिथि के साथ एक शानदार जुलूस में गंगा के किनारे-किनारे उत्तर की ओर बढ़े और तीन महीने में कान्यकुब्ज नगर पहुँचे। वहां शीलादित्य ने हीनयान से महायान को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से एक बड़ी बौद्ध-परिषद् आमंत्रित कर रक्खा था। सभा के समाप्त होने के बाद सब राजा लोग चीनी अतिथि को साथ ले कर कान्यकुब्ज से प्रयाग गए। वहां शीलादित्य ने पंचवर्षीय दान-वितरणोत्सव किया।

प्रयाग में ही ह्वेनसांग ने शीलादित्य से बिदाई ली। वापसी यात्रा के लिए उस ने दक्षिणी समुद्री मार्ग को, जो जावा हो कर जाता था, नहीं पसंद किया, यद्यपि हर्ष उस रास्ते से उसे पहुँचाने के लिए प्रसन्नतापूर्वक एक सरकारी अनुचर दल कर देने को तैयार थे। ह्वेनसांग ने स्थल-मार्ग पसंद किया, जो मध्य-एशिया हो कर जाता था। हर्ष ने जालंधर के राजा उदित अथवा बुद्धि की अध्यक्षता में उस के साथ एक अश्वारोही दल कर दिया। उदित को हर्ष का आदेश था कि वह सीमाप्रांत तक कुशलपूर्वक पहुँचा आवे। उस कठिन यात्रा के आवश्यक खर्च के लिए यात्री को उदारतापूर्वक धन भी दिया गया था। जालंधर का राजा उस प्रतिष्ठित विदेशी अतिथि को पूर्वी पंजाब में स्थित अपनी राजधानी को लगभग ६ महीने में ले गया। यहां से ह्वेनसांग एक नए रक्षक-दल के साथ रवाना हुआ। बड़ी कठिनता से वह नमक के पहाड़ के दर्रे से होकर गुज़रा और उस ने सिंध नदी पार की। अब कपिशा का राजा आ कर उस से मिला और अपने राज्य तक उसे सुरक्षित ले गया। उस से बिदाई ले कर ह्वेनसांग उत्तर की ओर बढ़ा और हिंदूकुश पर्वत को पार किया। उस का दूसरा विश्रामस्थल अंदाराब था। वहां से खोस्त होता हुआ वह कुंदुज़ पहुँचा। फिर समरकंद का रास्ता न पकड़ कर वह पूर्व की ओर मुड़ा और ताघदुंबश पामीर से होता हुआ अंत में वह काशग़र पहुँचा। यहां से उस ने उस प्रसिद्ध पथ को ग्रहण किया जो यारकंद से ख़ोतन जाता है। सितंबर ६४४ ई० में वह ख़ोतन पहुँचा। खोतन से वह और आगे बढ़ा और लोमनर झील के दक्षिण पहुँचा। तत्-

श्चात् वह उस मार्ग से आगे बढ़ा जो अल्तिनताघ पर्वत के किनारे-किनारे जाता था। फिर वह उत्तर की ओर मुड़ा और सो-चू पहुँचा। वहां से यू-मेन बाँध को पार कर के उस साधारण मार्ग से, जो लिआंग-चानु से हो कर जाता था, वह ६४५ ई० के वसंत में पश्चिमी राजधानी चैंग-अन पहुँचा।

अपने साथ लाए हुए अमूल्य हस्त-लिखित ग्रंथों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों को हांग-फू के मंदिर में रख कर ह्वेनसांग सम्राट् से मिलने के लिए गया। सम्राट् ने बड़ी दिलचस्पी के साथ उस की यात्रा का वृत्तांत सुना। सम्राट् से भेंट कर के वह मठ को लौट आया और साथ में लाए हुए संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद में लग गया। ह्वेनसांग की प्रार्थना पर सम्राट् ने उस की सहायता के लिए अनेक विद्वानों को नियुक्त कर दिया। इसी बीच में सम्राट् के कहने से उस ने अपना भ्रमण-वृत्तांत लिखा, जो ६४६ ई० में समाप्त हुआ; किंतु ६४८ ई० में उस में कुछ और बातें शामिल की गईं। सम्राट् ने स्वयं उस ग्रंथ की भूमिका लिखी।

ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत हमें तीन रूपों में मिलता है—पहला तो उसी का लिखा हुआ, जो सि-यू-की नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में १३८ देशों का हाल मिलता है, जिन में से ११० में वह स्वयं गया था। लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा चरित्र का उस में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। बौद्धों की विद्या तथा रीति-रस्मों का भी पूरा हाल लिखा गया है। सातवीं शताब्दी के भारतीय इतिहास तथा भूगोल का अध्ययन करने के लिए यह ग्रंथ अनिवार्य है। बील ने इस ग्रंथ का एक अंग्रेज़ी संस्करण और जूलियन ने एक फ्रांसीसी संस्करण प्रकाशित किया, जो उपलब्ध हैं। वाटर्स महाशय ने ह्वेनसांग की यात्रा पर एक ग्रंथ लिखा है, जिस में बील की भूलों को सुधारते हुए विभिन्न मार्गों को व्याख्यापूर्वक समझाने की चेष्टा की है।

दूसरा ग्रंथ, ह्वेनसांग की यात्रा का सारांश है, जिसे उस के एक शिष्य एवं सहायक कार्यकर्ता ने तैयार किया था, कांचू के नाम से प्रसिद्ध है। उस की रचना ६५० ई० में समाप्त हुई थी। तीसरी पुस्तक ह्वेनसांग की जीवनी है। इसे उस के मित्र शयन-ह्वी-ली ने लिखा था। यह ग्रंथ यात्रा-विवरण की कमी को पूरा करता है।

पूरे १९ साल तक ह्वेनसांग ने अनवरत परिश्रम किया और अपने जीवन के अंत तक उस ने ७५ संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद किए। ६५ वर्ष की आयु में उस का स्वर्गवास हुआ। उस के अनुवादित महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

'प्रज्ञापारमिता' (संपूर्ण), 'सर्वास्तिवादनिकाय' का 'अभिधर्म', 'महाविभाषा', वसुबंधु का 'अभिधर्मकोष' तथा असंग के 'योगाचारदर्शन' पर लिखे हुए ग्रंथ, इत्यादि। उस ने 'दशपदार्थ' नामक एक वैशेषिक ग्रंथ का भी अनुवाद किया है। चीन में योगाचार पद्धति का प्रचार करने का श्रेय ह्वेनसांग ही को है।

जिन बहुमूल्य पदार्थों को ह्वेनसांग अपने साथ चीन ले गया, उन में बुद्ध का शरीरावयव तथा सोने, चाँदी और चंदन की लकड़ी की बनी हुई बुद्ध की मूर्त्तियां थीं। किंतु सब से अधिक मूल्यवान ६७५ विभिन्न मूल ग्रंथों का संग्रह था। इस संग्रह में बौद्ध-

धर्म के विभिन्न-दलों के सूत्र तथा शास्त्रग्रंथ थे। उस में शब्द-विद्या तथा हेतु-विद्या पर भी अनेक ग्रंथ संमिलित थे।

भारतीय संस्कृत के इतिहास में ह्वेनसांग ने जो योग दिया, वह बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत के जिन हस्तलिखित ग्रंथों का उस ने अनुवाद किया, वे भारत तथा चीन से एक दम लुप्त हो गए हैं। किंतु चीनी भाषा के ग्रंथ अब भी सुरक्षित हैं। वह केवल एक अनुवादक ही नहीं था; किंतु एक महान् उपदेशक भी था, जिस से बहु-संख्यक चीनी तथा जापानी विद्वानों ने शिक्षा प्राप्त की। निस्संदेह वह चीनी-बौद्ध-धर्मरूपी गगन-मंडल के अत्यधिक जाज्वल्यमान प्रकाश-पिंडों में से एक था।

लिखेंगे। यहां पर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि स्वयं बाण ही हमें यह बतलाता है कि सम्राट् ने किस प्रकार पहले उस के साथ रुखाई का व्यवहार किया। परंतु कुछ ही दिनों में उन की कृपादृष्टि पड़ने से कवि को पर्याप्त सम्मान, प्रचुर धन और प्रभूत स्नेह प्राप्त हुआ। बाद की जन-श्रुतियां भी हर्ष के साथ उस के नाम को संबंधित बताती हैं और यह भी कहती हैं कि राजा से उसे आशातीत धन प्राप्त हुआ था।

हर्ष के दरबार में बाण के समकालीन मयूर और मातंग दिवाकर नामक दो अन्य कवियों का उल्लेख मिलता है। एक जनश्रुति के अनुसार मयूर कवि बाण का मित्र और संबंधी (ससुर या बहनोई) था। कहा जाता है कि अपनी पुत्री के अभिशाप से जिस के सौंदर्य का उस ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया—उसे कुष्ठ रोग हो गया था; किंतु १०० श्लोकों में सूर्यदेव की स्तुति कर वह उस रोग से मुक्त हो गया था। इन श्लोकों का संग्रह सूर्य-शतक के नाम से प्रसिद्ध है। इस रचना से बाण के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और कहा जाता है, उस के मुक़ाबिले में उस ने चंडी-शतक की रचना की। चंद्रगुप्त ने अपने 'नवसाहसांकचरित' में बाण और मयूर की इस प्रतिद्वंद्विता का संकेत किया है। राजशेखर मयूर की कवित्व-शक्ति की प्रशंसा करता है।

कवि मातंग दिवाकर का नाम उतना प्रसिद्ध नहीं है। राजशेखर के एक श्लोक के अनुसार इस चंडाल कवि की कवित्व-शक्ति इतनी प्रखर थी कि वह राजा हर्ष के दरबार की साहित्यिक मंडली में बाण और मयूर की समकोटि का एक सदस्य हो गया[1]। इस कवि के रचित जो दो-एक श्लोक उपलब्ध हैं, उन के आधार पर हम उस के संबंध में कुछ भी जानने में असमर्थ हैं।

प्राचीन भारत के राजा, विद्वानों के आश्रयदाता ही नहीं थे, बल्कि उन में से अनेक स्वयं प्रसिद्ध ग्रंथकार भी हुए हैं। उन की रचनाओं को जन-साधारण इच्छापूर्वक नष्ट नहीं होने देगा। उदाहरण के लिए हम प्राचीन भारत के कतिपय कवि राजाओं के सम्मानित नामों का उल्लेख कर सकते हैं। हरषेण की इलाहाबाद की प्रशस्ति में लिखा है कि शक्तिशाली गुप्त राजा समुद्रगुप्त ने अपनी अनेक 'काव्य-क्रियाओं' से कविराज की उपाधि प्राप्त की। इस के अनुसार उस की रचनाएं विद्वज्जनों के लिए 'उपजीव्य' थीं[2]।

---

[1] अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समोबाणमयूरयोः॥

[2] 'विद्वज्जनोपजीव्यानेकाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराजशब्दस्य', कॉरपस इंसक्रिपटियोनुम इंडिकारूम, जिल्द ३, गुप्त-लेख नं० १, पंक्ति २७, मूल-पृष्ठ८, अनुवाद पृष्ठ १९

'उपजीव्य' शब्द का अर्थ मेरी सम्मति में 'जीविका अर्जन का उपाय' जैसा कि फ़्लीट महोदय कहते हैं, नहीं है। 'उपजीव'—इस क्रियापद का अर्थ 'उपयोग करना', 'प्रयोग में लाना' भी होता है और कदाचित् यही अर्थ यहां अभिप्रेत है। समुद्रगुप्त ने ऐसे श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथों की रचना की कि विद्वज्जन भी उस का अध्ययन करते तथा लाभ उठाते थे।

प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का रचयिता शूद्रक राजा था। उस का समय निश्चयात्मकरूप से हमें ज्ञात नहीं है। हर्ष के पश्चात् जो राजा कवि हुए, उन में 'रामाभ्युदय' नाटक के रचयिता कन्नौज के राजा यशोवर्मा; कलचुरि-राजा मायुराज, (आठवीं अथवा नवीं शताब्दी) जिस ने 'उदात्तराघव' नाटक, जो अब उपलब्ध नहीं है, लिखा; दक्षिण का राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (८१५-८७७ ई०) जिस के कुछ श्लोक अभी तक पाए जाते हैं; धार का राजा मुंज (६७५-६६५ ई०) और उस के उत्तराधिकारी राजा भोज, जिस ने ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में काव्यों के अतिरिक्त अलंकारादिक विभिन्न विषयों के ग्रंथ रचे थे—परम प्रसिद्ध हैं। सोड्ढल[1] ने (११ वीं शताब्दी) विक्रमादित्य, श्रीहर्ष, मुंज और भोजदेव के नामों का उल्लेख ऐसे राजाओं के उदाहरण में किया है जो कवींद्र थे। राजपूताना में शाकंभरी के राजा विक्रमराजदेव द्वारा लिखा हुआ 'हरकेलि' नाटक अभी तक इस राजा के ११५३ ई० के एक लेख के रूप में अंशतः सुरक्षित है।

भारत के उत्तर कालीन इतिहास में भी राजाओं के ग्रंथ-कर्त्ता होने की परिपाटी क़ायम रही। मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर का 'तुज़ुक-इ-बाबरी' गद्य-प्रबंध-काव्य का एक आदर्श है। जहाँगीर भी एक प्रसिद्ध लेखक था। अन्य अनेक मुग़ल-राजकुमार और राजकुमारियों ने भी प्रांजल तथा मनोहर पद्य लिखे हैं। मुग़ल सम्राटों के साथ साहित्य-सेवी राजाओं की तालिका का अंत नहीं हो जाता। गत शताब्दी तक बहुसंख्यक हिंदू राजाओं ने इस परिपाटी को क़ायम रक्खा और शायद ऐसे राजाओं की शृंखला आज भी अटूट है।

लेखकों की तालिका में राजा हर्ष का स्थान बहुत ऊँचा है। अधिकांश भारतीय तथा योरपीय आलोचकों ने बहुत दिनों से इस बात को स्वीकार कर लिया है कि श्रीहर्ष 'नागानंद', 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नामक तीन उच्च कोटि के नाटक-ग्रंथों के रचयिता हैं। इस के अतिरिक्त संस्कृत के पद्य-संग्रहों में भी उन की पद्य-रचनाएं पाई जाती हैं। कभी-कभी यह संदेह प्रकट किया गया है कि ये नाटक हर्ष के रचे हुए नहीं हैं। इस विषय में जो प्रमाण उपलब्ध हैं हम संक्षेप में उन की विवेचना करेंगे[2]। पहले हम बाह्य प्रमाण पर विचार करेंगे। बाण अपने 'हर्षचरित' में कम से कम दो बार उन की पद्य

'उपजीव्य' शब्द के इस अर्थ के उदाहरणस्वरूप 'साहित्यदर्पण' का निम्नलिखित पद उद्धृत किया जा सकता है :—

इत्यलं उपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण—'साहित्यदर्पण' २

[1]संस्कृतमूल—'कवींद्रैश्च विक्रमादित्यश्रीहर्षमुंजभोजदेवभूपालैः—सोड्ढललिखित 'अवंतिसुंदरी-कथा', जिस से 'प्रियदर्शिका' नाटक के अनुवादकों ने उद्धृत किया है। नारिमन, जैक्सन तथा ओग्डन 'प्रियदर्शिका बाई हर्ष', प्रस्तावना पृष्ठ ३८

[2]इस समस्त विषय के लिए नारिमन, जैक्सन तथा ओग्डेन द्वारा अंग्रेज़ी में अनुवादित श्रीहर्ष का 'प्रियदर्शिका' नाटक की भूमिका (पृष्ठ२९-३९) द्रष्टव्य है। इस विवरण का सारांश इसी ग्रंथ के पाण्डित्यपूर्ण विवेचना से लिया गया है।

रचनाओं की ओर संकेत करता है[१] । किंतु इस से यह प्रमाणित नहीं होता कि हर्ष ने उपरोक्त नाटकों में से किसी की रचना की थी । किंतु एक विश्वसनीय साधन से और प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है । इत्सिंग नामक चीनी बौद्ध-यात्री, जो सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में (६७१-६९५ ई०) भारत का भ्रमण करने आया था, साफ़-साफ़ लिखता है कि "राजा शिवादित्य केवल साहित्य का अत्यधिक प्रेमी था; किंतु उस ने स्वयं बोधिसत्व जीमूतवाहन—जिन्हों ने एक नाग को बचाने के लिए अपने को बलिदान कर दिया—की कथा को पद्य-बद्ध किया था । उस ने रंगमंच पर नृत्य तथा नाट्य-कला के साथ उस का अभिनय कराया[२] " । यह कथन स्पष्टतः 'नागानंद' नामक संस्कृत नाटक की ओर संकेत करता है जिसे विद्वानों ने बहुत दिनों से हर्ष का रचा हुआ माना है । इस रोचक एवं महत्वपूर्ण वाह्य-प्रमाण के अतिरिक्त जो हर्ष को ग्रंथकर्त्ता प्रमाणित करता है, इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि दामोदर गुप्त (जो ८०० ई० में काश्मीर के राजा जयापीड के आश्रय में रहता था) के 'कुट्टिनीमत' में 'रत्नावली' का ज़िक्र किया गया है और उस से उद्धरण दिए गए हैं । दामोदर गुप्त कहते हैं कि इस नाटक का रचयिता एक राजा है; यद्यपि साफ़-साफ़ उस के नाम का उल्लेख नहीं किया है ।

हमें यह भी बता देना चाहिए कि साहित्यिक परंपरा में १७ वीं शताब्दी तक हर्ष एक लेखक के रूप में ज्ञात थे । सोड्ढल (११ वीं शताब्दी) ने उन्हें न केवल कवि राजा माना है, किंतु 'श्रीहर्ष' के रूप में भी उन का उल्लेख किया है, अर्थात् वे गीः यानी वाणी (काव्य इत्यादि) में आनंद लेते थे । जयदेव उन का नाम भास, कालिदास, बाण, मयूर और चोर के साथ लेता है । सत्रहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती ने उन को स्पष्ट शब्दों में 'रत्नावली' नामक नाटिका का रचयिता बतलाया है । संस्कृत के पद्य-संग्रहों में भी यत्र-तत्र ऐसे श्लोक मिलते हैं जिन के रचयिता हर्ष माने जाते हैं ।

तीनों नाटकों के रचयिता के संबंध में जो कुछ प्रमाण मिलता है उस से हम इस परिणाम पर पहुँचने को बाध्य होते हैं कि या तो वे सब के सब स्वयं हर्ष के लिखे हुए हैं या किसी ऐसे अज्ञात नाटककार ने उन की रचना की है जो मानव-स्वभाव के विपरीत प्रसिद्धि का लोभी नहीं था । प्रसिद्धि का लोभ उदारचरित पुरुषों के चित्त की अंतिम दुर्बलता है । किंतु उस ने अपनी भावी प्रसिद्धि के लोभ को संवरण कर के अपने राजा को

---

[१] (क) अपि चास्य कवित्वस्य वाचः न पर्याप्तो विषयः—'हर्षचरित', पृष्ठ १२१ अर्थात् उन की कविता का शब्दों में पर्याप्त रूप से वर्णन नहीं हो सकता ।

(ख) काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमंतम्—'हर्षचरित', पृष्ठ ११२,
अर्थात् वे काव्य और कथाओं में अनास्वादित अमृत की वर्षा करते थे ।

[२] इत्सिंग, 'ए रेकर्ड आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन तक कुसु', भूमिका, पृष्ठ १९-२८, और मूल ग्रंथ, पृष्ठ १६३

अपनी साहित्यिक रचनाओं का वास्तविक कर्त्ता होने का श्रेय प्रदान किया। यह बात कि तीनों नाटक एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं, प्रचुररूप से प्रमाणित होती है; क्योंकि तीनों ही की प्रस्तावना में सूत्रधार राजा हर्ष को उन का कर्त्ता बतलाता है। इस के अतिरिक्त सूत्रधार के मुख से कहलाए गए एक श्लोक में हर्ष को निपुण कवि कहा गया है। वह श्लोक[1] प्रायः ज्यों का त्यों तीनों नाटकों में पाया जाता है। ऐसे श्लोकों के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। कहीं-कहीं एक नाटक के श्लोक दूसरे नाटक में भी पाए जाते हैं। 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' का भरतवाक्य एक ही है। 'प्रियदर्शिका' के तीसरे अंक का तीसरा श्लोक 'नागानंद' नाटक के चौथे अंक का प्रथम श्लोक है। 'प्रियदर्शिका' के तीसरे अंक का दशम श्लोक 'नागानंद' के प्रथम अंक का चौदहवां श्लोक है। इस के अतिरिक्त विचार और शैली से सादृश्य, बार-बार प्रयुक्त पदों, एक ही से पात्र-पात्रियों और समान परिस्थितियों से भी यह बात प्रमाणित होती है कि इन नाटकों का रचयिता कोई एक ही व्यक्ति था।

उपरोक्त नाटकों की रचना की कई शताब्दी पश्चात् यह प्रश्न पहले उठाया गया कि उन के वास्तविक रचयिता कौन थे। मम्मट के प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ 'काव्यादर्श' के कुछ सत्रहवीं शताब्दी के अर्वाचीन टीकाकार ही इस संदेह के लिए उत्तरदायी हैं। काव्यादर्शकार मम्मट अपने ग्रंथ के प्रारंभिक श्लोक में उन लाभों की गणना करते हैं जो काव्य करने से प्राप्त हो सकते हैं।[2] उन में से एक धन की प्राप्ति है। ग्रंथकर्ता स्वयं अपने कथन के उदाहरण में बाण अथवा कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार धावक को दिए गए स्वर्णोपहार का उल्लेख करता है। किंतु जैसा कि प्रसिद्ध जर्मन पंडित बूलर ने माना है, धावक का नाम निश्चय ही भूल से बाण के लिए लिखा गया है। हमारे पास इस का कुछ भी विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि धावक नाम का कोई कवि राजा हर्ष के दरबार में था। यदि यह मान भी लिया जाय कि धावक नाम का कोई वास्तविक व्यक्ति था, तो भी 'काव्य-प्रकाश' गत कथन हर्ष के नाम से प्रसिद्ध नाटकों के रचयिता के संबंध में हमें कुछ भी नहीं बतलाता। यह तर्क करना निश्चय ही अनुचित होगा कि 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता का अभिप्राय यह था कि धावक ने राजा के लिए नाटकों की रचना की और उस के पारिश्रमिक-स्वरूप उसे स्वर्णोपहार प्रदान किया गया। यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि 'काव्यप्रकाश' के अनेक आधुनिक टीकाकार प्रारंभिक पद की टीका करते हुए कहते हैं कि धावक कवि ने हर्ष के नाम से 'रत्नावली' की रचना कर के बहुत-सी संपत्ति प्राप्त की। किंतु इस के संबंध में यह कहा जा सकता है कि ये टीकाकार स्वयं अपने निज के विषय में ही पारंगत थे। वे ऐतिहासिक तथ्यों के विश्वसनीय तथा वैज्ञानिक लेखक नहीं थे।

---

[1] श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितम् नाट्ये च दक्षा वयम्॥
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥

[2] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे॥

यह भी संभव हो सकता है कि टीकाकारों के हाथ में धावक पाठवाली हस्त-लिखित प्रतियां पड़ी हों—और उन्हों ने मम्मट के कथन से यह अर्थ लगाया हो जो कि बिल्कुल कल्पित है—कि धावक ने अपने साहित्यिकश्रम के लिए पारिश्रमिक प्राप्त किया, जब कि इस का सीधा-सादा अर्थ यह होता है कि उसे अपनी काव्य-रचना के लिए इनाम मिला। बहुत संभव है कि अलंकारिकों के दल में परंपरा से यह प्रवाद प्रचलित रहा हो कि राजा हर्ष के नाटकों की रचना धावक ने की थी। किंतु ग्यारहवीं शताब्दी के बाद 'काव्य-प्रकाश' के फल की भ्रमपूर्ण व्याख्या ही के कारण यह प्रवाद प्रचलित हुआ। यहां पर यह कह देना भी उचित मालूम होता है कि बाण को इन नाटकों का रचयिता मानने की बात सर्वथा अस्वीकार कर देने योग्य है; क्योंकि 'हर्षचरित' और उन की शैली में बहुत विषमता एवं असादृश्य है। अंत में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन नाटकों को, केवल अंशतः ही नहीं, बल्कि पूर्णरूप से राजा हर्ष का रचा हुआ मानना ही युक्तिसंगत मालूम होता है। हमारे पास कोई ऐसा कारण नहीं है कि हमयह कह कर कि दरबार के कवियों ने उस की सहायता की, उक्त नाटकों की रचना का सारा श्रेय हर्ष को न दें। हमें यह कदापि न भूल जाना चाहिए कि हर्ष के समकालीन महेंद्रविक्रमवर्मा पल्लव ने एक प्रहसन लिखा जो कि काव्योचित गुणों से खाली नहीं है। उस के संबंध में यह कोई नहीं कहता कि उस की रचना में और किसी का हाथ था।

अब हम हर्ष-रचित नाटकों का संक्षेप में वर्णन करेंगे—'प्रियदर्शिका' चार अंकों की एक नाटिका है। कहा जाता है कि हर्ष के नाटकों में सब से पहले उसी की रचना हुई थी। उस समय उस की प्रतिभा परिपक्व नहीं हुई थी। इस नाटक में वत्स के राजा उदयन और अंग के राजा की लड़की 'प्रियदर्शिका' की प्रेम-कथा का वर्णन है। कलिंग का राजा भी उस राजकुमारी पर मुग्ध था और उस के साथ विवाह करने के लिए लालायित था। परंतु वह अपनी इस मनोकामना को पूर्ण न कर सका और निराश हो कर युद्ध कर के उस ने 'प्रियदर्शिका' के पिता को क़ैद कर लिया। किंतु राजकुमारी ने स्वयं अपने पिता के विश्वासपात्र कंचुकी की सहायता से अपने को क़ैद से बचा लिया। तदुपरांत जंगल के राजा विंध्यकेतु की संरक्षता में वह उस के यहां दिन व्यतीत करती है और इसी लिए उस का नाम आरण्यका पड़ता है। जब उसका रक्षक स्वयं वत्स के राजा उदयन के सेनापति-द्वारा पराजित हो कर मारा जाता है, तब वह बंदी के रूप में उदयन के दरबार में पहुँचती है। उदयन और आरण्यका एक दूसरे को प्रेम करने लगते हैं। जब उदयन की रानी को इस प्रेम-संबंध का पता चलता है, तब वह कुमारी को क़ैद कर लेती है। आरण्यका निराश हो कर विष खा लेती है। किंतु मंत्र के प्रयोग से उदयन उस को पुनर्जीवित कर लेता है। इस बीच में अंग के राजा का कंचुकी अपने स्वामी का कृतज्ञतापूर्ण सम्मान प्रकट करने के लिए वत्सराज के दरबार में आता है और आरण्यका को देख कर पहचान लेता है कि वह वास्तव में प्रियदर्शिका ही है। वत्स राजा की सहायता से अंग का राजा अपने सिंहासन को फिर से प्राप्त करता है। अंग का राजा दृढ़वर्मा वत्सराज की रानी की मौसी का पति था। अतः रानी अपनी मौसेली बहिन

प्रियदर्शिका के जीवित हो उठने पर बहुत प्रसन्न होती है और राजा के साथ उस का पाणि-ग्रहण कराती है। इस प्रकार यह नाटक आनंदोत्सव के साथ समाप्त होता है।

'रत्नावली' भी चार अंकों में समाप्त एक नाटिका है। विषय और रूप दोनों दृष्टि से वह 'प्रियदर्शिका' से संबद्ध है। इस नाटक का नायक भी राजा उदयन है। यद्यपि वासवदत्ता से उस का विवाह पहले ही हो चुका है, फिर भी वह अपनी रानी की एक दासी सागरिका के प्रेम में फँस जाता है। वह दासी वास्तव में लंका के राजा की पुत्री थी और उस का नाम रत्नावली था। उस के पिता ने उसे उदयन की स्त्री बनने के लिए वत्स भेजा। किंतु उस का जहाज़ समुद्र में डूब गया और कौशांबी के एक सौदागर ने उस के प्राण बचाए। अंत में वह वत्स के दरबार में पहुँची और रानी के सिपुर्द कर दी गई। सागर से उस का उद्धार किया गया, इस लिए उस का नाम 'सागरिका' पड़ा। रानी को कुमारी सागरिका और राजा उदयन के प्रेम-संबंध का पता चलता है। वह बहुत नाराज़ होती है। अतः जब विदूषक उन दोनों प्रेमियों को एक स्थान में मिलाने की युक्ति सोचता है, तो वह उसे विफल करने की चेष्टा करती है। (तृतीय अंक) फिर उन्हें इकट्ठा देख कर कुमारी तथा विदूषक दोनों को वह क़ैद कर लेती है। चौथे अंक में विदूषक कारावास से मुक्त हो जाता है, वह क्षमा कर दिया जाता है; किंतु कुमारी रनिवास में क़ैद रहती है। जादूगर के कौशल से महल में आग लग जाती है। कुमारी भारी ख़तरे में पड़ जाती है; किंतु राजा स्वयं उस का उद्धार करता है।

इस बीच में लंका के राजा का मंत्री तथा उस का साथी बाभ्रव्य, जो रत्नावली के साथ थे, पोत-भंग से बच कर उदयन के दरबार में पहुँचे। वहां उन्हों ने रत्नावली को, जो उन की समक्ष में जहाज़ के साथ समुद्र में डूब गई थी, देखा और पहचान लिया। अंत में रानी ने रत्नावली को, जो उस की चचेरी बहन थी, सपत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी अवसर पर सेनापति रुमण्वंत-द्वारा प्राप्त विजय का समाचार मिलता है। यह आनंद विवाह की खुशी को और भी अधिक बढ़ाता है। चौथे अंक में नाटक समाप्त हो जाता है। अंत सुखमय होता है।

'नागानंद' 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' से भिन्न है। वह एक नाटक है जो पाँच अंकों में समाप्त होता है और उन दोनों की अपेक्षा इस का विषय भी कुछ गंभीर है। अंतिम दो अंकों में यह बौद्धधर्म का भाव उपस्थित करता है। इस नाटक के नांदी में भगवान् बुद्ध की स्तुति की गई है। इस नाटक की रचना निश्चय ही हर्ष के जीवन के उत्तर काल में हुई होगी। उस समय उन की प्रतिभा ही पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो गई थी, वरन् वे बौद्धधर्म की ओर भी झुकने लगे थे।

इस नाटक का नायक विद्याधरों के राजा का पुत्र जीमूतवाहन है। वह सिद्धों के राजा की लड़की मलयवती के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाता है। जीमूतवाहन, दुष्यंत की भाँति, पहले तो तपोवन में अपनी प्रेमिका से भेंट करता है, किंतु कुमारी से मिलने के पश्चात् एक मुनि उसे तपोवन से अलग ले जाता है। (पहला अंक)

दूसरे अंक में हम प्रेम-विधुरा मलयवती को चंदन-वृक्षों के एक कुंज में पाते हैं।

वहां उस की दासी उस के वक्षस्थल पर चंदन की पत्तियों का उपचार करती है। उसी समय उस का प्रेमी अपने साथी विदूषक के साथ वहां आ पहुँचता है। वह वहां से कुछ दूर हट जाती है और राजकुमार के मुख से सुनती है कि वह उस के प्रेम में व्याकुल है। अब कुमारी का पिता मित्रवसु आता है और राजकुमार से अपनी पुत्री के पाणि-ग्रहण करने का प्रस्ताव करता है। परंतु राजकुमार, जिस को यह पता नहीं है कि जिस से वह प्रेम करता है वह उस के मित्र मित्रवसु की लड़की है, इस विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। मलयवती बहुत निराश हो जाती है और फाँसी लगा कर मर जाने का संकल्प करती है। किंतु जीमूतवाहन समय पर पहुँच कर उस की रक्षा करता है। दोनों का विवाह हो जाता है। दोनों अपने सुख की पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं और सब कुछ भूल जाते हैं। राज्य के छिन जाने का समाचार भी जीमूतवाहन के चित्त में कोई खलबली नहीं उत्पन्न करता। किंतु नायक तुरंत ही इस बात का प्रमाण देता है कि विवाहित जीवन के परमसुख को प्राप्त कर के भी वह दूसरों के लिए जीवित रहने के कर्तव्य को नहीं भूला। यह ज्ञात होने पर कि गरुड़देव को क्षुधा को शांत करने के लिए नित्यप्रति सर्पों की बलि दी जाती है, वह अपने प्राण को दे कर भी उन के प्राणों को बचाने का संकल्प करता है। शंखचूड़ नामक सर्प देवता के लड़के को बलि देने की बारी आती है; किंतु राजकुमार उस के बदले भक्षण करने के लिए अपने को गरुड़ के सामने उपस्थित करता है। (पंचम अंक) देवीगौरी नायक को फिर जीवित कर देती है और वह मलयवती तथा अपने माता-पिता के साथ अपने राज्य में सिंहासन पर फिर आरूढ़ कर दिया जाता है।

हर्ष की कला और शैली

उस के समकालीन बाण की जटिल एवं अलंकारिक शैली के साथ तुलना करने से ज्ञात होता है कि हर्ष की शैली की विशेषता उस की सरलता है। कवि राजा अपने नाटकों में अपने को एक उच्च कोटि के कलाकार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। वे अपनी वस्तुकथा को बड़ी चतुरता के साथ तैयार करते हैं। यद्यपि वे अपने दो नाटकों—'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका'—में राजा उदयन तथा उस की प्रेम-कहानी को ही अपना मुख्य विषय चुनते हैं, तो भी उस परंपरागत प्रवाद को इस ढंग से वर्णन करते हैं कि वह नवीन और एक प्रकार से मौलिक है। जनश्रुति-प्रसिद्ध उदयन की कथा से उक्त दोनों नाटकों में भारी अंतर है। इस में संदेह नहीं कि हर्ष अपने नाटकों के कतिपय पात्र-पात्रियों तथा परिस्थितियों के लिए कालिदास के कृतज्ञ हैं[1]। किंतु संस्कृत साहित्य में इस भारतीय शेक्सपियर की अनोखी स्थिति को देखते हुए यह ऋण अनिवार्य था। इस के अतिरिक्त दोनों नाटककारों ने अपने नाटकों के लिए जो विषय चुने थे, उन में कुछ सादृश्य है (उदाहरणार्थ कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' और हर्ष के 'प्रियदर्शिका' में)। हर्ष अपने पात्रों का चरित्रचित्रण बड़ी कुशलता के साथ करते हैं और साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि प्रेम की

---

[1]देखिए, 'नारिमन, जैक्सन और ओग्डेन का 'प्रियदर्शिका बाई हर्ष', पृष्ठ ८७ से ९० तक।

भावना की अभिव्यक्ति में वे सिद्धहस्त थे। साथ ही मानव-हृदय के अन्य गंभीर उदार भावों के चित्रण करने में भी वे कम सफल नहीं रहे। नायक नागानंद बौद्ध-धर्म का आदर्श था। वह आत्म-त्यागी, उदारचेता तथा दृढ़ प्रतिज्ञ है। दूसरे के प्राण को बचाने के लिए वह स्वयं वीरता पूर्वक मृत्यु का सामना करता है। वह परोपकार का अवतार है। हर्ष के पास वर्णनात्मक शक्ति की भी कमी नहीं है। कला, प्राकृतिक पदार्थों तथा मानव-भावनाओं के जो वर्णन उन्हों ने किए हैं वे सराहनीय हैं। भाषा का प्रवाह उन्मुक्त है, उस में कहीं कृत्रिमता नहीं आने पाई है। अलंकारों का प्रयोग वे बड़ी कुशलता के साथ और प्रभावोत्पादक रूप में करते हैं। उन के नाटकों की संस्कृत सरल और सुंदर है। सब बातों पर दृष्टि रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्राचीन संस्कृत कवियों में हर्ष को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। उत्तर-कालीन हिंदू लेखकों की दृष्टि में 'रत्नावली' को बहुत ऊँचा स्थान मिला था। 'सदुक्तिकर्णामृत' जैसे संस्कृत के पद्य संग्रहों में उस के श्लोक प्रौढ़रचना के उदाहरण के रूप में उद्धृत किए गए हैं। साहित्यिक रचना की अनेक विशेषताओं को सोदाहरण समझाने के लिए अलंकार-ग्रंथों के रचयिताओं ने उन के नाटकों विशेषतः 'रत्नावली' से स्वच्छंदता-पूर्वक उद्धरण दिए हैं।

उपरोक्त तीन नाटकों के अतिरिक्त दो अन्य संस्कृत काव्य हर्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन का विषय बौद्धधर्म है। उन में से एक 'सुप्रभातस्तोत्र' है। इस में २४ श्लोकों में बुद्धदेव की स्तुति की गई है। दूसरे काव्य का नाम 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्रं' है। उस में आठ महान चैत्यों का गुण-गान पाँच श्लोकों में किया गया है। उस के श्लोक सुंदर हैं। मूल संस्कृत ग्रंथ चीनी लिपि में अब तक सुरक्षित है[1]। इन के अतिरिक्त लगभग आधे दर्जन श्लोक और हैं जो संस्कृत के पद्य संग्रहों में उन के नाम से उद्धृत किए जाते हैं। ये श्लोक उन के उपलब्ध नाटकों में नहीं पाए जाते। 'प्रियदर्शिका' के संपादकों की भाँति हम भी यह कहने के लिए स्वतंत्र हैं कि मधुवन और बंसखेरा के लेखों के फल को स्वयं हर्ष ने लिखवाया था[2]। किंतु इस कथन का समर्थन करने के लिए हमारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है। लेख-गत श्लोकों से निश्चयात्मक रूप से इस संबंध में कुछ निर्णय करना असंभव है। किंतु यह मानना अधिक उपयुक्त होगा कि दोनों लेखों का पांडु-लेख महाक्षपटल के अधिकरण में तैयार कराया गया था और उस के द्वारा स्वीकृत हुआ था। अंत में राजा ने उस पर अपनी स्वीकृति दी।

यह कहना अभी अवशेष है कि केवल विद्वानों के आश्रयदाता और कवि होने के नाते ही इतिहासकार हर्ष का वर्णन कर संतोष नहीं कर सकते। वे सुशिक्षित और सुसंस्कृत विचारों के व्यक्ति थे। मालूम होता है कि उन में अगाध पांडित्य ही नहीं था, वरन् वे ललित कलाओं में भी पारंगत थे। बाण ने लिखा है कि वे सब विद्याओं और संगीत के

---

[1]देखिए, नरिमन जैक्सन तथा ओग्डन सम्पादित 'प्रियदर्शिका बाई हर्ष' की भूमिका पृष्ठ ४४

[2]उक्त 'प्रियदर्शिका' की भूमिका, पृष्ठ ४३

लिए सरस्वती के गृह-स्वरूप एवं ललित कलाओं के लिए 'कन्या-अंतःपुर' स्वरूप थे[1]। हम को इस में संदेह करने की आवश्यकता नहीं है कि हर्ष संगीत के प्रेमी और गुणज्ञ थे। चाहे वे स्वयं कुशल सांगीतिक न रहे हों; परंतु वे सुदक्ष सांगीतज्ञ की भाँति वीणा-वाद्य को सुना करते थे[2]। वे एक गुणज्ञ की भाँति कला की कृतियों को ख़ूब पहचानते थे। उन दिनों राजकुमारों को ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। चंद्र पीड़ की शिक्षा का जो वर्णन बाण ने किया है उसे एक दम कल्पित न समझना चाहिए। उज्जयिनी के राजकुमार ने भरत तथा अन्यान्य द्वारा निर्धारित नृत्य-नियमों में नारद, आदि की संगीत विद्या में तथा बांसुरी आदि वाद्य एवं चित्रकला में बड़ी कुशलता प्राप्त की थी।

यह मत स्थिर किया गया है कि हर्ष का हस्ताक्षर असाधारण रूप से सुंदर था। इस के प्रमाण में बंसखेरा लेख का प्रमाण उपस्थित किया जाता है। अनुमान किया जाता है कि उस लेख में हर्ष का अपने हाथ का बनाया हुआ हस्ताक्षर है। उस में साफ़-साफ़ लिखा है "स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य"। स्मिथ का मत है कि नाम असली को देख कर खोदा गया था। किंतु यह बात उल्लेखनीय है कि नाम की लिखावट लेख की लिपि से तनिक भी भिन्न नहीं है और यह मालूम होता है कि लेख को हर्ष के महाक्षपटल के आज्ञानुसार ईश्वर नाम के लेखक ने उत्कीर्ण किया था। हमें यह स्वीकार करना होगा कि या तो संपूर्ण लेख हर्ष के हाथ से लिखा गया था, अथवा नाम सहित सारा लेख अनुमानतः लेख-विभाग के किसी कर्मचारी का लिखा होगा। मेरी सम्मति में लेखउत्कीर्ण करने वाले ईश्वर के सामने मूल लेख की एक साफ़ तथा सुस्पष्ट प्रति थी और वह लेख-दफ़्तर में तैयार की गई थी। उस में हर्ष का नाम प्रायः उसी रूप में था जैसा कि छपे और टाइप किए हुए सरकारी काग़ज़ातों पर अफ़सरों के नाम लिखे रहते हैं और उन के सामने ब० ख़ु० रहता है। यह कोई नहीं कहेगा कि ये नाम स्वयं अफ़सरों के हाथों से लिखे जाते हैं। 'स्वहस्त' शब्द का अर्थ वही है जो ब० ख़ु० का है। आवश्यक रूप से उस का अर्थ यह नहीं है कि स्वयं मेरे हाथ का लिखा हुआ है। इस के अतिरिक्त हर्ष का हस्ताक्षर असाधारण रूप में अच्छा रहा होगा जब वे राज्य के साधारण काग़ज़ातों पर इतने सुंदर अक्षरों में हस्ताक्षर करते थे। मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूं कि बंसखेरा के लेख में हर्ष

---

[1] सर्वविद्यासंगीतकगृहमिव सरस्वत्या, कन्यान्तःपुरमिव कलानां—'हर्षचरित', पृष्ठ १२०

[2] आपाटलांशुतनुतंत्रीसंतानवलयिनीं कुटिलकोटिबालवीणां अनवरतचलितचरणानां वादयतामुपवीणायतामिव स्वरव्याकरणविशारदं श्रवणावतंसमधुकरकुलानां कलक्वणितमाकर्णयन्तम्।—'हर्षचरित', पृष्ठ ११६-१७

इस का भावार्थ यह है :—हर्ष के कानों में कुंडल सुशोभित थे जिन में मणि लगे थे। इन का अग्रभाग ही मानों एक छोटी सी वीणा थी और मणि की गुलाबी किरणें उस की तंत्रियों के समान थीं। राजा के कानों के पास भन-भनाते हुए भौंरे अपने सदा चंचल पैरों से मानों इस वीणा को बजा रहे थे। हर्ष एक कुशल संगीतज्ञ की भाँति इस गत को सुन रहे थे।

का जो नाम पाया जाता है वह स्वयं हर्ष का लिखा हुआ नहीं है। मैसूर तथा वलभी के लेखों में राजाओं के इसी प्रकार के दस्तख़त अनेक बार मिलते हैं। इस से भी यह सिद्ध होता है कि वे राजाओं के हाथ के बनाए हुए हस्ताक्षर नहीं हैं क्योंकि ऐसा विश्वास करना कठिन है कि प्राचीन भारत के इतने अधिक राजाओं की लिखावट अच्छी होती थी। यदि हम इसे मान भी लें तो यह कहना एकदम कठिन है कि सभी राजाओं ने न्यूनाधिक एक ही से अक्षर, जैसा कि उन की लिपियों से प्रतीत होता है, लिखे होंगे।

किंतु उपरोक्त बातों से हमारे इस कथन पर कुछ भी व्याघात नहीं पहुँचता कि हर्ष एक प्रकांड विद्वान, उच्चकोटि के ग्रंथ-कर्त्ता और सुसंस्कृत थे। प्राचीन भारत के मध्यकालीन इतिहास के पृष्ठों में उन का नाम सदा देदीप्यमान रहेगा।

नवम अध्याय

हर्ष का धर्म

किसी व्यक्ति-विशेष का धार्मिक विश्वास उस काल की धार्मिक अवस्था का परिणाम है जिस में वह रहता, विचरण करता और जीवन व्यतीत करता है। साधारणतः समाज की उस समय जो धार्मिक अवस्था थी उस का वर्णन हम विस्तार के साथ आगे के एक अध्याय में करेंगे। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उस समय समाज में मुख्यतया तीन मत प्रचलित थे—बौद्ध, ब्राह्मण एवं जैन। बौद्ध-धर्म यद्यपि निश्चय रूप से पतनोन्मुख था तथापि अभी उस की शक्ति बड़ी ज़बरदस्त थी। पूर्वी भारत और वैशाली जैसे प्रदेशों को छोड़ कर जैनधर्म का प्रभाव उत्तरी भारत में कम रह गया था। पौराणिक देवताओं को माननेवालों की संख्या अधिकांश प्रांतों में बहुत अधिक थी। यद्यपि धार्मिक असहिष्णुता तथा धर्मांधता का एकदम अभाव नहीं था, फिर भी विभिन्न मतों के अनुयायियों का पारस्परिक व्यवहार मित्रतापूर्ण था। किसी एक देवता की उपासना करने वाला बारी-बारी से उस काल में प्रचलित सभी प्रकार की उपासना करने के लिए प्रसन्नता पूर्वक तैयार रहता था।

जिस कुल से हर्ष का संबंध था वह अपनी धार्मिक सहिष्णुता तथा सर्वधर्म-समन्वय के लिए खूब प्रसिद्ध था। हर्ष के संबंधियों और उन के पूर्वजों में से प्रत्येक व्यक्ति, यद्यपि किसी एक खास देवता का भक्त था और उसी की पूजा सच्चे हृदय से करता था, तो भी वह अन्य देवताओं की उपासना से विमुख नहीं रहता था। हर्ष का एक दूर का पूर्वज पुष्यभूति शिव का अनन्य उपासक था। बचपन से ही शिव के प्रति उस के हृदय में स्वाभाविक भक्तिभावना जाग्रत हो गई थी। स्थानेश्वर नगर में उपासना के प्रधान विषय

शिव ही थे[1]। वहां घर-घर परशुपाणि शिव की उपासना होती थी। हम 'हर्षचरित' में पुष्यभूति को श्मशान-भूमि में शव की छाती पर चढ़ कर वेतालसाधना के भयंकर अनुष्ठान में भैरवाचार्य नामक महाशैव की सहायता करते हुए पाते हैं।

हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन स्वाभाविक प्रवृत्ति से सूर्य के अनन्य उपासक थे[2]। वे प्रतिदिन सूर्योदय के समय पूर्वाभिमुख हो कर पद्मराग के बने हुए एक पवित्र पात्र में रक्त कमलों का एक गुच्छा ले कर सूर्यदेव को अर्घ्य देते थे[3]। वह पात्र मानों उन के हृदय की भाँति सूर्य के ही रंग से अंशतः रंजित होता था। अर्घ्य देने के अतिरिक्त संतान पाने की इच्छा से वे नित्य प्रातः, मध्याह्न तथा संध्या समय आदित्यहृदय मंत्र का जप करते थे। मधुवन और बंसखेरा के लेखों तथा सोनपत के मुहर में प्रभाकरवर्द्धन को 'परमादित्य भक्त' कहा गया है। हर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्द्धन मधुवन और बंसखेरा के लेखों में 'परमसौगत' कहे गए हैं; किंतु सोनपत के मुहर में वे 'परमादित्य-भक्त' बतलाए गए हैं। मालूम होता है कि राजकुमार बौद्धधर्म के उपदेशों से प्रभावित हुए थे। संभवतः बौद्धधर्म की प्रवृत्ति के कारण ही उन्हों ने प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के अनंतर सन्यास ग्रहण करने का संकल्प किया। किंतु बुद्ध के प्रति उन की जो भक्ति थी उस का अर्थ यह नहीं है कि वे हिंदू धर्म के देवताओं, विशेष कर सूर्यदेव से जो कि राजकुल की उपासना के प्रधान विषय थे, विमुख हो गए थे। यहां पर यह लिख देना असंगत न होगा कि बाण उन की बौद्धधर्म की प्रवृत्ति के संबंध में कुछ भी उल्लेख नहीं करता। हम कह सकते हैं कि राज्यवर्द्धन ने हर्ष की भांति ही अनेक देवताओं की उपासना की।

हर्ष के धर्म के विषय में ज्ञान और निश्चयात्मक है। इस के लिए हमें चीनी यात्री ह्वेनसांग के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए; क्योंकि उस ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में राजा के संबंध में भी कुछ विवरण दिया है। लेखों में उन्हें (परममाहेश्वर) लिखा है। इस का अर्थ यह होता है कि वे राजकुल के अन्यतम प्रधान देवता शिव के अनन्य भक्त थे। सूर्यदेव के बाद शिव जी ही निस्संदेह संपूर्ण राजधानी में सर्वप्रधान देवता थे। बाण हमें बतलाता है कि शशांक के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करने के पूर्व हर्ष ने बड़ी भक्ति के साथ भगवान् नील-लोहित की पूजा की[4]। हर्ष के राज्य की मुहर पर वृष का चित्र अंकित होता था। शशांक के विरुद्ध प्रस्थान के बाद ही श्रीहर्ष सरस्वती-तटस्थ एक मंदिर में दर्शन करने गए जो राजधानी से दूर न था। यहां ग्रामाक्षपटलक उन से मिलने के लिए आया और एक नवीन बनी हुई सोने की वृष-चिह्नित-मुद्रा उन को

---

[1] गृहे गृहे भगवानपूज्यत खण्डपरशुः, 'हर्षचरित', पृष्ठ १५१

[2] निसर्गत एव च स नृपतिरादित्यभक्तो बभूव—'हर्षचरित', पृष्ठ १७८

[3] प्रतिदिनमुदये······प्राङ् मुखः······पवित्र पद्मरागपात्रनिहिते स्वहृदयेनेव सूर्यानुरक्तेन रक्तकमलषण्डेनार्घं ददौ—पृष्ठ १७८

[4] विरचय्य परमया भक्त्या भगवतः नीललोहितस्यार्चाम्,—'हर्षचरित', पृष्ठ २७३

समर्पित की[1]। इस से भी सिद्ध होता है कि हर्ष में शिव-उपासना की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में थी। साथ ही हर्ष ने भी सूर्यदेव की उपासना की उपेक्षा कभी नहीं की[2]। उन दिनों ब्राह्मणों, आचार्यों, मात-पिता और गाय का आदर करना हिंदू-धर्म का महत्व-पूर्ण अंग था। हर्ष ने ब्राह्मणों का समुचित आदर करने में कोई कमी नहीं रक्खी। बाण अपने ग्रंथ में अनेक स्थलों पर इस कथन को प्रमाणित करता है। उन्हों ने शशांक पर चढ़ाई करने के लिए रवाना होते समय ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी भेटें दीं[3]। बाण का, जो स्वयं एक आदर्श ब्राह्मण था—कथन है कि ब्राह्मण लोग उन्हें अपना सदा कटिबद्ध सहायक समझते थे[4]। इस में लेशमात्र भी संदेह का अवकाश नहीं है कि उपासना के अन्य विषयों के संबंध में हर्ष दूसरों के लिए उदाहरण-स्वरूप थे।

अपनी माता के प्रति उन के हृदय में जो प्रगाढ़ सम्मान और श्रद्धा थी वह 'हर्ष-चरित' के एक पद से पाठकों को पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इस पद में बाण ने उन को अपने पति के जीवन-काल में ही जल कर मर जाने के भीषण संकल्प से डिगाने के लिए हर्ष के विफल प्रयत्नों को बड़े ही कारुण्यव्यंजक शब्दों में वर्णन किया है[5]।

ह्वेनसांग के दिए हुए भ्रमण-वृत्तांत के आधार पर इतिहासकार इस बात से सह-मत हैं कि हर्ष की प्रवृत्ति उस के उत्तरकालीन जीवन में बौद्धधर्म की ओर हो गई थी। किंतु हमें यह याद रखना चाहिए कि उन के बड़े भाई बौद्धधर्म के पक्के अनुयायी थे। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में भी उन के हृदय में तथागत (बुद्ध) धर्म के प्रति सम्मान निश्चय ही बना रहा होगा। इस के अतिरिक्त बौद्ध महात्मा दिवाकर मित्र ने उन के ऊपर गहरा प्रभाव डाला होगा, जैसा उन्होंने उन की बहिन राज्यश्री पर डाला था। हम को यह निश्चय समझना चाहिए कि बौद्ध-धर्म की ओर उन का झुकाव उसी समय हुआ था, जब कि विंध्य के जंगल में उक्त महात्मा से उन की भेंट हुई थी। बाण बतलाता है कि यद्यपि हर्ष ने

---

[1]आमात्त्यपटलिकः............वृषांकामभिनवघटितां हाटकमयीं मुद्रां समुपनिन्ये—'हर्षचरित', पृष्ठ २७४

[2]देखिए, हर्षचरित, पृष्ठ ११६ का यह पद "कर्णात् मित्रप्रियं" अर्थात् वे सूर्य को कर्ण से भी अधिक प्रिय थे।

प्रयाग में महाभिक्षादान के अवसर पर श्रीहर्ष ने प्रथम दिन बुद्ध की मूर्ति की—प्रतिष्ठा की, दूसरे दिन आदित्य की और तीसरे दिन ईश्वरदेव अर्थात् महेश्वर की जीवनी, पृष्ठ १८६

[3]दत्वाद्विजेभ्यो रजतंति राजतानि जातरूपमयानिच सहस्रशस्तिलपात्राणि कनकपत्र लतालंकृतशफ शृंग शिखरा गाश्चाबुर्दशः—'हर्षचरित, पृष्ठ २७३

[4]विप्रैः सुसहाय—'हर्षचरित', पृष्ठ ११२

[5]देखिए, 'हर्षचरित', पृष्ठ २२७, २३२

"देव परित्रायस्व, परित्रायस्व जीवत्येव भर्त्तरि किमप्यध्यवसितं देव्येति" से आरंभ करके "देव्यपी यशोमती............सरस्वती तीरं ययौ तत्रच............भगवंतं............चित्रभानुं प्राविशत्" तक।

राज्यश्री को आत्महत्या करने से रोका था, किंतु उस ने काषाय वस्त्र धारण करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए अपने भाई से प्रार्थना की थी। हर्ष उस की प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए तैयार थे; लेकिन इस शर्त पर कि जब तक वे अपने शत्रुओं से बदला लेने के संकल्प को पूरा न कर लें तब तक वह ऐसा करने से रुकी रहे। साथ ही हर्ष ने दिवाकर मित्र से प्रार्थना भी की थी कि वे कृपया कुछ समय तक उन का आतिथ्य स्वीकार कर शोक-ग्रस्ता बहिन को धार्मिक बातें सुनाएं और उपदेश तथा सलाह दें। इतिहासकारों ने प्रायः इस बात की अवहेलना की है कि राजा और उन की बहिन के साथ महल में ठहरने के कारण दिवाकर मित्र ने बौद्ध-धर्म के उपदेशों के प्रति उन के हृदयों में प्रगाढ़ सम्मान पैदा कर दिया था। उस महात्मा ने राजधानी में अपना दिन व्यतीत किया और भाई एवं बहिन के चित्तों को बौद्धधर्म के भावों से भर दिया। किंतु दिवाकर-मित्र के इस काम को पूरा करनेवाला ह्वेनसांग था। उस ने महायान शाखा के बौद्धधर्म के प्रति राजा के ध्यान को ख़ूब आकर्षित किया। ह्वेनसांग और हर्ष की भेंट बंगाल में खजुघिर नामक स्थान में हुई जब कि वे गंजाम के आक्रमण से वापस आ रहे थे। यात्री ने राजा को महायान धर्म के सिद्धांतों को समझाया। राज्यश्री भी भाई के पीछे बैठ कर उन के व्याख्यान को सुन रही थी[1]। अतः ह्वेनसांग का काम हीनयान मत की त्रुटियों को दिखाकर हर्ष के हृदय में महायान मत के लिए जोश पैदा करना था। किंतु यहां पर यह भी लिख देना चाहिए कि राजा और ह्वेनसांग के बीच जो भेंट हुई उस से केवल राजा का हित ही नहीं हुआ, बल्कि उन में कुछ धर्मांधता भी बढ़ गई। मालूम होता है कि हर्ष ने धार्मिक वाद-विवाद करने की प्रवृत्ति को धर्मके आचार्य ह्वेनसांग से अंशतः प्राप्त किया; किंतु यह भाव वास्तविक धार्मिकता के पूर्णतया अनुकूल न था। नए मत के लिए उन में इतना जोश था कि उन्हों ने तुरंत कन्नौज में एक महती सभा बुलाई। उस में विभिन्न संप्रदायों के लोग सम्मिलित हुए। इस सभा का उद्देश्य उस काल के अन्य मतों में महायान की श्रेष्ठता सिद्ध करना तथा अन्य सिद्धांतों का खंडन कर ह्वेनसांग के रचे हुए महायान-शास्त्र का प्रचार करना था। जैसा कि डा० मुकर्जी कहते हैं उस सभा में हर्ष ने असहिष्णुता का प्रदर्शन किया जो कि उन की साधारण शासन-नीति के प्रतिकूल था[2]। हम देखते हैं कि उस सभा में जो वाद-विवाद हुआ उस में न्याय और औचित्य का प्रायः अभाव था। सचमुच उस में कोई वाद-विवाद ही नहीं हुआ। ह्वेनसांग के साथ विवाद करने की हिम्मत किसी ने नहीं की क्योंकि राजा की ओर से यह पहले ही घोषणा कर दी गई थी कि "जो कोई उस के (यात्री) विरुद्ध बोलेगा उस की जीभ काट ली जावेगी"। बात यह थी कि हीनयान संप्रदाय के अनुयायी ह्वेनसांग का प्राण लेने के लिए षड्यंत्र रच रहे थे और इसी के परिणामस्वरूप उक्त आशय की घोषणा की गई थी; किंतु वास्तव में उस की कुछ आवश्यकता नहीं थी। उस के कारण

---

[1] 'जीवनी' पृष्ठ १७६

[2] मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ १४२

बाद-विवाद की शर्तें बिलकुल अन्यायपूर्ण हो गई थीं। ह्वेनसांग की विजय एकांगी थी। अनेक व्यक्तियों ने उसे अश्रद्धा की दृष्टि से देखा होगा। जैसा कि डा० स्मिथ स्वीकार करते हैं "हर्ष कभी-कभी पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता एवं समानता के सिद्धांत के विरुद्ध आचरण कर बैठता था[१]"। महाराज अशोक के शासन में उक्त प्रकार की घटना का होना असंभव था। उन्हों ने एक प्रसिद्ध धर्मशासन निकाल कर अन्य संप्रदायों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता प्रदर्शित करने का आदेश कर दिया था[२]। थोड़ी-बहुत धर्मांधता के वशीभूत हो उन्हों ने अपने मन में यह नहीं सोचा कि अपने सद्धर्मानुयायियों के प्रति विशेष सहानुभूति दिखा कर वे अपने ही धर्म को क्षति पहुँचा रहे थे। संदेह किया जा सकता है कि ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच अंतर बढ़ाने का कुछ दायित्व हर्ष की धार्मिक नीति पर था। दोनों मतवाले यद्यपि प्रत्यक्षतः शांतिपूर्वक एक साथ रहते थे किंतु बहुधा वे एक दूसरे से हार्दिक द्वेषभाव रखते थे। उस समय वैदिक-धर्म के बहुत से अनुयायी ब्राह्मण थे जो यज्ञों के ऊपर विशेष ज़ोर देते थे। मीमांसकों के प्रयत्न से उस की दिन-प्रति-दिन उन्नति हो रही थी। इस में संदेह नहीं कि सारे देश में कट्टर ब्राह्मण बौद्धधर्म का खंडन तथा वैदिक यज्ञों का समर्थन करने में अपनी बुद्धि का उपयोग करते थे। शासन काल के प्रारंभिक भाग में हर्ष की उदार सहिष्णुता की नीति का ही फल था कि ब्राह्मण तथा श्रमण दोनों संतुष्ट बने रहे। किंतु इस बुद्धिमत्ता-पूर्ण धार्मिक तटस्थता की नीति को परित्याग कर देने के कारण उन दोनों संप्रदायों के संबंध में वैर-भाव पैदा हो गया। यों तो ब्राह्मण लोग पहले ही से हर्ष पर कुछ रुष्ट थे क्योंकि उन्हों ने कठोर दंड का विधान कर जीव-हिंसा करना बंद कर दिया था, किंतु जब वे उन के प्रतिद्वंद्वियों बौद्धों के प्रति विशेष कृपा व सहानुभूति दिखलाने लगे तब वे उन के शत्रु बन गये। पशु-बलि की निषेधाज्ञा को उन्हों ने स्वभावतः अपने धर्म पर एक आघात समझा। उन का असंतोष उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, जब हर्ष ने साहस कर के कन्नौज की धार्मिक परिषद् में अपनी धर्मांधता का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन किया और अपनी घोषणा-द्वारा स्वतंत्रता पूर्वक बाद-विवाद करना असंभव कर उन का अपमान किया। ब्राह्मणों के हृदय में जो द्वेषभाव अब तक अवरुद्ध पड़े थे वे प्रकट हो गए। उन्हों ने स्वयं राजा की हत्या करने की चेष्टा की, किंतु जिस धर्मांध व्यक्ति को उन्हों ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया, वह फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया गया। उस ने स्वीकार कर लिया कि वह कतिपय ऐसे विद्यार्थियों द्वारा राजा की हत्या करने के लिए उत्तेजित किया गया था, जो बौद्धों के प्रति राजा द्वारा प्रदर्शित अत्यधिक सहानुभूति को पसंद नहीं करते थे। हर्ष को इस अपराध को बहुत गंभीर न समझना चाहिए था क्योंकि वह व्यक्तिगत था। यदि वे उपर्युक्त रीति से षड्यंत्र के नायकों को दंड दे देते तो न्याय का उद्देश्य सिद्ध हो जाता। किंतु ऐसा न कर के, हम देखते हैं कि अधिक से अधिक जितना कठोर दंड दिया जा सकता था, उन्हों ने दिया। लगभग ५०० ब्राह्मणों को उन्हों ने निर्वासित कर दिया। बाद को इन सब का व्यापक

[१] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३६०

[२] धर्मलिपि, नं० १२

और अनिवार्यरूप से विपरीत प्रभाव पड़ा। यह बात निश्चय है कि देश में बौद्धधर्म का प्रभाव घटता गया और मीमांसक लोग विजय-लाभ करते गए। अंत में उन के नेता कुमारिल (भट्ट) ने बौद्धधर्म का प्रायः सर्वनाश ही कर दिया। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, बहुत संभव है कि कुमारिल पहले से ही, हर्ष के उत्तरकालीन दिनों में ही, वैदिक-धर्म के प्रसिद्ध समर्थक रहे हों और उन के अनुयायियों ने ही हर्ष के प्रयत्न को विफल करने की चेष्टा की हो, जब कि उन्हों ने ह्वेनसांग की सहायता से कन्नौज की धार्मिक परिषद् में बौद्धों की स्थिति को दृढ़ करना चाहा था[1]। यदि उन की धार्मिकता नीति और बुद्धिमत्तापूर्ण तथा दूरदर्शितामय होती तो हर्ष संभवतः ब्राह्मणों द्वारा बौद्धधर्म के सर्वनाश को रोकने में सहायक होते। इस से ब्राह्मणों को वेदों की प्रामाणिकता और यज्ञों की उपयोगिता पर दृढ़ विश्वास हो गया।

हर्ष धार्मिक वाद-विवाद के प्रेमी थे। जिस युग में उन का आविर्भाव हुआ, वह धार्मिक वादविवाद के लिए प्रसिद्ध था। विरोधी सिद्धांतो के माननेवाले आपस में वाद-विवाद किया करते थे। ह्वेनसांग[2] का कथन है कि उन्हों ने सब भिक्षुओं को परीक्षा तथा वाद-विवाद के लिए एकत्रित किया और उन्हें उन की योग्यता के अनुसार एवं बौद्ध-दर्शन और विनय के ज्ञान के लिए पुरस्कार दिया। उन्हों ने विशेषरूप से उन श्रमणों का सम्मान किया, जिन्हों ने विनय में निर्धारित सदाचार के नियमों के पालन में अपना अच्छा परिचय दिया। इस के अतिरिक्त उन्हों ने गंगा के तट पर स्तूप बनवाए तथा बौद्धों के पवित्र स्थानों में मठों की स्थापना की। यात्रियों के लिए उन्हों ने धर्मशालाएं बनवाईं, जिन में उन के खाने-पीने का प्रबंध था और आवश्यकता होने पर सुदक्ष चिकित्सक उन को औषधि देते थे। इस प्रकार उन्हों ने बौद्ध-धर्म के प्रति अपने ज्वलंत प्रेम का प्रचुर प्रमाण दिया। वे प्रतिदिन अपने स्थान पर एक हज़ार बौद्ध भिक्षुओं तथा ५०० ब्राह्मणों को भोजन करवाते थे। वर्ष में एक बार वे सभी बौद्ध भिक्षुओं को एकत्रित करते और अपने-अपने निर्दिष्ट नियमों के अनुसार उन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती, इक्कीस दिनों तक बराबर देते रहते थे। उन की दानशीलता का एक महा अलौकिक उदाहरण जिस की बौद्धों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। यह है—"पुण्य के वृक्ष को आरोपित करने में उन्हों ने इतना अधिक प्रयत्न किया कि वे खाना और सोना भूल गए"[3]। यद्यपि उन में बहुत अधिक धार्मिक उत्साह था और बौद्धधर्म की उन्नति के लिए उन्हों ने बहुत-कुछ किया था; तथापि भारत के धार्मिक इतिहास में वे अपना नाम अमर करने में असफल रहे। अशोक और कनिष्क की भाँति जो बौद्ध धर्म के इतिहास में महान व्यक्ति हैं और जिन्हों ने उस धर्म पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी है—हर्ष अपना नाम नहीं कर सके। अपने उत्तरकालीन दिनों में उन्हों ने जिस धर्म को अपनाया उस के लिए वे कोई ऐसा कार्य नहीं कर सके, जो स्थायी होता।

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४४

[2] वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', पृष्ठ ३२९

[3] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४४

दशम अध्याय

शासन-प्रबंध

महाराज हर्ष के समय में जो शासन-प्रणाली प्रचलित थी वह गुप्तकाल की थाती थी। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि गुप्तकालीन शासन-पद्धति ही कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ हर्ष के काल में प्रचलित थी। राजा के नीचे, दायित्वपूर्ण पदों पर जो कर्मचारी काम करते थे उन के नाम प्रायः एकदम वे ही थे जो गुप्तकाल के कर्मचारियों के थे। मौर्य तथा गुप्तकाल की शासन-संस्थाओं तथा कर्मचारियों के नाम में कुछ अंतर था; किंतु गुप्त तथा हर्ष-काल के नामों और संस्थाओं में इस प्रकार का कोई अंतर नहीं था[1]।

शासन का उच्चतम अधिकारी राजा था। वह 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम देवता', 'सम्राट्', 'एकाधिराज', 'चक्रवर्ती' तथा 'सार्वभौम' आदि उपाधियों से विभूषित होता था[2]। राजा देवता माना जाता था और समझा जाता था कि धनद, वरुण, इंद्र, यम आदि विभिन्न देवताओं के गुण उस में मौजूद हैं। अपनी सर्व

---

[1] राखालदास बनर्जी, 'दि एज आव् दि इंपीरियल गुप्ताज़'—दूसरा अध्याय,—पृष्ठ ६६

[2] 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'—श्रीहर्ष के लिए इस उपाधि का प्रयोग स्वयं उन के लेखों में किया गया है। 'परमेश्वर' उपाधि का प्रयोग पुलकेशी द्वितीय के लिए चालुक्य-लेखों में तथा श्रीहर्ष के लिए 'हर्षचरित' में पाया जाता है (देवः परमेश्वरो हर्षः—'हर्षचरित', पृष्ठ १२१)। 'परमदैवत' उपाधि का प्रयोग कुमारगुप्त प्रथम के लिए हुआ है। फ़्लीट के 'गुप्त-इंसक्रिप्शंस' के लेख नं० ३३ में 'सम्राट्' उपाधि का प्रयोग हुआ है; ३२ नं० के लेख में 'सर्वाधिराज' उपाधि का उल्लेख मिलता है। 'रत्नावली नाटक' में 'सार्वभौम' पद का प्रयोग किया गया है—मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ १०३

प्रथम भेंट के समय श्रीहर्ष का वर्णन करता हुआ बाण लिखता है कि 'वे सब देवताओं के सम्मिलित अवतार थे[1]।' शासन-प्रबंध में राजा स्वयं सक्रिय भाग लेते थे। वे अपने मंत्रियों को नियुक्त करते थे; आज्ञापत्र तथा घोषणा-पत्र निकालते थे; न्यायाधीश का काम करते थे; युद्ध में सेना का नेतृत्व ग्रहण करते थे और अपनी प्रजा के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य करते थे। इस प्रकार उन के हाथ में अनेक प्रकार के कार्य थे। सभी मामलों में वे अंतिम अधिकारी थे। उन के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती थी।

भारतीय राजे बहुधा अपनी प्रजा की अवस्था का पता लगाने के लिए अपने राज्य में भ्रमण करते थे। इस संबंध में हमें महाराज अशोक का उदाहरण भली भाँति ज्ञात है। अशोक की भाँति महाराज हर्ष ने भी अपने राज्य में दूर-दूर तक भ्रमण किया। ह्वेनसांग हमें बतलाता है कि शीलादित्य ने अपनी पूर्वी भारत की यात्रा के सिलसिले में किस प्रकार कजंगल (राजमहल) में अपना दरबार किया[2]। जब सम्राट् दौरे पर रहते थे तब उन के ठहरने के लिए प्रत्येक विश्राम-स्थल पर घास-फूस तथा शाखाओं का वासगृह बनाया जाता था। उस स्थान से कूच करते समय वह गृह जला दिया जाता था। इन अस्थायी शिविरों को 'जयस्कंधाकार' कहते थे। बंसखेरा के लेख में, वर्धमानकोटी तथा मधुवन के लेखों में कपित्थक (संकाश्य) के जयस्कंधाकार का उल्लेख मिलता है। एक दूसरा जयस्कंधाकार अजिरावती नदी के तट पर मणितारा का था जहां बाण सर्वप्रथम महाराज हर्ष के दरबार में लाया गया था। शिविर के वर्णन को पढ़ कर यह संदेह नहीं रह जाता कि हर्ष बड़ी शान-शौकत के साथ भ्रमण करते थे। उन की सेना और सामंतगण उन के साथ-साथ चलते थे। वर्षा-ऋतु के चतुर्मास में ही हर्ष भ्रमण के लिए बाहर नहीं निकलते थे[3]।

ह्वेनसांग राजा के परिश्रम तथा उन की दानशीलता की बड़ी प्रशंसा करता है। वह लिखता है, "राजा का दिन तीन भागों में विभक्त था—दिन का एक भाग तो शासन के मामलों में व्यतीत होता था और शेष दो भाग धार्मिक कृत्यों में बीतते थे। वे काम से कभी थकनेवाले नहीं थे, उन के लिए दिन का समय ही बहुत कम था। अच्छे कामों में वे इतने संलग्न रहते थे कि उन्हें सोना और खाना तक भूल जाता था।

महाराज हर्ष अर्थशास्त्र के ग्रंथों में निर्धारित आदर्शों का अनुसरण करने की चेष्टा करते थे। इन ग्रंथों को देखने से हमें ज्ञात होता है कि राजा का समय-विभाग बड़ी सावधानी के साथ किया गया था। उन का सारा समय धार्मिक कामों तथा शासन-संबंधी मामलों में बँटा हुआ था।

---

[1] 'सर्वदेवावतारमिवैकत्र'—'हर्षचरित,' पृष्ठ ११३। बाण ने अन्य स्थलों पर उन्हें शिव, इंद्र, यम, वरुण, कुबेर, जिन (बुद्ध) से श्रेष्ठ ठहराया है—'हर्षचरित', पृष्ठ १२१

[2] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १८३

[3] वही, १, पृष्ठ ३४४

राजा की सहायता के लिए मंत्रियों का एक दल था। ये मंत्री सचिव अथवा अमात्य कहलाते थे। श्रीहर्ष के युग में महामात्य शब्द का प्रयोग मंत्री के अर्थ में प्रायः नहीं होता था। 'हर्षचरित' तथा हर्ष के दो लेखों में हमें अनेक महामात्यों के नाम मिलते हैं। गुप्तकाल की ही भाँति मंत्री, संधि-विग्रहिक, अक्षपटलाधिकृत तथा सेनापति बहुत ऊँचे पद के मंत्रियों में से थे। महाराज हर्ष का प्रधान सचिव संभवतः उन का ममेरा भाई भांडी था। राज्यवर्द्धन के अल्प शासन-काल में भांडी राजनीतिज्ञों तथा दरबारियों का नेता था। श्रीहर्ष का संधि-विग्रहिक अवंती था, जिस ने उन की आज्ञा से देश के समस्त राजाओं के लिए इस आशय की घोषणा प्रकाशित की थी कि या तो वे सम्राट् की अधीनता स्वीकार करें या युद्ध के लिए तैयार हो जावें[1]। उन का सेनापति सिंहनाद एक वृद्ध पुरुष था। हर्ष के पिता की उस पर बड़ी कृपा रहती थी। सिंहनाद अपनी परम वीरता, सुंदर शारीरिक गठन तथा आचरण की उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध था, वह सैकड़ों युद्ध-क्षेत्रों में नायक रह चुका था। राजकुल की राजभक्ति-पूर्ण सेवाओं के कारण उस ने शासन में एक सम्मानित पद प्राप्त कर लिया था[2]। ऐसे चतुर मंत्री अपने स्वामियों को बहुधा सत्परामर्श देते तथा अवसर पड़ने पर उन्हें सावधान भी करते रहते हैं। राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् सिंहनाद ने हर्ष को निर्भय हो कर उन के हित का परामर्श दिया था। दूसरा बुद्धिमान मंत्री स्कंदगुप्त था, जो गज-सेना का सेनापति (अशेषगजसाधनाधिकृत) था। वह भी राज्य का एक प्रधान कर्मचारी था। उस ने हर्ष को भ्रमपूर्ण असावधानी के ख़तरों[3] से सचेत किया था। स्कंदगुप्त का नाम हर्ष के लेखों में भी आया है। इन लेखों में उसे 'महाप्रमातार' और 'महासामंत' कहा गया है। मालूम होता है कि प्रत्येक सेना का पृथक-पृथक सेनापति होता था। संपूर्ण सेना प्रधान सेनापति के अधीन थी। कुंतल अश्वारोही-सेना का एक अफ़सर था। वह एक बड़े कुल का था और राज्यवर्द्धन का बड़ा ही कृपापात्र रह चुका था। हर्ष की चलती हुई सेना का वर्णन करते समय बाण उन सेनापतियों (बलाधिकृत) का उल्लेख करता है, जो सेनावास के निरीक्षकों (पाटीपति) को एकत्रित करने में लगे थे[4]। सेना में अन्य अनेक अफ़सर थे। उदाहरणार्थ एक अफ़सर के अधीन युद्ध का भांडागार था। बसाढ़

---

[1]'हर्षचरित', पृष्ठ २६४

[2]समग्रविग्रहाग्रहरः हरितालशैलावदातदेहः परिणतप्रगुणसालप्रकांडप्रकाशः प्रांशुरतिशौर्योष्मणेव परिपाकमागतो—'हर्षचरित', पृष्ठ २५७

[3]प्रमाददोषाभिषंगेषु बहुश्रुतत्रार्त्त एव प्रतिदिनदेवः—'हर्षचरित', पृष्ठ २६८

बाण ने स्कंदगुप्त का वर्णन जिस पद में किया है उस में गजों के संबंध में कई रोचक बातें मिलती हैं—उदाहरणार्थ उस में लिखा है कि गणिका की सहायता से अरण्य-पाल हाथियों को पकड़ते थे, नाग वन के रक्षक होते थे जो कि नाग वन-वीथिपाल कहलाते थे।—'हर्षचरित', पृष्ठ २ तथा आगे।

[4]बलाधिकृतबाध्यमानपाटीपतिपेटकैः—'हर्षचरित', पृष्ठ २७५

की एक मुहर में रण-भांडागार विभाग (रणभांडागाराधिकरण) का उल्लेख मिलता है[1]।

दानपत्रों में राजा के अनेक अफ़सरों का अनेक बार उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ मधुबन के ताम्र-पत्र में हर्ष ने अपने प्रधान अफ़सरों की उपस्थिति में दो ब्राह्मणों के नाम एक गाँव के दान की घोषणा की है। महाराज और महासामंत के अतिरिक्त वे अफ़सर ये थे—दौस्साधसाधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक तथा विषय-पति उपरिक प्रांतों अथवा भुक्तियों के शासक थे[2]। कुमारामात्यगण साम्राज्य के उच्चश्रेणी के कर्मचारी थे। बसाढ़ में उपलब्ध अनेक मुहरों तथा गुप्तकाल के अन्य लेखों में उन का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। उन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह विवाद-ग्रस्त है। राजामात्य (राजा का मंत्री) की भाँति कुमारामात्य का शाब्दिक अर्थ कुमार का मंत्री होता है और संभव है कि राजामात्य से भेद करने के लिए ही कुमारामात्य शब्द का प्रयोग किया गया हो। किंतु डा० बनर्जी ने इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया है। उन का कहना है कि राज्य के उच्चतम मंत्रियों को भी कुमारामात्य कहते थे तथा कुमारामात्य के समुदाय में विभिन्न श्रेणी-विभाग थे। कुमारामात्य का पद, साधारण राजकुमार युवराज अथवा कभी-कभी सम्राट् (परमभट्टारक) के समान होता था[3]। किंतु कुमारामात्य प्रधानतः उन प्रांतों में काम करनेवाले अफ़सर होते थे, जहां राजकुमार शासन करते थे। अतः कुमारामात्य का अर्थ कुमार का मंत्री लगाना कुछ न्यायसंगत प्रतीत होता है। महाराजा अशोक के प्रत्येक कुमार की सहायता के लिए महामात्रों का एक दल होता था। इसी प्रकार शुंग-काल में राज-प्रतिनिधि के रूप में शासन करनेवाले राजकुमारों की सहायता के लिए भी अनेक महामात्य रहते थे[4]। कुमारामात्य शब्द का अर्थ कुमारों की देख-भाल करनेवाला मंत्री अथवा छोटा मंत्री भी हो सकता है।

राजस्थानियों का उल्लेख वलभी के दान-पत्रों में भी मिलता है। इस शब्द का भी अर्थ 'वायसराय' हो सकता है, यह महाछत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख में उल्लिखित 'राष्ट्रीय' शब्द का अनुरूप है। विषयपति ज़िले के अफ़सर होते थे।

[1]देखिए, 'आॅर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट' १९०३-१९०४। बाण ने सेना का जो वर्णन किया है उस में 'समभांडायमान भांडागारिणि' पद मिलता है, भंडारी (रण) भंडार की सामिग्रियों को एकत्रित करते थे—देखिए 'हर्षचरित', पृष्ठ २७६

[2]बसाढ़ की एक मुहर में तिरभुक्ति (आधुनिक तिर्हुत) के उपरिक का उल्लेख है। दामोदरपुर के लेखों में भी 'उपरिक' शब्द का प्रयोग प्रांतीय शासक के अर्थ में किया गया है। देखिए, 'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द १७, पृष्ठ ३५९ तथा आगे; जिल्द १९, पृष्ठ ११३ और आगे

[3]राखालदास बनर्जी, 'दि एज आफ़ दि इंपीरियल गुप्ताज़', पृष्ठ ७२

[4]देखिए, रायचौधुरी 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंश्यंट इंडिया', पृष्ठ २, पादटिप्पणी नं० २

दान-पत्रों में दूतक नामक एक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। यह दूतक प्रायः सदैव उच्चकोटि का मंत्री होता था। कभी-कभी यह पद राजकुल के किसी राजकुमार को भी मिल जाता था। वह विशेष कर दान-ग्रहीता को भूमि हस्तांतरित करने के लिए भेजा जाता था। दूतक के अतिरिक्त लेखों में 'लेखक' नामक एक कर्मचारी का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। वह भी राज्य का एक महामात्य होता था। उसे दिविर भी कहते थे। अनेक दिविरों के ऊपर एक दिविरपति होता था[1]।

राजा के प्रधान अमात्य साधारणतः बड़े-बड़े सामंत होते थे[2]। स्कंदगुप्त, ईश्वर-गुप्त आदि महाराजे हर्ष के अमात्य, महाराजा, सामंत अथवा महासामंत थे। सभी सामंत मंत्री नहीं होते थे। अनेक अवसरों पर महाकवि बाण ने श्रीहर्ष को सामंत सरदारों से घिरा हुआ वर्णित किया है। ये सामंत सम्राट् के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उन के चारों ओर जमा होते थे। वे राजा के दरबारी थे और अपने-अपने पद के अनुसार उन्हें दरबार अथवा सभा में स्थान प्राप्त था। बाण ने इस प्रकार के दरबार करते हुए महाराज हर्ष का उल्लेख किया है[3]। सामंतगण राज्य के सभी अवसरों पर राजा की सेवा में लगे रहते थे। वे राजा के साथ युद्ध में जाते थे और बहुधा राज्य के उच्च पदों पर काम करते थे। इस संबंध में हर्ष के ममेरे भाई भांडी का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। सामंतों की स्त्रियां हर्ष के जन्म, राज्यश्री के विवाह आदि उत्सवों के अवसर पर रानी की सेवा में लगी रहती थीं। सामंत लोग बड़े-बड़े सेनापति भी होते थे। महाराज हर्ष ने गौड़ देश के राजा पर आक्रमण करने के लिए भांडी को भेजा था तथा स्वयं अनेक सामंतों को साथ ले कर उन के विरुद्ध युद्ध-यात्रा किया था।

मालूम होता है कि फ़ौजी और दीवानी कर्मचारियों के बीच कोई भेद नहीं किया गया था। उन दिनों राज्य के सभी अमात्य बड़े-बड़े सैनिक भी हुआ करते थे। हमें यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि अशोक तथा शुंग-वंशीय राजाओं की भाँति श्रीहर्ष के

---

[1] वह कभी-कभी संधि-विग्रहिक होता था। धरसेन के लेख में (देखिए फ़्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शंस नं ३८) राजकुमार खरग्रह को दूतक लिखा गया है। इसी प्रकार अंशुवर्मा के लेख में (देखिए एंटीक्वेरी जिल्द ६०, पृष्ठ ७०, जिसे वैद्य ने अपने ग्रंथ 'मेडीएवल इंडिया' जल्द १, पृष्ठ ४०० में उद्धृत किया है।) दूतक राजकुमार दयदेव है।

[2] ह्वेनसांग का कथन है कि राज्य के मंत्रियों तथा साधारण कर्मचारियों के वेतन का भुगतान वस्तु-रूप में किया जाता था, उन्हें नक़द तनख्वाह नहीं मिलती थी। (देखिए वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७६।) इस प्रकार ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारत की जागीर-प्रथा हर्ष के समय में भी प्रचलित थी।

[3] बाण ने मणितारा के शिविर में महाराज हर्ष से भेंट की थी। वहां उस ने हर्ष को चौथे कक्ष में, जहां कि वे आगतों को दर्शन देते थे, बैठे हुए देखा। वे एक सशस्त्र पार्श्व-रक्षक दल से परिवेष्ठित थे (शास्त्रिणा मौलेन शरीर परिवार कलोकेन पंक्तिस्थितेन परिवृतम्)। अन्य तीन कमरे सामंत राजाओं से भरे थे, जो स्पष्टतः महाराज हर्ष से भेंट करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। 'हर्षचरित', पृष्ठ ११०, पृष्ठ ६७ भी देखिए।

पास भी कोई केंद्रीय मंत्रि-परिषद् थी अथवा नहीं; अधिक संभावना इस बात की है कि इस समय तक वह संस्था लुप्त हो चुकी थी। किंतु तो भी राजा सब काम अनियंत्रित रूप से नहीं करते थे। उन के मंत्री सदैव अपने बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्शों द्वारा उन का पथ-प्रदर्शन करते थे। संभव है कि गुप्त राजाओं के समय में प्रचलित रीति के अनुसार महामात्यों का पद मौरूसी रहा हो[1]। एक ही व्यक्ति अनेक पदों का अधिकारी होता था। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त के समय में हरिसेन उस का संधि-विग्रहिक, कुमारामात्य[2] तथा महादंड-नायक तीनों था।

केंद्रीय शासन का एक महत्वपूर्ण अंग लेख-विभाग था। ह्वेनसांग लिखता है कि जहां तक उन के काग़ज़-पत्रों तथा लेखों का संबंध है, उन के पृथक् पृथक निरीक्षक हैं। सरकारी इतिहास तथा काग़ज़-पत्रों का सामूहिक नाम 'नीलपिट' है। उन में भले और बुरे सब का उल्लेख किया जाता है और सार्वजनिक आपत्ति तथा सुकाल का लेखा विस्तार के साथ किया गया है[3]।

अन्य दीवानी के अफ़सरों में राज-कुटुंब के कर्मचारी सम्मिलित थे। उन में से एक महाप्रतीहार था, जो राजा के पास जाकर दर्शकों के आगमन की घोषणा करता था और उन्हें राजा के पास ले जाता था। वह राजमहल का प्रधान रक्षक था। महाराज हर्ष के प्रधान प्रतीहार का नाम पारियात्र था। महाराज उस को बहुत मानते थे[4]। इस के अतिरिक्त राजकुटुंब का एक कर्मचारी कंचुकी भी था, जो ब्राह्मण जाति का एक वृद्ध व्यक्ति होता था। कंचुकी सभी कामों में कुशल होता था, उसे वेत्री भी कहते थे। वेत्री का उल्लेख बाण के 'हर्षचरित्र' में मिलता है[5]। गुप्त-काल के लेखों में हमें राजकुटुंब के कुछ अन्य कर्मचारियों के नाम उपलब्ध होते हैं; जैसे, स्थपतिसम्राट्, स्त्रियों का अध्यक्ष तथा प्रतिनर्त्तक[6]। प्रतिनर्त्तक मागध अथवा बंदी होता था।

राजा का पुरोहित भी एक प्रधान व्यक्ति था। हर्ष के जन्म के अवसर पर नवजात शिशु को आशीर्वाद देने के लिए हम उसे हाथ में फल तथा शुद्ध जल लेकर अन्तःपुर की ओर जाते हुए देखते हैं[7]। इस व्यक्ति की राजनीतिक महत्ता के विषय में बाण हमें कुछ भी

---

[1]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३८०

[2]यहां पर कुमारामात्य शब्द का अर्थ संभवतः राजकुमारों की देख-रेख करने वाला मंत्री है। मौर्यकालीन शासन में भी हमें यह पदाधिकारी मिलता है।

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ, १२४

[4]एष खलु महाप्रतीहाराणामनंतरश्चक्षुष्यो देवस्य पारियात्रनामा दौवारिकः—'हर्षचरित', पृष्ठ ६६

[5]देखिए, क्वचित्तलवर्विवेत्रीवेत्रवित्रास्यमान········ इत्यादि—'हर्षचरित', पृष्ठ २८७

[6]'कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम इंडिकारम', (लेख नं० २७ तथा ३६) पृष्ठ ११६

[7]साक्षाद्धर्म इव शांत्युदकफलहस्तास्तस्थौ पुरः पुरोधाः—हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास पृष्ठ १८९। महाराज प्रभाकरवर्द्धन की अर्थी को सामंत तथा परिजन अपने कंधों पर ले गए

नहीं बतलाता। किंतु इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि राज्य के बड़े-बड़े मामलों में राजा उस की सलाह लेते और उस पर अमल करते थे। इस के अतिरिक्त महल में ज्योतिषियों तथा मौहूर्त्तिकों का एक दल रहता था जो आवश्यकता पड़ने पर अपनी विशेषज्ञता से लाभ पहुँचाने के लिए तत्पर रहता था। इन के अतिरिक्त राजमहल में ब्रह्म-वादी मुनि तथा "पौराणिक" दल भी पाए जाते थे।

उपरोक्त मंत्रियों तथा राजकुटुंब के कर्मचारियों के अतिरिक्त कुछ और भी उल्लेख-नीय कर्मचारी थे। उन का दर्जा मंत्रियों के दर्जे से नीचा था और वे दायित्वपूर्ण पद पर काम करते थे। कौटिल्य ने उन्हें अपने अर्थशास्त्र में 'अध्यक्ष' लिखा है। गुप्तकाल के लेखों में भी उन का उल्लेख उसी नाम से किया गया है। इस के सिवाय 'आयुक्तक' नामक पदाधिकारियों की एक श्रेणी थी, जिस का उल्लेख बाण भी करता है[1]। वलभी तथा गुप्त-वंश के राजाओं के लेखों में 'आयुक्तक' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है[2], यह एक पदाधिकारी का प्रचलित नाम था। आयुक्तक विषयपति अथवा ज़िलाधीश के पद पर काम करते थे और इस प्रकार वे अपनी अधीनस्थ प्रजा का हित व अनहित कर सकते थे।

एक दूसरा उल्लेखनीय कर्मचारी 'भोगपति' था जिस का काम कर-संग्रह करना था। बाण ने इस कर्मचारी का उल्लेख किया है[3]। दान-पत्रों में भी 'भोगिक' नामक एक बड़े अफ़सर का उल्लेख मिलता है। वह अमात्य के दर्जे का हाकिम था और बहुधा भूमि-संबंधी दान-पत्रों को जारी करता था। वह मालगुज़ारी का एक अफ़सर था[4]।

प्रांतीय शासन-प्रबंध

अनेक उपलब्ध साधनों की सहायता से गुप्तकाल की प्रांतीय शासन-प्रणाली का हमें अच्छा ज्ञान है। उन में से विशेषरूप से उल्लेखनीय साधन ये हैं:—कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल के दामोदरपुर के ताम्रलेख[5] तथा मुद्रा आदि; धर्मादित्य, गोपचंद्र तथा समाचारदेव (छठीं शताब्दी) के शासन-काल के फ़रीदपुर वाले लेख[6] तथा बसाढ़ की

थे। सब के आगे राजकुटुंब का पुरोहित था, ('हर्षचरित', पृष्ठ २२१) निस्संदेह वह एक महत्वपूर्ण व्यक्ति था।

[1]अतिक्रांतायुक्तकशतानि च शंसद्भिः।

[2]देखिए, वाकाटक-वंश के राजा प्रवरसेन का दान-पत्र ('कॉरपस इंसक्रिप्टियोनुम इंडिकारम' जिल्द ३, पृष्ठ २३७) जिसे सी० वी० वैद्य ने अपने ग्रंथ 'मेडीएवल इंडिया' जिल्द १, पृष्ठ १२० में उद्धृत किया है। इस के अतिरिक्त 'कॉरपस इंस्क्रिप्टियोनुम् इंडिकारम' जिल्द ३, पृष्ठ १६६ भी द्रष्टव्य है।

[3]असतोपि पूर्वभोगपतिदोषानुद्भावयद्भिः—'हर्षचरित', पृष्ठ २८६

[4]सी० वी० वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ १४१

[5]दामोदरपुर के ताम्रलेख—'एपिग्राफ़िका इंडिका' जिल्द १५, पृष्ठ ११३ तथा आगे

[6]'इंडियन एंटिक्वेरी', १९१०, पृष्ठ १९३-२१६ सर आशुतोष मुखर्जी रजत जयंती

मुहरें[1]। महाराज हर्ष के समय में भी वही गुप्तकालीन शासन-पद्धति प्रचलित थी। यह कथन स्वयं हर्ष के लेखों से प्रमाणित होता है।

सारा साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त था, जिन्हें भुक्ति, देश आदि कहते थे। प्रत्येक प्रांत ज़िलों में बँटा हुआ था जो प्रदेश अथवा विषय कहलाते थे। गुप्तकाल के कतिपय भुक्ति हर्ष के समय तक क़ायम थे; जैसे, अहिछत्र-भुक्ति तथा श्रावस्ती-भुक्ति। हर्ष के समय में अहिछत्र-भुक्ति में बांगदीय का विषय सम्मिलित था और श्रावस्ती-भुक्ति में कुंडधानी का विषय। अन्य भुक्तियों में—जिन के अस्तित्व में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता—कौशांबी-भुक्ति तथा पुंड्रवर्द्धन-भुक्ति का उल्लेख किया जा सकता है। कौशांबी-भुक्ति की राजधानी कौशाबी नगरी थी, जिस का वर्णन 'रत्नावली' में प्रशंसात्मक शब्दों में किया गया है। पुंड्रवर्द्धन उत्तरी बंगाल में था।

भुक्तियों पर उपरिक महाराजा शासन करते थे, जो राजकुल के राजकुमार होते थे[2]। सीमांत प्रदेश के शासक संभवतः गोप्ता कहलाते थे। भुक्तियों के साधारण शासकों के अन्य नाम राजस्थानीय और राष्ट्रीय थे। ज़िले के हाकिमों को प्रांतीय शासक नियुक्त करते थे, जो विषयपति कहलाते थे, अतः उन्हें 'तन्नियुक्ताः' (उन के द्वारा नियुक्त) कहा गया है। कभी-कभी वे सीधे सम्राट् के द्वारा भी नियुक्त किए जाते थे[3]। विषयपति विभिन्नजातियों के व्यक्ति थे। वे ब्राह्मण भी होते थे—जैसे फ़रीदपुर के लेखों के अनुसार वराकमंडल का विषयपति गोपालस्वामी था। विषयपतियों की राजधानियां 'अधिष्ठानों' में होती थी। इन अधिष्ठानों में उन के अधिकरण (अदालतें और आफ़िस) थे। कुछ अधिकरणों का उल्लेख हमें बसाढ़ की मुहरों में मिलता है—(१) वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण वैशाली नगर में स्थित विषयाधिपति के आफ़िस का निर्देश करता है। (२) उपरिकाधिकरण से प्रांतीय शासक के आफ़िस का बोध होता है। (३) कुमारामात्याधिकरण का अर्थ कुमारामात्य (कुमार या राजकुमार का मंत्री) का आफ़िस है। कुमारामात्य कभी-कभी विषयपति के पद का अधिकारी होता था, जब कि कुमार स्वयं प्रांत का शासक होता था[4]। (४) रणभांडागाराधिकरण[5] से सैनिक भांडागार के

अभिनंदन ग्रंथ जिल्द, ३ पृष्ठ ४८६, 'जर्नल आफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' १६११; २६०-३०८; 'एपिग्राफ़िका इंडिका' जिल्द १८; ७४—८६ तथा २३

[1] 'ऑर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट',—१६०३-१६०४; पृष्ठ १०७-११०

[2] उदाहरणार्थ-दामोदरपुर के एक ताम्रलेख में, 'राजपुत्र-देव भट्टारक' का उल्लेख है, देखिए, 'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द १५, पृष्ठ १४२

[3] बसाक, 'हिस्ट्री आफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया' पृष्ठ ३०६। इन्हों ने बैग्राम के लेख का जो अभी हाल में प्राप्त हुआ है, प्रमाण उद्धृत किया है। इस लेख के लिए देखिए 'एपिग्राफ़िका इंडिका' जिल्द २१, भाग २, पृष्ठ ८०

[4] दामोदरपुर का गुप्त संवत् १२४ का ताम्र-लेख हमें बतलाता है कि पुंड्रवर्द्धन के वायसराय चिरातदत्त के अधीन प्रत्येक विषय में एक कुमारामात्य था।

[5] देखिए, बसाढ़ की मुहर नं० १३

प्रधान स्वामी के आफ़िस का तात्पर्य है। (५) विनयस्थिति स्थापकाधिकरण[1] सदाचार के स्थापक का आफ़िस है। (६) दंडपाशाधिकरण का अर्थ पुलीस के प्रधान अफ़सर का दफ़्तर है।

प्रांतीय शासकों तथा ज़िले के हाकिमों की सहायता के लिए दांडिक, चौरोद्धरणिक, दंडपाशिक आदि (पुलीस के) कर्मचारी होते थे। दामोदरपुर के ताम्र-लेखों में पाँच विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है, इन में से चार—नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथमकायस्थ तथा प्रथमकुलिक का संबंध ज़िले के शासन से था। नगरश्रेष्ठी (सेठजी) नगर के पूँजीपति-वर्ग का प्रधान था। सार्थवाह कारखाना-दल का नेता था। प्रथम कुलिक स्वर्गीय डा० राखालदास बनर्जी के अनुसार (बैंकरों) साहूकारों के संघ का प्रधान, अथवा श्रीयुक्त बसाक के अनुसार विभिन्न शिल्प-श्रेणियों का प्रतिनिधिस्वरूप प्रधान शिल्पी था। प्रथमकायस्थ या तो प्रधान सेक्रेटरी और राज्य का कर्मचारी था अथवा कायस्थ अर्थात् लेखक-वर्ग का एक प्रतिनिधि था। कर्मचारियों का एक दूसरा वर्ग भी था, जिन्हें पुस्तपाल कहते थे। उन का काम लेखा रखना था। वे संभवतः, वे ही कर्मचारी थे जिन्हें 'हर्षचरित', में 'पुस्तकृत' लिखा गया है। ज़िले के शासन के अंतर्गत भी लेखा रखने का काम बड़ा महत्वपूर्ण था। विषयाधिकरण से मिला हुआ लेखा रखनेवाले कर्मचारियों का एक दल अवश्य ही रहा होगा[2]।

उपरोक्त वर्णन से ज़िले के शासन का एक अच्छा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। उस को देखने से हमें ज्ञात होता है कि वह शासन-पद्धति बहुत ही सुंदर और संगठित थी।

ग्राम का शासन-प्रबंध

शासन का सब से छोटा विभाग गाँव था। यहां पर हमें ग्राम-शासन के दो पहलुओं पर दृष्टिपात करना होगा—प्रथम तो गाँव के ही प्रतिष्ठित लोग थे जिन्हें 'महत्तर' कहते थे और जो गाँव के सब मामलों की देख-भाल करते थे। बाण लिखता है कि गाँव के आग्रहारिक और उन के आगे-आगे वृद्ध महत्तर, जल का घड़ा उठाए और टोकरियों में दही, गुड़, खाँड तथा फूल के उपहार लिए महाराज हर्ष का दर्शन करने और अपनी फ़सलों की रक्षा के लिए प्रार्थना करने के लिए आगे बढ़े चले आ रहे थे। इस पद में आग्रहारिकों से तात्पर्य जागीरदारों से है; किंतु अन्य स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के अर्थ में हुआ है जो देवताओं तथा ब्राह्मणों के नाम दान किए हुए किसी गाँव का प्रबंधक होता था[3]। महत्तर[4] की तुलना गाँव के मातबरों से की जा सकती है, जो गाँव के बड़े-बड़े

[1]देखिए, बसाढ़ की मुहर नं० १४

[2]बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंश्यंट इंडिया', पृष्ठ ३०८-३१९

[3]आग्रहारिकजाल्मैश्च पुरःसरजरन्महत्तरोत्तम्भिताम्भःकुम्भैरूपायनीकृतदधि गुडखण्ड कुसुमकरण्डकैः सरभसं समुत्सर्पद्भिः—'हर्षचरित', पृष्ठ २८६

[4]कावेल एंड टामस—'हर्षचरित' परिशिष्ट बी० पृष्ठ २७४ जिसमें 'फ़्लीट के गुप्त लेख' (पृष्ठ ५२, नोट २, पृष्ठ २५७, १-१२) को उद्धृत किया गया है।

गृहपति होते हैं और ग्राम-संबंधी मामलों में जिन की बात का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

इन महत्तरों के अतिरिक्त, दामोदरपुर के ताम्र-लेखों से विदित होता है कि गाँव के शासन से संबंधित कर्मचारियों के दो वर्ग और थे—एक तो अष्टकुलाधिकरण थे और दूसरे ग्रामिक थे[1]। अष्टकुलाधिकरणों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। डा० बसाक का कथन है कि वे छोटे-छोटे विभाग थे, जिन को आठ कुलों का निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त था। कुलों से तात्पर्य या तो उसी नाम के विशेष भूभागों से है अथवा कुटुंबों से[2]। ग्रामिक गाँव का मुखिया था जिस का पद भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आता था। उस का अस्तित्व वैदिक काल में भी दिखाया जा सकता है। यह बात ठीक से स्पष्ट नहीं है कि वह सरकारी कर्मचारी था अथवा लोग स्वयं उसे निर्वाचित करते थे। दामोदरपुर के ताम्र-लेखों से ज्ञात होता है कि भूमि को हस्तांतरित करने तथा लेन-देन के काम का निरीक्षण करने के संबंध में सरकार इन अफ़सरों से सलाह लेती थी[3]। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त, अक्षपटलिक अर्थात् गाँव का लेखा रखनेवाला व्यक्ति था, जिस को सरकार नियुक्त करती थी। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास जो ज़मीनें होती थीं उन की सीमाओं का वह लेखा रखता था। एक बार जिस समय महाराज हर्ष एक गाँव से हो कर जा रहे थे, गाँव का अक्षपटलिक अपने करणिकों (क्लर्कों) के साथ उन के सामने गया और बोला, "जिन महाराज की राजाज्ञा कभी विफल नहीं जाती, उन्हें हम लोगों को आज के लिए अपनी आज्ञा देनी चाहिए[4]।" इतना कह कर उस ने नई बनी हुई एक सोने की मुहर भेंट की जिस पर वृष की मूर्ति बनी हुई थी। इस भेंट का क्या अर्थ था, यह बाद को जो कुछ किया गया उस से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। एक छोटा-सा मृत्तिका-पिंड मँगाया गया और उसे राजकीय मुहर से अंकित किया गया। यह क्यों? इस लिए कि इस के बाद राजमुद्रा से चिह्नित मिट्टी की मुहर को आग में जला कर उन शासन-पत्रों पर लगा दिया जाता, जिन पर राजकीय आज्ञा लिखी जाती। अक्षपटल का पद आधुनिक ग्रामों के पटेल और पटवारी के पद से मिलता-जुलता था[5]। जैसा हम पहले कह आए हैं, समस्त

---

[1]महत्तरों का उल्लेख दामोदरपुर के ताम्र-लेखों में किया गया है।

[2]डा० मुकर्जी, 'हर्ष', पृष्ठ १०८

[3]बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ ११२

[4]वही।

[5]तत्रस्थस्य चास्य ग्रामाक्षपटलिकः सकलकरणिपरिकरः करोतु देवः दिवस ग्रहणम-द्यैवावंध्यशासन इत्यभिधाय वृषांकामभिनवघटितां हाटकमयीं मुद्रां समुपनिन्ये जग्राह च तां राजा—'हर्षचरित', पृष्ठ २७४

अक्षपटल का उल्लेख लेखों में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'कार्पस इंसक्रिप्टयोनुम् इंडिकारुम' के पृष्ठ २७ में उस का उल्लेख है। उस में 'अन्य ग्रामाक्षपटलाधिकृत' पद आता है और उस से सूचित होता है कि अक्षपटल प्रत्येक गाँव में नियुक्त किया जाता था—वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ १२१

राज के लिए एक महात्तपटलिक अर्थात् लेखा रखनेवाला प्रधान अफ़सर था।

चाट और भट कहलानेवाले व्यक्तियों का एक और वर्ग था। यह लोग ग्राम-निवासियों को सताते और उन के साथ बुरा बर्ताव करते थे[1]। चाट संभवतः पुलीस के कर्मचारी होते थे जो गाँवों में अमन-अमान क़ायम रखने के लिए राजा की ओर से नियुक्त किए जाते थे। बेचारे ग्रामीणों पर अत्याचार करने के लिए उन्हें अगणित अवसर मिलते थे। भट वे सैनिक थे जिन्हें सैनिक कार्य से छुट्टी रहती थी। वे कदाचित् अपनी स्थिति से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करते थे और गाँव वालों को सता कर अपनी आवश्यकता की चीज़ें ले लेते थे।

भूमि के दान-पत्रों से हमें तत्कालीन आर्थिक शासन-व्यवस्था का कुछ आभास मिलता है। आय के साधारण साधनों में (१) उद्रंग (एक भूमि-कर), (२) उपरि-कर (नियमित कर से अतिरिक्त कर), (३) वात (?) (४) भूत (?) (५) धान्य, (६) हिरण्य (सोना) तथा (७) आदेय इत्यादि थे। इन के अतिरिक्त दूध, फल, चरागाह तथा खनिज-पदार्थ आदि पर भी कर लिया जाता था। अनाज की मंडियों से बिकी हुई वस्तुओं के नाप-तौल के आधार पर निर्धारित कर संग्रह किया जाता था।[2] घाटों पर भी महसूल लगता था और महसूल वसूल करनेवालों को शौल्किक कहते थे। व्यक्तिगत रूप से किए हुए अनेक प्रकार के अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था। श्रीहर्ष के शासन-काल में कर हलका था। ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से यह बात प्रमाणित होती है। चीनी यात्री के कथनानुसार आय का प्रधान साधन राजभूमि की उपज का छठा भाग था। राज्य को व्यापार से भी आय होती थी। घाटों और नाकों पर हलके टैक्स लगाए गए थे[3]।

जब किसी व्यक्ति को भूमि दान की जाती थी तब वह 'उद्रंग' आदि करों से मुक्त कर दी जाती थी। यही नहीं, वह बेगार (विष्ट) से भी मुक्त घोषित कर दी जाती थी। चाट और भट वहां प्रवेश नहीं कर सकते थे।

शासन के स्थूल रूप को देख कर ह्वेनसांग के हृदय में शासन-व्यवस्था के प्रति प्रशंसा का भाव स्फुरित हुआ। जो लोग सरकारी नौकरी करते थे, उन्हें उन के काम के अनुसार वेतन दिया जाता था। राज्य के मंत्री तथा साधारण कर्मचारियों को पारिश्रमिक रूप में जागीर दी जाती थी[4]। कुटुंबों का लेखा नहीं रक्खा जाता था। किसी से बेगार काम नहीं कराया जाता था।

राजा अपने राज्य की आय को बड़ी उदारता के साथ ख़र्च करते थे। "राज-

---

[1]भूमि-संबंधी दानपत्रों में 'अभटचारटप्रवेश्य' पद अनेक बार मिलता है। इस पद का अर्थ यह है कि (अमुक भूमि में) भट और चाट प्रवेश नहीं कर सकते।

[2]मधुबन के लेख में प्रयुक्त 'तुल्यमेय' शब्द देखिए।

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७६

[4]वही, पृष्ठ १७७

कीय भूमि के चार भाग थे—एक भाग राज्य की ओर से की जाने वाली पूजा-उपासना तथा सरकारी कामों में खर्च होता था। दूसरे भाग से बड़े-बड़े सार्वजनिक कर्मचारियों की धन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। तीसरा हिस्सा प्रकांड विद्वानों को पुरस्कार देने के निमित्त था। चौथा भाग विभिन्न संप्रदायों को दान दे कर पुरायार्जन करने के लिए था"।[1] खर्चे की आखिरी दो मदों से शासन की उन्नतावस्था तथा विद्वानों की संरक्षकता का पता लगता है। जिन विभिन्न संप्रदायों को दान दिए जाते थे उन में ब्राह्मण भी सम्मिलित थे। जब सरस्वती नदी के तट पर सोने की मुहर गिर पड़ी थी और कुछ लोगों ने उस के गिरने को अशुभ माना था, तब हर्ष ने ब्राह्मणों को १००गाँवों का दान किया था।

फ़ौजदारी का शासन कठोर था। "राजद्रोह के लिए जीवन भर के लिए कारावास का दंड दिया जाता था।" सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण करने, विश्वासघात करने, तथा माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने के लिए या तो एक कान, एक हाथ, एक पैर और नाक इन चारों में से किसी को काट लिया जाता था या अपराधी को किसी दूसरे देश अथवा जंगल में निर्वासित कर दिया जाता था। अन्य अपराधों के लिए जुर्माना किया जा सकता था"।[2] अंगच्छेद का उल्लेख बाण भी करता है; किंतु उस के अलंकारपूर्ण वर्णन से विदित होता है कि महाराज हर्ष के शासन-काल में इस की प्रथा प्रचलित नहीं थी। उस का कथन है कि वृत्तों अर्थात् छंदों के अतिरिक्त पादच्छेद और कहीं नहीं पाया जाता और शतरंज में ही चतुरंगों (हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे) की कल्पना अर्थात् रचना होती थी, अपराधियों के चतुरंग (अर्थात् दो हाथ दो पैर) नहीं काटे जाते थे।[3] अपराधियों के अपराध की सत्यता की जाँच करने के लिए चार प्रकार की कठिन 'दिव्य' परीक्षाएं काम में लाई जाती थीं:—(१) जल-द्वारा (२) अग्नि-द्वारा (३) तुला-द्वारा और (४) विष-द्वारा। जल-द्वारा परीक्षा करने के लिए अपराधी को एक बोरे में बंद किया जाता था और एक दूसरे बोरे में पत्थर रक्खा जाता था। दोनों बोरे एक साथ जोड़ कर गहरी नदी में छोड़ दिए जाते थे। यदि पत्थरवाला बोरा तैरता रहता और दूसरा बोरा डूब जाता, तब उस आदमी को अपराधी समझा जाता था। अग्नि-द्वारा परीक्षा करने के लिए अपराधी को तप्त लोहे पर बैठाया और

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७६

[2] वही, पृष्ठ १७२

[3] वृत्तानां पादच्छेदाः अष्टापदानां चतुरंगकल्पना—'हर्षचरित', पृष्ठ १२२

इस पर शंकर की टीका इस प्रकार है:—

वृत्तानां पादच्छेदाः—वृत्तानां गुरुलघुनियमात्मकानां समविषमानां पादच्छेदाः भाग विरामाः चरणकर्त्तनानि च।

अष्टापदानां चतुरंगकल्पनाः—अष्टापदानां चतुरंगफलकानां। चत्वार्यङ्गानि सेनाया हस्त्यश्वरथपत्तयः=तेषां कल्पना रचना चतुर्णामङ्गानां पाणिपादस्य च छेदः।

चखाया जाता था, अथवा वह तप्त लोहा उस के हाथों से उठवा कर जीभ से चटवाया जाता था। यदि वह व्यक्ति निर्दोष होता था तो वह साफ़ बच जाता था, किंतु यदि वह जल जाता था तो अपराधी समझा जाता था। तुला-परीक्षा में अपराधी को एक पत्थर के साथ तौला जाता था। यदि पत्थर हलका साबित होता था (अर्थात् यदि पत्थरवाला पलड़ा उठ जाता था) तो वह व्यक्ति निरपराध समझा जाता था। यदि इस के विपरीत होता था तो उसे अपराधी ठहराया जाता था। विष द्वारा परीक्षा करने के लिए एक मेढ़े की पिछली दहिनी टाँग काटी जाती थी, फिर अपराधी के खाने के लिए निर्दिष्ट भाग के अनुसार टाँग में विष छोड़ दिया जाता था। यदि आदमी निर्दोष होता था तो वह जीवित बच जाता था और यदि निर्दोष नहीं होता था तो विष का प्रभाव देख पड़ता था (और वह व्यक्ति मर जाता था)[1]। इस स्थल पर यह लिखना अनुचित न होगा कि बाण ने कादंबरी में श्लेष का आश्रय ले कर प्रच्छन्न रूप से इन चारों "दिव्य" परीक्षाओं[2] का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि जिस समय उज्जैन में राजा तारापीड शासन करता था उस समय यती लोग ही अग्नि को सहन करते थे, न कि अपराधी गण। तुला (राशि अथवा तराज़ू) पर ग्रहों का ही आरोहण होता था, न कि अपराधियों का। जंगल के हाथी ही 'बारि' अर्थात् गज-बंधन-भूमि में प्रवेश करते थे, न कि अपराधी अपराध-परीक्षा के लिए वारि अर्थात् जल में। विष—(जल की) शुद्धि अगस्त्य नक्षत्र के उदय-काल में ही होती थी, विष (ज़हर) प्रयोग द्वारा शुद्धि (अपराध से मुक्त) करने की क्रिया का व्यवहार नहीं होता था।[3]

यदि फ़ौजदारी का क़ानून कठोर था तो साथ ही हमें यह अवश्य याद रखना होगा कि अपराधियों की संख्या कम थी। ह्वेनसांग लिखता है, "शासन का काम सचाई के साथ किया जाता है और लोग सुलह के साथ मिल कर रहते हैं; अतः अपराधियों की संख्या स्वल्प है।"[4]

क़ानून और शांति-रक्षा की व्यवस्था पर्याप्त रूप से संतोषप्रद थी। किंतु श्रीहर्ष के विस्तृत राज्य के अनेक भागों में जान और माल के अरक्षित होने के ज्वलंत उदाहरण

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ, १७२

[2] मयूरेश्वर ने कादंबरी की जो टीका की है उस के लिए 'दिव्य' शब्द का प्रयोग किया है—देखिए अगला फ़ुटनोट।

[3] अस्मिंश्च राजनि············वनकरिणां वारिप्रवेशः व्रतिनामग्निधारणं, ग्रहाणां तुलारोहणम् अगस्त्योदये विषशुद्धिः—'कादम्बरी' पृष्ठ ६५

इस पर मयूरेश्वर की टीका इस प्रकार है=वारिर्गजबंधनभूमिः न तु लोकानां दिव्यार्थं जलप्रवेशः। अग्निधारणम्। न तु लोकानां दिव्यार्थमग्न्यंगारौ वा धारणम्। तुला राशिविशेषः स्तस्यासारोहणं संक्रमः। न तु लोकानां दिव्यार्थं तुलादण्डारोहणम्। विषं जलं तस्य शुद्धिः स्वच्छता। न तु दिव्यार्थे विषभक्षणेनापराधापनयनम्।

[4] वाटर्स, जिल्द, १, पृष्ठ १७१

भी मौजूद हैं। "एक बार पंजाब में चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोड़ने के बाद वह (ह्वेनसांग) पलाश के बन में से हो कर गुज़रा। वहां पचास डाकुओं के एक दल ने उस पर आक्रमण किया; वस्त्र आदि उस का सब कुछ लूट लिया और हाथ में तलवार ले कर उस का पीछा किया। अंत में एक ब्राह्मण ने—जो खेत जोत रहा था—उस की रक्षा की। उस ने गुहार लगा कर ८० हथियारबंद आदमियों को इकट्ठा कर लिया।" एक दूसरे अवसर पर जब कि अयोध्या छोड़ने के बाद वह एक नाव में बैठ कर गंगाजी के प्रवाह के साथ जा रहा था, उसे एक बुरा अनुभव हुआ[१]। राजधानी से कुछ दूरी पर डाकुओं ने उस को गिरफ़्तार कर लिया। वे दुष्ट लोग दुर्गा के उपासक थे। अपने क़ैदी को बलि देने के लिए देवी की वेदी तक ले गए। किंतु उसी समय दैव-संयोग से एक भारी तूफ़ान आया, जिस से डाकू लोग इतने भयभीत हो गए कि वे अपने क़ैदी (ह्वेनसांग) को छोड़ कर वहां से भाग निकले[२]।

जिस शासन के अंदर ऐसी-ऐसी घटनाएं घटित हुईं, उस की हम अधिक प्रशंसा नहीं कर सकते। वस्तुतः चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से शासन का मान बहुत गिर गया था—चंद्रगुप्त मौर्य के समय की तो बात ही जाने दीजिए। फ़ा ह्यान ने पूर्णतः सकुशल भारत का भ्रमण किया; किंतु ह्वेनसांग को स्थल तथा जल दोनों मार्गों पर डाकुओं की निर्दयता का शिकार बनना पड़ा। इस से साफ़ पता चलता है कि सड़कें सुरक्षित नहीं थीं। सैनिकों के दुर्व्यवहार का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उन्हों ने मार्ग में चलते समय, मार्ग-स्थित ज़मींदारों के खेतों को लूट लिया, दूसरों की संपत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। हमें डा० मुकर्जी के निकाले हुए निष्कर्ष से अवश्य सहमत होना चाहिए। उन का कथन है कि हर्ष का शासन-प्रबंध गुप्त राजाओं के शासन-प्रबंध की तुलना नहीं कर सकता,[३] यद्यपि उन के पास महान सैनिक शक्ति थी, उन की स्थायी सेना में ६० हज़ार हाथी और १० लाख घोड़े थे; उन के राष्ट्रीय रक्षक-दल में बड़े-बड़े योद्धा सम्मिलित थे, जो शांति के समय सम्राट् के निवास-स्थान की रक्षा करते और युद्ध के समय सेना के निर्भीक अग्रगामी दल में सम्मिलित होते थे।

---

[१]जीवनी, पृष्ठ ७३
[२]वही, पृष्ठ ८७ तथा आगे।
[३]मुकर्जी, 'हर्ष' पृष्ठ ९८

एकादश अध्याय

सामाजिक अवस्था

हमारे लिए यह संभव है कि बाण के दो काव्य-ग्रंथों तथा ह्वेनसांग के सि-यू-की की सहायता से हम हर्ष के समय में प्रचलित सामाजिक अवस्था का एक न्यूनाधिक सच्चा चित्र प्रस्तुत करें। "बाण के ग्राम्य-जीवन तथा दरबार-संबंधी वर्णनों में ऐसे उत्कृष्ट अंश प्रचुर संख्या में वर्तमान हैं जो उस काल का एक दर्पण खड़ा कर देते[1] हैं"—तथा "ह्वेनसांग के ग्रंथ का प्रधान ऐतिहासिक मूल्य उस के समकालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के वर्णन में है[2]।"

हम को प्रारंभ में साधारणतया प्रचलित इस कथन का उल्लेख कर देना चाहिए कि हर्ष-कालीन समाज, जाति के आधार पर अवलंबित तथा उस के नियमों से शासित था। ह्वेनसांग लिखता है, "परंपरागत जाति-विभेद के चार वर्ग हैं[3]।" वह फिर कहता है, "चारों जातियों में विभिन्न मात्रा में धार्मिक अनुष्ठान-जनित पवित्रता है।"[4] इन चार जातियों के अतिरिक्त ह्वेनसांग मिश्रित जातियों का भी उल्लेख करता है।

ह्वेनसांग ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा करता है। वह लिखता है कि देश की विभिन्न जातियों और श्रेणियों में ब्राह्मण सब से अधिक पवित्र और सब से अधिक सम्मानित थे। अतः उन की सुंदर सुख्याति के कारण भारत के लिए 'ब्राह्मण-देश' का नाम सर्व साधारण में प्रचलित था[5]। ब्राह्मण अपने सिद्धांतों का पालन करते, संयम के साथ रहते

[1]कॉवेल और टामस, 'बाण कृत हर्षचरित' की प्रस्तावना, पृष्ठ ११

[2]स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ १९

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[4]वही,

[5]वही, पृष्ठ १४०

तथा कड़ाई के साथ शुद्धाचार तथा अनुष्ठान का ध्यान रखते थे[1]।

देश के लोग ब्राह्मणों का कितना अधिक सम्मान करते थे, उस का कुछ आभास हमें बाण से प्राप्त होता है। ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति के संबंध में वह जो कुछ कहता है उस से स्मृतियों के दृष्टि-कोण का समर्थन होता है। बाण के 'हर्षचरित' में एक स्थान पर आता है, "केवल जो जन्म से ब्राह्मण हैं; परंतु जिन की बुद्धि संस्कार से रहित है, वे भी माननीय[2] हैं।"

राजाओं से यह आशा की जाती थी कि वे ब्राह्मणों का सम्मान करें और मुक्तहस्त से उन्हें अपना धन दें। बाण अनेक स्थलों पर हर्ष की उदारता तथा ब्राह्मणों के प्रति उन के सम्मान-पूर्ण भावों का उल्लेख करता है[3]। ब्राह्मणों की सहायता के लिए उन्हों ने अपने धन का उपयोग किया, उन को गाँव दान दिए। वे महल में ५०० ब्राह्मणों को प्रति-दिन भोजन कराते थे और पंचवर्षीय सभा में, हम देखते हैं, लगातार २१ दिनों तक उन्हें राजा से दान मिलता रहा। उन के शासन-काल में केवल सर्प ही द्विज-गुरु (गरुड़) से द्वेष रखते थे, अन्य कोई द्विज तथा गुरु से घृणा नहीं करता था। ब्राह्मणों को दान देना (धार्मिक) पुण्य का काम समझा जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मणों के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया जाता था, उस के लिए वे कहां तक योग्य थे। यद्यपि इस में संदेह नहीं है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण वैदिक शास्त्रों में खूब पारंगत होते थे; उन का जीवन पवित्र एवं सरल और उन के विचार उच्च थे[4]। किंतु साथ ही ऐसे ब्राह्मण भी थे जिन्हों ने अपनी जाति को कलंकित किया। ब्राह्मणों में एक भारी दोष उन का लोभ था। जब उन के बड़े भाई ने राज्य को त्याग देने का निश्चय कर लिया, तब हर्ष ने कहा—"निरभिमानी राजा और लोभ-रहित ब्राह्मण को पाना कठिन है[5], तो भी मेरे प्रभु स्वयं मेरे उपदेष्टा (शिक्षक) रह चुके हैं।" जिस समय

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[2] 'असंस्कृतमतयोपि जात्यैव द्विजन्मानो माननीया'—'हर्षचरित', पृष्ठ १८

[3] हर्ष के लिए प्रयुक्त पदों को देखिए:—

(क) 'ब्राह्मणैसुसहाय इति'—अर्थात् ब्राह्मण हर्ष को अपना अच्छा सहायक समझते थे—'हर्षचरित', पृष्ठ १११

(ख) 'द्विजोपकरणः सर्वस्वं' अर्थात् उन का सर्वस्व ब्राह्मणों के लिए ही था। टीकाकार कहते हैं कि 'सर्व' शब्द में स्त्रियां भी आ जाती हैं—'हर्षचरित', पृष्ठ ८६

(ग) 'पन्नगानां द्विजगुरुद्वेषः'—यह श्लिष्ट पद है। इस का अर्थ (१) 'द्विजगुरु' अर्थात् गरुड़ का द्वेष सर्प ही करते थे; (२) द्विज (ब्राह्मण) और गुरु (आचार्यों) का द्वेष करने वाला कोई नहीं था—'हर्षचरित', पृष्ठ १२२

[4] देखिए, बाण कृत वात्सायन कुल के गृह-मुनियों का वर्णन। बाण स्वयं वात्सायन कुल का था—'हर्षचरित', पृष्ठ ६१-६४

[5] द्विजातिरनेषणः अर्थात् लोभ-रहित ब्राह्मण—'हर्षचरित', पृष्ठ २४६

हर्ष शत्रु पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना के साथ प्रस्थान कर रहे थे, उस समय वृक्षों की चोटियों पर चढ़े हुए चीख मारनेवाले लड़ाकू ब्राह्मण को ज़मीन पर खड़ा हुआ कंचुकी डंडे के द्वारा बाहर निकाल रहा था[1]। ब्राह्मण लोग अपनी जीविका कमाने के लिए विभिन्न प्रकार के धंधों में लगे हुए थे। इस बात में स्मृतियों के सिद्धांत तथा प्रचलित व्यवहार में बहुत अंतर था। ब्राह्मण लोग केवल शिक्षा देने तथा यज्ञ करने का काम ही नहीं करते थे, यद्यपि गुरुकुलों में बहुसंख्यक ब्राह्मण आचार्य थे और उन में से बहुत से लोग गाँवों और नगरों में यज्ञ करते थे। उदाहरणार्थ बाण के चचेरे भाई तथा चाचा लोग ब्रह्मचारियों को पढ़ाते और यज्ञ करते थे। इन यज्ञों में वेदों में विहित वार्षिक यज्ञों का भी अनुष्ठान किया जाता था। इस के अतिरिक्त मध्यश्रेणी के ब्राह्मण गृहस्थ थे। उन के पास ज़मीन होती थी, जिस से उन्हें अच्छी आय हो जाती थी और वे आराम से अपना जीवन व्यतीत करते थे। वे ब्राह्मण संपन्न और ज़मींदार भी थे, जिन के पास अग्रहर तथा ब्रह्मदेव भूमि होती थी, जिसे धर्मात्मा राजाओं तथा सामंतों ने उन्हें दान दिया था। कुछ ब्राह्मण और थे जो शासन के अंतर्गत बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित थे। गुप्त-काल में हमें ब्राह्मण अमात्यों के नाम मिलते हैं; जैसे, चंद्रगुप्त द्वितीय के मंत्री शिखर स्वामी। नाम के अंत में 'स्वामी' का लगा रहना यह सूचित करता है कि वे ब्राह्मण थे। कुछ ऐसे ब्राह्मण भी थे जो प्रांतीय शासन में दायित्वपूर्ण सर्वोच्च पद पर काम करते थे। राजकुल का पुरोहित, जिस का बड़ा राजनीतिक प्रभाव रहता था, निश्चय रूप से ब्राह्मण होता था। महल में बहुसंख्यक ब्राह्मण गणक तथा मौहूर्तिक थे जो राजा से दान पाते थे। राजकुटुंब के कर्मचारियों में अधिकतर ब्राह्मण होते थे; जैसे, कंचुकी। बहुत से ब्राह्मण महल में यज्ञों तथा व्रत आदि धार्मिक अनुष्ठानों में पुरोहित का काम कर के अपनी जीविका कमाते थे। इस के अलावा बहुत से ब्राह्मण मंदिरों में पुजारी का काम करते थे। सारे देश में ब्राह्मणों की अब भी एक जाति थी, जिस का उप-विभाग नहीं हुआ था, भौमिक भागों के आधार पर अवलंबित आधुनिक भेद-विभेद अभी आरंभ नहीं हुआ था[2]। सातवीं शताब्दी के ब्राह्मण अपने गोत्र, प्रवर तथा चरण अथवा वैदिक शाखा विशेष के नाम से, जिस से उन का संबंध था, प्रसिद्ध थे। यह कथन उन बहुसंख्यक भूमि-दान-पत्रों से प्रमाणित होता है जो उपलब्ध हुए हैं। भास्कर वर्मा के निधानपुर[3] वाले ताम्रपत्र तथा वाकाटक वंश के प्रवरसेन द्वितीय के चन्मक[4] के ताम्र-फलक वाले दानपत्र में बहुसंख्यक ब्राह्मणों के नाम लिखे हुए हैं। उन के नामों के साथ उन के गोत्र

---

[1]देखिए, 'क्वचित्तलवर्त्तिवेत्रिवेत्रवित्रास्यमान शाखिशिखरगत विक्रोशद्विवादि-ब्राह्मणम्'—'हर्षचरित', पृष्ठ २८७

[2]वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ६७

[3]निधानपुर का दानपत्र—'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द १२

[4]चन्मक का दानपत्र, 'कॉरपस इन्सक्रिप्टियेनुम इंडिकारम'—जिल्द ३, लेख नं० ८८, पृष्ठ २३९

और चरण भी दिए गए हैं। बंसखेरा के ताम्रपत्र-लेख के दान-ग्रहीता दो ब्राह्मण हैं। उन में से एक का नाम भट्ट बालचंद्र था और वह एक 'बह्वृच' अर्थात् ऋग्वेदी तथा भरद्वाज गोत्र का था। दूसरे का नाम भद्र स्वामी था, वह उसी गोत्र का एक छांदोग अर्थात् सामवेदी था।

ब्राह्मणों के नाम के अंत में 'शर्मा' लगा रहता था और कभी-कभी उन के नाम के पूर्व 'भट्ट' शब्द जोड़ा जाता था। 'भट्ट' विद्वत्ता सूचक—विशेषकर मीमांसा दर्शनशास्त्र-संबंधी—एक उपाधि थी। लेखों में बहुसंख्यक ऐसे ब्राह्मणों के नाम भी हमें मिलते हैं, जो अन्य व्यक्तिवाचक नामों के साथ 'स्वामी' शब्द जोड़ कर बने थे; जैसे, शिखरस्वामी, भद्रस्वामी, कर्कस्वामी, पाटलस्वामी आदि।

ह्वेनसांग क्षत्रियों की भी खूब प्रशंसा करता है। ब्राह्मणों के साथ वे भी निर्दोष सीधे-सादे, पवित्र एवं सरल जीवनवाले और बहुत मितव्ययी कहे गए हैं[1]। हर्ष के समय में क्षत्रियों की जाति ऐसी थी जिस की ठीक से परिभाषा नहीं की जा सकती थी। ह्वेनसांग क्षत्रियों की परिभाषा पुस्तकों के आधार पर देता है। वह उन को 'राजाओं की जाति' बतलाता है। वस्तुतः हर्ष के समय में प्रधान-प्रधान राजवंश क्षत्रिय जाति के नहीं थे। हर्ष स्वयं वैश्य थे। कामरूप का राजा ब्राह्मण तथा सिंध का शूद्र था। इन के अतिरिक्त हर्ष के काल में अन्य शूद्र तथा ब्राह्मण राजवंश भी थे। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि ह्वेनसांग का यह कथन कि "यह वर्ग अनेक पीढ़ियों से राज करता आया है[2]," ठीक नहीं है। ह्वेनसांग ने वलभी तथा चालुक्य के राजाओं को क्षत्रिय कहा है, यद्यपि उन के वंश का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत की सूर्य-वंशीय तथा चंद्र-वंशीय क्षत्रिय जातियां लुप्त हो गई थीं और नवीन क्षत्रिय जातियों (राजपूतों) का अभी आविर्भाव नहीं हुआ था। बाण सूर्य तथा चंद्र वंशवाले क्षत्रियों का उल्लेख तो करता है; किंतु यह नहीं कहता कि वे उस के समय में वर्तमान थे[3]। साधारणतः यह माना जाता है कि हूणों के आक्रमणों के पश्चात्—जिन्हों ने उत्तरी भारत में भारतीय समाज को जड़ से हिला दिया था—जातियों का पुनः वर्गीकरण हुआ। शुद्ध क्षत्रिय जाति के लोग नष्ट हो गए, उन के स्थान को अन्य अनेक राजवंशों ने ले लिया जो प्रायः उन की सामाजिक स्थिति तक पहुँच गए; किंतु उत्तरी भारत में लगातार कई शताब्दियों तक कुछ अन्य कारणों से क्षत्रिय-जाति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी। उन में से एक कारण यह था कि क्षत्रियेतर-वंशवाले लगातार कई सदियों तक राज करते रहे, बहुत काल तक एक ब्राह्मण-साम्राज्य (शुंगों और कण्वों का)—फूलता-फलता रहा। फिर एक के बाद एक, विदेशी आक्रमणों की लहरें आईं और उन्हों ने पुरानी तहों को नष्ट कर नई जातियों की तहें जमा कर दीं। ब्राह्मण अधिक एकांतसेवी थे; अतः उन पर घोर

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १२१

[2] वही, पृष्ठ १६०

[3] देखिए, "कथयतं यदि सोमवंशसंभवः सूर्यवंशसंभवो वा युवां भूपतिरभूदेवंविध" 'हर्षचरित', पृष्ठ ९८

परिवर्तनों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा; किंतु क्षत्रियों ने अपने पृथक् व्यक्तित्व को खो दिया। किंतु दक्षिण में विशुद्ध क्षत्रिय-वंशवाले अपनी स्थिति तथा व्यक्तित्व की रक्षा कर सके और इक्ष्वाकु, बृहत्फलायन आदि क्षत्रिय वंशों ने शातवाहनों के ठीक बाद ही शासन करना प्रारंभ किया। सातवीं सदी में हम क्षत्रिय-राजवंशों—चालुक्य एवं पल्लव वंशवालों—को अपनी प्रभुता स्थापित करते हुए पाते हैं।

क्षत्रियों के नाम के अंत में 'वर्मा' तथा 'त्राता' शब्द जुड़े रहते थे। वलभी राजाओं ने 'सेन' तथा 'भट्ट' की उपाधि धारण की थी।

तीसरी जाति वैश्यों की थी। यह भारत की व्यापारिक जाति थी। ह्वेनसांग के कथनानुसार वे वस्तुओं का विनिमय करते थे और लाभ के लिए निकट तथा दूर देशों में जाते थे[1]। कालांतर में उन्हों ने खेती करना छोड़ दिया और वे बिल्कुल व्यापारी बन गए। कुछ विद्वानों का मत है कि उन के व्यवसाय-क्षेत्र में इस प्रकार सीमित होने का कारण बौद्धधर्म का प्रभाव था। अहिंसा-सिद्धांत का यथार्थ पालन करनेवाले का यह धर्म था कि वह उतनी भी जीव हिंसा न करे जितनी की हल के चलाने में होनी अनिवार्य है।

ब्राह्मणों के पश्चात् वैश्यों का ही सब से अधिक राजनीतिक प्रभाव था; क्योंकि उन्हीं के हाथ में राष्ट्र की अर्थ-शक्ति थी। वे साहूकार थे, उन्हीं के हाथों में बैंक थे और सरकारी क्षेत्रों में भी उनका प्रभाव था। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि गुप्तवंश के सम्राट् वैश्य थे (जैसा कि संभवतः वे थे), तब यह कथन युक्ति-संगत होगा कि लगातार कई शताब्दियों तक भारत का भाग्य-चक्र वैश्यों के हाथ में रहा। गुप्त राजाओं के पतन के बाद यशोधर्मन्-विष्णुवर्द्धन, जो बहुत संभव है वैश्य था, देश का सम्राट् बन बैठा। पुष्यभूति लोग भी वैश्य-वंश के थे और हर्ष इस वंश के भूषण थे। गुप्त-काल के लेखों में प्रांतीय शासकों तथा ज़िले के अफ़सरों के नाम 'दत्त' एवं 'गुप्त' उपाधि के साथ पाए जाते हैं[2]। ये उपाधियां उन के वैश्य-वंशोद्भव होने की सूचक हैं। नगर श्रेष्ठी, प्रथम-कुलिक, सार्थवाह आदि जो संभवतः वैश्य थे, ज़िले के अफ़सरों को शासन-प्रबंध में सहायता देते थे, जैसा कि दामोदरपुर के ताम्रपत्रवाले लेखों से प्रमाणित होता है। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है कि उन दिनों वैश्यों की जाति बहुत अधिक महिमाशालिनी थी। वैश्यों की उपाधियां 'गुप्त', 'भूति' तथा 'दत्त' थीं।

वैश्यों के बाद शूद्रों का नंबर था। ज्यों-ज्यों वैश्य लोग कृषि से विमुख होते गए, त्यों-त्यों शूद्रों ने कृषि को धीरे-धीरे अपना प्रधान व्यवसाय बना लिया। ह्वेनसांग उन्हें कृषक कहता है[3]। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि[4] के समय से शूद्रों के अंदर कई श्रेणियां थीं।

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[2] कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुरवाले लेख से यह ज्ञात होता है कि पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का शासन चिरात दत्त के हाथ में था—देखिए, बसाक की 'हिस्ट्री आफ़ ईस्टर्न इंडिया', पृष्ठ ९

[3] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[4] देखिए, पाणिनि का सूत्र—"शूद्राणां अनिरवसितानां" और उसी का पतंजलि कृत भाष्य।

पतंजलि ने भी शूद्रों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख किया है। रजक, तंतुवाय, तक्ष तथा अयस्कार आदि। कुछ शूद्र यज्ञों में भाग नहीं लेने पाते थे और कुछ इतने नीच समझे जाते थे कि उन के द्वारा इस्तेमाल में लाए हुए बर्तन केवल मिट्टी अथवा राख से साफ़ कर देने से ही शुद्ध नहीं हो सकते थे। उन को पहले आग में तपाना पड़ता था और तब कहीं उच्च जाति के लोग उन को अपने व्यवहार में ला सकते थे। हर्ष के समय में भी हमारे पास यह कहने का कोई कारण नहीं है कि परिस्थितियां बहुत विभिन्न हो गई थीं।

शूद्रों के हाथों में भी कुछ राजनीतिक शक्ति थी। उन की जाति के कतिपय राज-वंश थे। यह बिल्कुल स्पष्ट मालूम होता है कि शूद्रों ने अपनी स्थिति में बहुत उन्नति कर ली थी, यद्यपि स्मृतियों में सिद्धांत-रूप से उन्हें अस्पृश्यों की अपेक्षा बहुत अच्छी स्थिति प्राप्त नहीं थी। चारों जातियों की स्थिति में जो अंतर था, उसे देश का तत्कालीन दंड-विधान बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। दंड-विधान में विभिन्न जातियों के लोगों के लिए कम वा अधिक कठोर दंड निर्धारित किया गया था। इसी प्रकार कर भी सब जातियों पर समान-रूप से नहीं बाँधा गया था। अनेक प्रकार के अपराधों के लिए सब पर समान जुर्माना नहीं किया जाता था, बल्कि अपराधी पर उस की जाति के अनुसार कम वा अधिक जुर्माना होता था। अपराधी जितनी ही उच्चजाति का होता था, उतना ही कम जुर्माना उस पर किया जाता था। पापों के लिए प्रायश्चित भी जाति ही के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता था।

अब ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित 'मिश्रित-जातियों' पर हमें ध्यान देना होगा, जिन की संख्या बहुत अधिक थी[1]। ये व्यवसायात्मक दल थे; जैसे, निषाद, पारशव, पुक्कस आदि। वे स्मृतियों के सिद्धांत के अनुसार मिश्रित अर्थात् अनुलोम- तथा प्रतिलोम विवाहों के परिणाम थे। किंतु वास्तव में ये जातियां कर्म के अनुसार बन गई थीं।

देश की आबादी में अछूतों का भी एक काफ़ी बड़ा हिस्सा शामिल था। ह्वेनसांग ने उन का जो वर्णन किया है, वह बड़ा मनोरंजक है। "क़साई, मछुए, मेहतर, जल्लाद तथा नट आदि के निवास-स्थानों पर पहचान के लिए चिह्न लगा दिया जाता है। वे नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य किए जाते हैं और गाँव में आते-जाते समय वे बाईं ओर दबक कर चलते हैं[2]। चांडाल, मृतप, श्वपाक आदि अछूतों के अंदर सम्मिलित थे"। बाण की 'कादंबरी' में जिस चांडाल स्त्री ने सुग्गे को ले कर राजा शूद्रक के दरबार में प्रवेश किया, उस ने राजा को सचेत करने के लिए, कुछ दूर से ही हाथ में ली हुई बाँस की छड़ी से चित्रित

---

[1]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[2]वही, पृष्ठ १४७ फ़ाह्यान के भ्रमण-वृत्तांत से हम जान सकते हैं कि पाँचवीं सदी के प्रारंभ में भी अस्पृश्यता के संबंध में भारत की स्थिति ऐसी ही थी—देखिए, जाइल्स-कृत अनुवाद, पृष्ठ २१

फर्श पर प्रहार किया[1]। यह प्रथा अस्पृश्यों में साधारणतः प्रचलित थी। इस प्रकार वे उच्च जाति के लोगों को अपने आगमन से सावधान कर देते थे। बाण ने चांडाल स्त्री को 'स्पर्शवर्जित' अर्थात् अछूत तथा 'दर्शनमात्रफल' अर्थात् जिसे केवल देख ही सकते थे, छू नहीं सकते थे[2]—कहा है।

ह्वेनसांग के समय में अंतर्जातीय विवाहों का प्रायः अभाव था। एक जाति के लोग अपनी ही जाति के अंदर विवाह करते थे[3]। यद्यपि यह प्रथा साधारण रूप से प्रचलित थी; किंतु स्मृतियों में अंतर्जातीय विवाहों का विधान था और ऐसे विवाह हुए भी। अंतर्जातीय विवाह दो प्रकार के थे—अनुलोम तथा प्रतिलोम। अनुलोम विवाह—अर्थात् उच्च जाति के पुरुष का नीच जाति की स्त्री के साथ विवाह— से यद्यपि लोग निरुत्साहित किए जा रहे थे; तथापि समाज में यह प्रथा प्रचलित थी। बाण का चंद्रसेन नामक एक सौतेला भाई था, जो एक शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। ध्रुवभट्ट यद्यपि क्षत्रिय था; किंतु वह हर्ष का दामाद था, जो वैश्य था। राज्यश्री वैश्या थी; किंतु उस का विवाह मौखरि क्षत्रिय ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। डा० फ्लीट ने अनुलोम-विवाहों के संबंध में हमारे ध्यान को एक लेखगत प्रमाण की ओर आकर्षित किया है[4]। वाकाटक-वंश के महाराज देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का पूर्वज यद्यपि ब्राह्मण था; तथापि "श्रुति-स्मृति के विधानानुसार" ब्राह्मणी स्त्रियों के होते हुए भी उस ने एक क्षत्रिया से विवाह किया। यशोधर्मन्-विष्णुवर्द्धन के मंदसोरवाले शिला-लेख हमें बतलाते हैं कि रविकीर्ति ने, यद्यपि वह स्वयं ब्राह्मण था और नैगमों अर्थात् वेद के जाननेवालों के वंश में उस का जन्म हुआ था तथा कभी भी स्मृति-मार्ग से विचलित नहीं हुआ था, भानुगुप्ता से जो कि स्पष्टतः वैश्या थी, अपना विवाह किया[5]।

जैसा कि ऊपर कहा गया है यह साधारणतया प्रचलित रीति थी कि एक जाति के लोग अपनी जाति के अंदर ही विवाह करें। पिता अथवा माता के पक्ष के संबंधी यद्यपि एक ही जाति के होते थे, तो भी वे आपस में एक दूसरेसे विवाह नहीं कर सकते थे। किंतु इस बात में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत की प्रथा में अंतर था। दक्षिण में मामा की लड़की के साथ विवाह करना वैध समझा जाता था; किंतु उत्तर में ऐसा विवाह निषिद्ध था।

---

[1]प्रविश्य च सा..........वेणुलतामादाय नरपतिप्रबोधनार्थं—संस्कृतसभाकुट्टिमसमाजघान—'कादंबरी', प्रथम अध्याय, पृष्ठ २१

[2]अमूर्तामिव स्पर्शवर्जितामालेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलां—'कादंबरी', प्रथम अध्याय, पृष्ठ २५

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६८

[4]'कार्पस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम्' जिल्द ३, पृष्ठ १५२-५४

जिस को वैद्यमहोदय ने अपनी 'मिडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ६२—में उद्धृत किया है।

[5]फ्लीट, 'कार्पस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारुम्' जिल्द ३, पृष्ठ १५२-१५४

जीते तथा मारे गए राजाओं की स्त्रियां विधवाएं (विजेता) राजा के अंतःपुर की महिलाओं की संख्या बहुत बढ़ा देती थीं।

कुलीन समाज का जीवन सुखमय तथा आमोदपूर्ण था। बाण हमारे सामने तत्कालीन राज-दरबार के जीवन का एक जीता-जागता चित्र प्रस्तुत करता है। यद्यपि बहुत सी बातें ऐसी थीं जो कि आधुनिक समय के लोगों को अरुचिकर प्रतीत होंगी—बहुत अंशों में "असभ्यतापूर्ण, दंभ का मूर्खतापूर्ण प्रदर्शन" प्रतीत होगा—तथापि उन दिनों के राजकुल अपने अति उदार व्यवहार से चित को मुग्ध कर लेते थे[1]। राज्यश्री के विवाह तथा हर्ष के जन्म के अवसर के आमोद-प्रमोद हमें दरबारी जीवन के सुखमय पहलू का आभास देते हैं। फूल, सुगंधित पदार्थों तथा प्रलेपनों का प्रचुर व्यवहार होता था। नाच और गान का कभी अंत ही न होता था। राजा की स्त्रियां नाचती[2] थीं, वेश्याएं नाचती थीं, वृद्ध सामंत नाचते थे, राजधानी के युवक नाचते थे और नाचने के लिए साधुओं (योगियों) के हृदय भी लालायित हो जाते थे। लोग अनियंत्रित रूप से आमोद-प्रमोद तथा कोलाहल करते थे, जिस में कभी-कभी उन्हें श्लीलता का ध्यान नहीं रह जाता था। आभूषणों, मोतियों, बहुमूल्य पत्थरों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं का कौतूहल-जनक प्रदर्शन किया जाता था। हर्ष के जन्मोत्सव का वर्णन करता हुआ बाण लिखता है—"वह महान् जन्मोत्सव इस प्रकार संपन्न हुआ कि राजकुल की स्थिति भंग हो गई, प्रतिहारियों का दबदबा फीका पड़ गया, वेत्रपाणियों के वेत्र छीन लिए गए, अंतःपुर में घुस जाना अपराध न रह गया, स्वामी और सेवक का भेद जाता रहा, बाल और वृद्ध एक में मिल गए, शिष्ट और अशिष्ट समान हो गए, मदोन्मत्त और संयमी का पहिचानना कठिन हो गया, भद्र महिलाएं और वेश्याएं समानरूप से विलास-मग्न थीं, कहां तक कहें, राजधानी के सभी अधिवासी नाचने लगे थे[3]।"

राजमहल के जीवन का एक दूसरा पहलू भी था जो जघन्य तथा अश्लील था। राज्य के मंत्री गुप्त प्रेम करते थे[4]। राजा लोग बहुधा स्त्रियों के लिए ऐसी नैतिक दुर्बलता

[1]'अत्युदार व्यवहारिणि बृहन्ति राजकुलानि' 'हर्षचरित', पृष्ठ ६९

[2]'क्वचित् मत्तकटककुट्टनीकंठलग्नवृद्धार्थ सामंतनृत्तनिर्भरहसितनरपतिः' अर्थात् समादरणीय वृद्ध सामंत राजधानी की मतवाली वेश्या को कंठ लगाकर उन्मत्त नृत्य में लगे हुए थे और राजा उन को देख कर खूब हँसते थे। 'हर्षचरित', पृष्ठ १८६

[3]प्रावर्तत च विगतराजकुलस्थितिरधःकृतप्रतीहाराकृतिरपनीतवेत्रिवेत्रो निर्दोषान्तःपुरप्रवेशः समस्वामिपरिजनो निर्विशेषबालवृद्धः समानशिष्टाशिष्टजनःदुर्ज्ञेयमत्तामत्तप्रविभागः तुल्यकुलयुवतिवेश्यालापविलासः प्रनृत्तसकलकटकलोकः पुत्रजन्समहोत्सवो महान्।—'हर्षचरित' पृष्ठ १८९

[4]क्वचित् क्षितिपाक्षिसंज्ञादिष्टदुष्टदासेरकगीतसूच्यमानसचिवचौर्यरतप्रपंचः अर्थात् कभी-कभी राजा की आँखों के इशारे से आज्ञा पा कर बच्चे और नौकर गीतों में मंत्रियों के गुप्त प्रणय को प्रकाश कर देते थे—'हर्षचरित', पृष्ठ १८६

दिखलाते थे जो उन के लिए उचित नहीं प्रतीत होती थी। महल में वेश्याएं बहुत दृष्टि-गोचर होती थीं। जीवन की अच्छी वस्तुओं का बहुत अधिक उपभोग किया जाता था। जीवन सरल, संयमी तथा सुनियंत्रित नहीं था; किंतु साथ ही राजा और संभ्रांत लोग अपने को अवसर के अनुकूल बना लेते थे। अगर वे जीवन का आनंद उठाना जानते थे तो साथ ही यह भी जानते थे कि अवसर पड़ जाने पर उस को किस प्रकार उत्सर्ग कर देना चाहिए। यदि हम उन्हें युवावस्था में युवतियों के साथ लगे हुए देखते हैं, तो हम उन्हें जीवन के अंत भाग में साधु-जीवन व्यतीत करने के लिए सिंहासन को भी छोड़ने के लिए तैयार पाते हैं।

लोगों का पहनावा

ह्वेनसांग का कथन[1] है कि "लोगों के नीचे तथा ऊपर पहनने के कपड़े दर्जी के सिले हुए नहीं होते। जहां तक रंग का सवाल है सफ़ेद अधिक पसंद किया जाता है। विभिन्न रंगों से रँगे हुए कपड़ों की कोई क़द्र नहीं होती। लोग कमर के चारों ओर बगल तक एक लंबा किंतु कम चौड़ा कपड़ा लपेटते हैं और दाहिने कंधे को खुला छोड़ देते हैं। स्त्रियां एक लंबा वस्त्र धारण करतीं हैं जो कि दोनों कंधों को ढके रहता है, काफ़ी ढीला रहता है और नीचे लटकता रहता है। सिर की चोटी का बाल घुमाव दे कर लपेट लिया जाता है और सब बाल नीचे लटकते रहते हैं। कुछ लोग अपनी मूँछों को कटवाते हैं अथवा अपनी मौज के अनुसार अन्य अजीब फ़ैशन से रहते हैं। सिर पर माला धारण करते हैं और गले में हार।" ह्वेनसांग का यह कथन कि दर्ज़ीगीरी नहीं होती थी, बिल्कुल ठीक नहीं माना जा सकता। हम देखते हैं कि जामा और जॉकेट (कंचुक) का इस्तेमाल होता था। हर्ष का प्रतीहार पारियात्र कर्णिका-पुष्प के समान श्वेत कंचुक पहने था[2]। अजंता की गुफाओं की चित्रकारी में भी हमें काट कर सिले हुए कपड़ों का नमूना मिलता है। खूब कसे हुए छोटे ज़नाने जॉकेट, जो स्तन को ढके रहते हैं, साधारण रूप से प्रचलित थे। उच्च जाति के स्त्री-पुरुष सफ़ेद रंग को पसंद करते थे। इस का प्रमाण बाण ने भी दिया है। जब वह हर्ष से साक्षात् करने को रवाना हुआ, तब वह शुक्ल वस्त्र पहने हुए था। स्वयं हर्ष भी शुक्ल वस्त्र पहनते थे।

यद्यपि कपड़े को काट कर सीने की कला अज्ञात नहीं थी, तो भी यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उन दिनों सम्राटों के भी पहनने के दो ही कपड़े रहते थे—एक तो धोती थी, जो कमर में लपेट कर पहनी जाती थी और दूसरा वस्त्र उत्तरीय था। जब हर्ष ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया, तब उन के शरीर पर एक ही तरह के दो दुकूल थे उन में सफ़ेद हंसों के जोड़े चित्रित थे[3]। हर्षचरित में दुकूल का बार-बार उल्लेख मिलता है। दरबार में

[1] 'वाटर्स', जिल्द १ पृष्ठ १४८

[2] 'कर्णिकारगौरेणाबीध्रक कंचुकच्छिन्नवपुषा'—'हर्षचरित', पृष्ठ ६८

[3] 'परिधाय राजहंसमिथुनलक्ष्मणी सदृशे दुकूले'—'हर्षचरित', पृष्ठ २७४

बैठे हुए हर्ष के वर्णन में कहा गया है कि वे शरीर के निम्नस्थ भाग में एक वस्त्र पहने थे जो निर्मल जल से धुले हुए नेत्रसूत्र (एक प्रकार के रेशमी तागे) का होने के कारण चमकता था और फेन-राशि के समान सफ़ेद था। ऊपर का वस्त्र बनाए हुए तारों से भूषित[1] था। एक दूसरे अवसर पर कदली-गर्भ से भी कोमल नए रेशम का कुर्ता पहने थे[2]। अभिजात वंश के मनुष्य साफ़े का व्यवहार करते थे। 'हर्षचरित' के प्रथम अध्याय में बाण दधीचि के साथी को सफ़ेद रेशम का साफ़ा पहने हुए बतलाता है[3]। राजा लोग सिर पर सफ़ेद फूलों की माला धारण करते थे। यह उन का राज-चिह्न समझा जाता था[4]। शरीर पर भी फूलों के हार पहने जाते थे जो कि कमर तक लटकते रहते थे। कभी-कभी उत्तरीय अथवा ऊपर के वस्त्र को उष्णीष अर्थात् साफ़ा के रूप में व्यवहार करते थे। कुलीन व्यक्तियों के सिर पर छाते से छाया की जाती थी। उन छातों पर बहुमूल्य पत्थर जड़े रहते थे[5]।

कुलीन समाज का पहनावा यद्यपि सादा था; किंतु वह मूल्यवान् होता था। उन दिनों देश में उच्चकोटि की बिनावट के कपड़े तैयार किए जाते थे। ह्वेनसांग रुई, रेशम तथा ऊन के विभिन्न बारीक़ वस्त्रों का उल्लेख करता है; जैसे, कौशेय (जो रेशम का होता था), क्षौम (सन के सूत से बने हुए कपड़े), कंबल (ऊन के सुंदर बारीक़ वस्त्र) तथा हो-ला-ली[6] (एक जंगली जानवर के ऊन से बना हुआ कपड़ा)। भारतवर्ष ने सुंदर बारीक़ वस्त्र के निर्माण करने की कला में चरमोन्नति कर ली थी। पुंड्रदेश

---

[1]अमृतफेनपटलपांडुना, मेखलामणिमयूखखचितेन नितंबबिंबव्यासङ्गिना बिमलपयोधौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा वासुकिनिर्मोकेणेव मंदरं द्योतमानं सतारागणेनोपरिकृतेन द्वितीयांबरेण भुवनाभोगमिव।—'हर्षचरित', पृष्ठ ११६

[2]कदलीगर्भाभ्यधिकमृदिम्ना नवनेत्रनिर्मितेन द्वितीय इव भोगिनामधिपतिरंगलग्नेन कंचुकेन।—'हर्षचरित', पृष्ठ २८०

[3]धौतदुकूलपट्टिकापरिवेष्टित मौलिं पुरुषं—'हर्षचरित', पृष्ठ ३६

[4]'परमेश्वर चिह्नभूतां सितकुसुममुंडमालिकाम्', 'हर्षचरित', पृष्ठ १७४

[5]बाण बतलाता है कि हर्ष का छत्र मांगलिक था। उस में वैदूर्यमणि का दंड लगा था और उस के ऊपर जड़े हुए पद्मराग के टुकड़े चमकते थे।

वैदूर्यदंडविकटेनोपरिप्रत्युप्तपद्मराग-खंड—
मयूखखचिततया..............इत्यादि।—'हर्षचरित', पृष्ठ २८०

[6]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १४६—हो-ला-ली, वाटर्स महोदय कहते हैं, कि इस के लिए संस्कृत शब्द अनिश्चित है; परंतु वाटर्स का विचार है कि यह वास्तव में 'राल' शब्द है। (राल तिब्बत भाषा का शब्द है और इस का अर्थ होता है 'बकरे का बाल', र=बकरा) यह हो-ला-ली संभवतः दूसरे बौद्ध-ग्रंथों में व्यवहृत 'लो-ई' या 'लो-कपड़े' ही है। संस्कृत में भी हमें रल्लक शब्द मिलता है, जिस का अर्थ है एक जंगली जानवर और उस के बालों के बने हुए कपड़े तथा रल्लक-कंबल शब्द भी मिलता है, जिस का अर्थ एक सुंदर ऊनी कपड़ा होता है।

(उत्तरी बंगाल) में रेशम के ऐसे कपड़े तैयार किए जाते थे जो मोर के अपांग के समान पीले होते थे[1]। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर क्षौम, बादर, सूती, दुकूल (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा), लाला, तंतुज (कौशेय वस्त्र) और नेत्र वस्त्रों को हम महल में बिखरा देखते हैं। वे स्वाँस से भी उड़ जानेवाले, केवल स्पर्श द्वारा मालूम होनेवाले, साँप के चमड़े की भाँति चमकनेवाले थे और इंद्रधनुष के सभी रंगों के थे[2]। चीनांशुक नामक वस्त्र तत्कालीन भद्र-समाज के पुरुषों तथा महिलाओं को बहुत प्यारा था। हर्ष की माता यशोमती इसी वस्त्रविशेष का व्यवहार करती थीं।

यद्यपि भारत के लोग सादा वस्त्र पहनते थे; किंतु उन्हें आभूषणों का बड़ा शौक था। सचमुच उन दिनों राजा लोग एक संपूर्ण राज्य के मूल्य का सामान अपने शरीर पर लादे रहते थे। राजाओं और संभ्रांत पुरुषों के सिर के आभूषण हार और बहुमूल्य पत्थरों से युक्त मुकुट थे। उन के शरीर अँगूठियों, कड़ों तथा हारों से सुशोभित रहते थे[3]। बाण ने अनेक बार हर्ष के पहने हुए आभूषणों का उल्लेख किया है। कान का भूषण एक मुख्य आभूषण समझा जाता था।

भोजन

बाण ने अपनी 'कादंबरी' में जाति-भेद से प्रभावित भोजन के प्रश्न को केवल स्पर्श मात्र किया है। 'कादंबरी' में चांडाल-कुमारी सुग्गे से कहती है कि आपत्ति पड़ने पर ब्राह्मण किसी प्रकार का भोजन ग्रहण कर सकता है; और ज़मीन पर डाला हुआ जल तथा नीच-से-नीच के द्वारा लाए हुए फल तो सदा पवित्र हैं। अंतर्जातीय खान-पान में स्पष्टतः प्रतिबंध लगे हुए थे; किंतु कदाचित् वे इतने कड़े नहीं थे जितने कि उत्तरकाल में हो गए। ह्वेनसांग हमें बतलाता है कि प्रत्येक समय भोजन करने के पूर्व भारत के लोग अपने हाथ, पैर और मुँह धोते थे। उच्छिष्ट और बची-खुची चीज़ें फिर नहीं परोसी जाती थीं। भोजन के बर्तन को हाथोहाथ आगे नहीं बढ़ाया जाता था। जो बर्तन मिट्टी या काठ के होते थे उन को एक बार इस्तेमाल करने के बाद फेंक देना आवश्यक था और जो बर्तन सोने, चाँदी, ताँबे अथवा लोहे के होते थे उन को फिर से साफ़ करना पड़ता था। भोजन समाप्त कर चुकने के बाद वे तुरंत दातौन करके अपने को शुद्ध करते थे। शौच समाप्त करने के पहले वे एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते थे[4]। भारत में पवित्र तथा अपवित्र भोजन के बीच जो भेद किया गया था, उस का उल्लेख इत्सिंग भी करता है,

---

[1]पौराणिक सुदृष्टि के लिए बाण कहता है कि वे पुंड्र देश के बने हुए मोर के अपांग के समान पीले दो वस्त्र पहने हुए थे। "शिखंड्यपांगपांडुनी पौंड्रे वाससी वसानः"—'हर्षचरित', पृष्ठ १२१

[2]क्षौमैश्च बादरैश्च दुकूलैश्च लालातंतुजैश्चांशुकैश्च नेत्रैश्च निर्मोकनिभैर कठोर रम्भागर्भ कोमलैर्निःश्वासहार्यैः स्पर्शानुमेयैः।—'हर्षचरित', पृष्ठ २०२-२०३

[3]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १४७

[4]वही, पृष्ठ १५२

जिस ने ह्वेनसांग से थोड़े ही पीछे भारत में भ्रमण किया था[1]। वह भी ह्वेनसांग के कथन का समर्थन करता है।

ब्राह्मण शराब से एकदम परहेज़ करते थे। उत्तरकाल के अरब-निवासी भूगोल विद्या-विशारदों के प्रमाण के अनुसार क्षत्रिय लोग मामूली तौर से पीते थे। वैश्य लोग प्रायः मदिरा का व्यवहार नहीं करते थे। शूद्र तथा अन्य लोग शराब अवश्य ही पीते रहे होंगे। नाटकों में नगर-स्थित शौंडिकालयों का उल्लेख मिलता है। श्रमिक-वर्ग दिनभर के परिश्रम के पश्चात् मदिरा-पान के सुख द्वारा अपनी थकावट को मिटाने की चेष्टा अवश्य करता रहा होगा। हर्ष के जन्मोत्सव में मदिरा की धारा बही थी[2]। इतने प्रचुर परिमाण में मदिरा किस ने पान की होगी? स्पष्टतः उन्हीं लोगों ने जिन्हों ने उत्सव में भाग लिया होगा। इन में कुलपुत्र लोग भी सम्मिलित थे। ह्वेनसांग हमें बतलाता है कि क्षत्रिय लोग ईख तथा अंगूर से तैयार की हुई मदिरा पीते थे और वैश्य लोग चुवाई हुई तीव्र मदिरा पीते थे। बौद्ध-भिक्षु तथा ब्राह्मण केवल अंगूर तथा ईख का शर्बत पान करते थे[3]।

मांस-भक्षण के संबंध में समाज की क्या स्थिति थी, यह स्पष्ट नहीं है। अहिंसा-सिद्धांत के प्रभाव से अधिकांश जन-समाज ने मांस खाना छोड़ दिया था। मांस खाना कदाचित् बुरा समझा जाता था; किंतु स्मृतियों ने केवल विशेष प्रकार के ही मांस को निषिद्ध किया था। हर्ष के समय में मांस-भक्षण की रीति का पर्याप्त प्रचलन था। हर्ष की सेना की चाल का वर्णन करता हुआ बाण एक मनोरंजक पद में राजा के भोजनालय के सामानों का उल्लेख करता है। उस में सुअर के चमड़े के फ़ीते से बँधे हुए बकरे और हरिण के मांस का पूर्व भाग और चटकों के समूह सम्मिलित थे[4]।

श्राद्ध करने में पितरों को प्रसन्न करने के लिए मांस का भोजन तैयार करना होता था और जैसा कि बाण स्वयं प्रमाणित करता है, ब्राह्मण लोग यज्ञों में भी पशु-वध करते थे। कट्टर ब्राह्मण जो वैदिक-धर्म के अनुयायी थे, कभी-कभी मांस खाते थे। वैश्य लोग जिन के बीच अहिंसा का सब से अधिक प्रचार हुआ था, मांस से प्रायः परहेज़ करते थे। शूद्र भी जो कि बौद्ध तथा जैनधर्म से प्रभावित हुए थे, मांस नहीं खाते थे। ह्वेनसांग का कथन है कि मछली, भेंड़ का मांस तथा हरिण का मांस कभी-कभी स्वादिष्ट भोजन के रूप में खाए जाते थे[5]। इस का मतलब यह है कि उन चीज़ों का खाना निषिद्ध नहीं था। वर्जित मांसों में उस ने बैल, गदहा, हाथी, घोड़ा, सुअर, कुत्ता, लोमड़ी,

---

[1] 'इत्सिंग, रेकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिष्ट रिलिजन—तककुसु', पृष्ठ २४

[2] सधारागृह इव शीधुप्रपाभिः—'हर्षचरित', पृष्ठ १७८

[3] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७८

[4] महान् सोपकरण वाहिभिश्च बद्धवराहवध्रवाध्रीणसैर्लंबमानहरिणचटुकचटकजूट-जटिलैः—'हर्षचरित', पृष्ठ २८९

[5] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७८

भेड़िया, सिंह, लंगूर तथा बंदर के मांस को गिनाया है। जो इन पशुओं का मांस खाता था, उस को अंत्यजों में परिगणित किया जाता था।

भोजन की अन्य वस्तुओं में जो साधारणतः प्रचलित थीं, घी, दूध, दही, रवादार चीनी, मिश्री, रोटी तथा कड़ुवे तेल के साथ चबेना सम्मिलित था। जनसाधारण अपने भोजन के लिए गेहूं और चावल का उपयोग करता था। देश के अंदर फल प्रचुर मात्रा में पैदा होता था। फलों में आम, मधूक (महुवा), बदर (बेर), कपित्थ (कैथा) आम्ल (इमली), आमला (आँवला), तिंडुक (एक प्रकार का फल), उदुंबर (गूलर), नारिकेल, पनस (कटहल), नासपाती, अंगूर, तरबूज़, मीठीनारंगी, आड़ू, खूबानी तथा अनार आदि शामिल थे।

लोग नगरों, गाँवों तथा घोषों (अहीरों की बस्तियों) में रहते थे। नगर ईंटों की बनी हुई चौड़ी तथा ऊँची दीवारों से घिरे हुए थे। नगरों को बसाने की पद्धति वैज्ञानिक नहीं थी। आम सड़कें संकीर्ण तथा टेढ़ी-मेढ़ी होती थीं[1]। दूकानें मुख्य-मुख्य मार्गों पर स्थित थीं और सड़कों के किनारे-किनारे सरायें थीं। मकान ईंटों तथा लकड़ी के तख्तों के बने होते थे; पर ग़रीब लोग निस्संदेह अपने मकान मिट्टी के बनाते थे। वे घास-फूस से छाये रहते थे। दीवारों पर चूनाकारी होती थी। भव्य अट्टालिकाएं तथा कक्षाएं लकड़ी की चौरस छतों से युक्त होती थीं। कमरों के फ़र्श प्रायः मिट्टी के होते थे और उन्हें गोबर से लीप कर पवित्र रक्खा जाता था[2]।

यद्यपि मकानों का बाहरी रूप सादा होता था; किंतु अंदर आराम और सुविधा के सभी सामान मौजूद रहते थे। बैठने के लिए सब लोग मचियों का इस्तेमाल करते थे। राजकुल के लोग, बड़े-बड़े सरदार, राज्य-कर्मचारी तथा मध्य-श्रेणी के लोग बैठने के लिए उन्हीं को व्यवहार में लाते थे। हां, उन में अधिक मूल्य के सामान अवश्य लगाते थे और अनेक प्रकार से उन्हें बहुमूल्य वस्तुओं से सजाते थे।

राजाओं के महल अनेक कक्षाओं में विभक्त रहते थे। तीसरी कक्षा में प्रवेश करने के बाद हर्ष ने अपने तड़पते हुए पीड़ित पिता को धवलगृह में देखा, जो कि महल के सब से भीतर का हिस्सा था। धवलगृह का सब से भीतरी हिस्सा (कमरा) जहां प्रभाकरवर्द्धन मृत्यु-शय्या पर पड़े थे, 'सुवीथि' कहलाता था। उस पर तेहरा पर्दा पड़ा था। सुवीथि में भीतरी दरवाज़े थे, जिन्हें दसद्वार कहते थे। उस में खिड़कियां भी लगी थीं। धवलगृह के ऊपर एक और छोटा-सा भवन था, जिसे चंद्रशालिका कहते थे, वहां मौल अथवा राज्य के परंपरागत मंत्री मौन हो कर बैठे थे। झँझरीदार बारजे थे, जिन पर महिलाएं बैठती थीं और जो प्रग्रीवक कहलाते थे[3]। हमें संजवन अथवा चतुः-

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १४७

[2] वही।

[3] (हर्ष) "अवाप तृतीयं कक्षांतरम् तत्र च गृहावग्रहणीग्राहीबहुवेत्रिणि त्रिगुणतिरस्करिणीतिरोहितसुवीथीपथे पिहितपक्षद्वारके परिहृतकपाटहटिते घटितगवाक्षरक्षितमरुति

शाला, गृहावग्रहणी (देहली), अजिर (आँगन) आदि का नामोल्लेख भी मिलता है। महल के कमरों में मणिकुट्टिम अर्थात् मोतियों से जड़ी हुई फ़र्श होती थी[1]। दीवारों पर चित्रकारी आदि करने के लिए बढ़िया पलस्तर किया जाता था[2] और उन पर रंग-बिरंग की चित्रकारी की जाती थी[3]। खंभों में मणियां जड़ी थीं और उन में 'अवरोध' (अंतःपुर) की सुंदरी स्त्रियों का रूप प्रतिबिंबित होता था। महल से लगी हुई आनंद वाटिकाएं थीं, जिन के अंदर फ़ुव्वारे (धारायंत्र) लगे हुए थे।

कुछ रीति-रिवाज एवं रहन-सहन

बाण के ग्रंथ हमें उस समय के कुछ मनोरंजक तौर-तरीक़ों तथा रीति-रिवाजों से परिचित कराते हैं। उन में कोई नई बात नहीं है; किंतु उन का महत्व इस लिए बढ़ जाता है कि उन का समय निश्चित है। संतान की इच्छा से स्त्रियां सभी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान करती थीं। उज्जैन के राजा तारापीड़ की रानी दुर्गा के मंदिर (चंडिका-गृह) में उपवास करती और कुश से आच्छादित मुसलों की शय्या पर लेटती थी। पीपल की टहनियों से युक्त सोने के कलशों से गोकुलों में सुलक्षण गायों के नीचे स्नान करती, ब्राह्मणों को सब रत्नों से युक्त एवं तिल से पूर्ण सोने के पात्र दान करती, कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात को चौराहों पर राजा द्वारा खींचे गए मंडल के बीच में खड़ी होती और मंगलकारी स्नान का अनुष्ठान करती थी। वह नागसरों में स्नान करती, निमित्तज्ञों के पास जाती, शकुन विद्या के जाननेवालों का सम्मान करती, तावीज़ें पहनती (जिन के अंदर भुर्जपत्र में गोरोचन से लिखे हुए मंत्र रहते थे)। औषधि-सूत्रों को गंडों के रूप में धागों में पिरो कर बाँधती। संध्या-समय सियारों के लिए मांस-पिंडों को फेंकती तथा चौराहों पर शिव को अर्घ्य देती थी[4]।

नई माता की अधिष्ठातृ देवी (साक्षाज्जात मातृदेवता) की मूर्ति जिस का मुँह बिल्ली का-सा होता था और बच्चों के दल से घिरी रहती थी, सूतिका-गृह में रख दी

"..............चंद्रशालिकालीनमूकमौनलोके............प्रच्छन्नप्रग्रीवके संजवनपुंजितोद्विग्न परिजने..........................धवलगृहस्थितं............पितरमद्राक्षीत्"—'हर्षचरित', पृष्ठ २१६-२१६

[1]'निर्मलमणिकुट्टिमनिमग्नप्रतिबिंबनिभेन'—'हर्षचरित, पृष्ठ १८२

[2]देखिए—पद "नवसुधाधवला"—'हर्षचरित', पृष्ठ २०७

[3]देखिए, "सुप्तायाः वासभवने चित्रभित्ति चामर ग्राहिण्योपि चामराणि चालयांचक्रुः" अर्थात् जब देवी यशोमति गर्भावस्था में अपने वास-भवन में सोई रहती थीं, तब उन के ऊपर दीवार पर चित्रित चामर ग्राहिणी भी चमर डुलाती थीं—'हर्षचरित', पृष्ठ १८२

[4]'कादंबरी', पृष्ठ १०८-१०६

जाती थी[1]। राजा के बच्चे के जन्म के अवसर पर क़ैदी लोग जेलों से मुक्त कर दिए जाते थे[2] और दूकानें लुटाई जाती थीं[3]। हम देखते हैं कि हर्ष के जन्म के समय क़तार की क़तार दूकानें लुटवा दी गई थीं। नवजात बच्चे को आशीर्वाद देने के लिए स्त्रियां आती थीं। हर्ष के जन्म के समय वे नाना प्रकार की मणियों से जड़े हुए हाथीदाँत के पात्रों में कुंकुम, फूल, माला, सुपारी तथा सिंदूर इत्यादि अपने साथ लाई थीं[4]। उपहार के द्रव्यों में ५०-५० पान के पत्तों के बने हुए तांबूल-वृक्ष, जिन में सुपारी के झोंपे लटकते थे, शामिल थे। आजकल की भाँति और जैसा कि सदा से होता आया है, पुत्र के जन्म पर गाना-बजाना होता था, जिस में सम्मानित महिलाएं और वेश्याएं भी सम्मिलित होती थीं। रोग-दोष से बचाने के लिए बच्चों को तरह-तरह की तावीज़ें पहनाई जाती थीं। बाण के कथनानुसार शिशु हर्ष के सिर पर सरसों का तावीज़ पहनाया जाता था और उन के गले में बाघ का नख[5]।

कुलीन समाज में विवाह का उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर महल में चारों ओर आनंद ही आनंद छा गया था। आँगनों में इंद्राणी की मूर्तियां स्थापितकी गई थीं[6]। विवाह की वेदी की स्थापना बढ़इयों ने की थी।[7] विवाहिता वधू के उपहारों का—जिस में हाथी घोड़े, आदि थे—निरीक्षण किया जा रहा था[8]। सुनारों के समूह दुलहिन के लिए गहने बनाने में लगे थे और उन के शब्दों से बाहर के चबूतरे गूँजने लगे थे[9]। चतुर चित्रकारों ने मांगलिक द्रव्यों के चित्र (दूल्हे को उपहार रूप में भेजने के लिए) बनाए[10]। मछली, मगर, कछुआ, नारियल, केला, तांबूल-वृक्ष की मिट्टी की मूर्त्तियां बनाई गई थीं[11]। ये भी उपहार के रूप

---

[1]जातमातृदेवता मार्जराननना बहुपत्र परिवारा सूतिकागृहे स्थाप्यंते—'हर्षचरित' की टीका, पृष्ठ १८९

[2]अर्थावंत मुक्तानि बंधनवृन्दानि—'हर्षचरित', पृष्ठ १८९

[3]लोकविलुण्ठिताः विपणिवीथ्यः—'हर्षचरित', पृष्ठ १८९

[4]'हर्षचरित', पृष्ठ १८६

[5]देवे चोत्तमांगनिहितरक्षासर्षपकणे हाटकबद्धविकटव्याघ्रनखपंक्तिमंडितग्रीवके—'हर्षचरित', पृष्ठ १९१

[6]प्रतिष्ठाप्यमाने इंद्राणीदैवतं—'हर्षचरित', पृष्ठ २०१

[7]सूत्रधारैरादीयमानविवाहवेदीसूत्रपातं—'हर्षचरित', पृष्ठ २०१

[8]निरुध्यमानयौतकयोग्यमातङ्गतुरङ्गतरङ्गितांगन—'हर्षचरित', पृष्ठ २०१

[9]हेमकारचक्रप्रकांतहाटकघटनटाङ्कार वाचालितालिन्दकम्—'हर्षचरित', पृष्ठ २०१

[10]चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गललेख्यं।

[11]लेप्यकारकदम्बकक्रियमाणमृन्मयमीनकूर्ममकरनारिकेलकदलीपूगवृक्षकम्।

में वर के पास भेजने के लिए तैयार किए गए थे। सुहागिन स्त्रियां तरह-तरह के कामों में लगी हुई थीं और सुंदर मांगलिक गानों से जिन में दूल्हा और दुलहिन के नामों का ज़िक्र था, कानों को तृप्त कर देती थीं[1]। उन्हों ने लता और पत्तियों के चित्र बना कर प्यालों तथा मिट्टी से सफ़ेद किए गए कच्चे घड़ों को अलंकृत कर दिया था[2]। विवाह के लिए बारात के साथ वर एक हाथी पर सवार हो कर स्वयं कन्या के मकान पर आता था।

विवाह समुचित लग्न पर होता था, जिस का व्यतीत हो जाना विपत्तिजनक समझा जाता था। कन्या विवाहोत्सव के उपयुक्त एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती थी। विवाह अग्नि के सामने वेदी पर ब्राह्मणों को साक्षी मान कर किया जाता था। उपाध्यायों द्वारा प्रज्वलित अग्नि में हवन किया जाता था, जिस के उपरांत वर अग्नि की प्रदक्षिणा करता था। लाजों की अंजलि अग्नि में अर्पण की जाती थी। विवाह हो जाने पर वर अपनी वधू के साथ श्वसुर को प्रणाम करता था और फिर अपनी बधू के साथ अपने विवाहित जीवन की प्रथम रात्रि आवास-गृह में व्यतीत करता था। बाण लिखता है कि ग्रहवर्मा का विवाह हो जाने पर वह अपनी वधू के साथ वास-गृह में चला गया, जिस के द्वार पर रति और प्रीति की मूर्त्तियां चित्रित थीं[3]। कमरे के भीतर मंगल-प्रदीप जल रहे थे; उस में एक ओर पुष्पित रक्ताशोक चित्रित था, जिस के तले शर-संधान करता हुआ कामदेव खड़ा था[4]।

अंत्येष्टि क्रिया भी बहुत कौतूहल-जनक थी। प्रभाकरवर्द्धन के शव को एक अर्थी पर रख कर सामंत तथा नगर के लोग अपने कंधों पर सरस्वती नदी के तट पर ले गए थे[5]। उन के आगे-आगे कुल-पुरोहित था। वहां सम्राट् के उपयुक्त एक चिता पर रख कर वह शव जलाया गया। हर्ष ने प्रातःकाल उठ कर स्नान किया, अपने मृत पिता को जल दिया और रेशम के दो सफ़ेद वस्त्र धारण किए। उन्हों ने शुद्धाचार के कुछ नियमों का पालन किया। उदाहरणार्थ उन्हों ने पान खाना छोड़ दिया। तब उस ब्राह्मण को, जो

---

[1]वधूवरगोत्रग्रहणगर्भाणि श्रुतिसुभगानि मङ्गलानि गायन्तीभिः—'हर्षचरित', पृ० २०२

[2]चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः कलशांश्च धवलितान् शीतलशाराजिरश्रेणीश्च मण्डयन्तीभिः—'हर्षचरित', पृ० २०२,

[3]प्रविवेशच द्वारपक्षकलिखितरतिप्रीतिदैवतम् ·········वासगृहम् —'हर्षचरित' पृष्ठ २०८

[4]एकदेशलिखितस्तवकितरक्ताशोकतरुतलभाजाधिज्यचापेन तिर्यक्कूणितनेत्रत्रिभागेन शरमृजूकुर्वत। कामदेवेनाधिष्ठितम्—'हर्षचरित', पृष्ठ २०८

[5]नरेंद्रः स्वयं समर्पितस्कंधैः गृहीत्वा शवशिविकां शिविसमः सामंतैः पौरै पुरोहित पुरस्सरैः नीत्वा सरितं सरस्वतीं नरपति समुचितायां चितायां हुताशसत्क्रियया यशःशेषतामनीयत—'हर्षचरित', पृष्ठ २३१

मृत आत्मा को दिया हुआ पिंड खाता था, भोजन कराया गया। फिर कुछ दिन अशौच मनाया गया। राजा का आसन, चामर, आतपत्र (छाता) पात्र तथा शस्त्र आदि ब्राह्मणों को दे दिए गए। फूल को तीर्थस्थान पहुँचाया गया और चिता के स्थान की स्मृति बनाए रखने के लिए ईंटों का एक स्मारक खड़ा किया गया[1]।

ह्वेनसांग हमें बतलाता है कि मृतक की अंतिम क्रिया तीन प्रकार से की जाती थी—या तो उसे श्मशान घाट पर ले जा कर जला देते थे या जलमग्न कर देते थे अथवा जंगल में ले जा कर खुला छोड़ आते थे। जब तक अशौच का समय समाप्त नहीं हो जाता था, तब तक कोई मृत व्यक्ति के परिवार के साथ भोजन नहीं करता था। शव के साथ जानेवाले स्नान किए बिना शुद्ध नहीं हो सकते थे[2]।

आत्महत्या की प्रथा अनेक रूपों में प्रचलित थी। प्रभाकरवर्द्धन के कुछ मित्र तथा उन के मंत्री और नौकर उन की मृत्यु के कुछ पहले या बाद जल कर मर गए अथवा भूखों मर गए[3]। ह्वेनसांग कहता है कि वृद्ध पुरुषों को एक नाव में बैठा कर गंगा के बीच में पहुँचाया जाता था और वहां उन्हें डुबो दिया जाता था। यह धर्म का एक बड़ा भारी काम समझा जाता था[4]।

उन दिनों लोग अनेक प्रकार के व्रत करते और उत्सव मनाते थे। 'प्रियदर्शिका' में हम वासवदत्ता को व्रत करते तथा स्वस्ति-वाचन के लिए विदूषक को बुलाते हुए पाते हैं। स्त्रियां संतान के जन्म के समय, विवाह के समय तथा अन्य विविध अवसरों पर नाना प्रकार के मांगलिक अनुष्ठान करतीं थीं।

मनोरंजन के साधन

तत्कालीन कुलीन-समाज, जीवन का आनंद उठाना जानता था। चैत मास की पूर्णिमा को वसंतोत्सव मनाया जाता था, जो आजकल के हिंदुओं के होली त्योहार से मिलता-जुलता था। 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' नामक नाटकों में इस उत्सव का उल्लेख मिलता है। 'नागानंद' नाटक में इंद्र के उत्सव का उल्लेख है। इन उत्सवों के अवसर पर रंगमंच पर नाटक खेले जाते थे और बड़ा आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। हमें रंगशाला (प्रेक्षागृह) संगीतशाला (गंधर्वशाला) तथा चित्रशाला का उल्लेख नाटकों में बार-बार मिलता है।

हमें कुछ ऐसे खेल भी मालूम हैं जिन में लोग दिलचस्पी लेते थे। शतरंज तथा

---

[1] देखिए—'हर्षचरित', पृष्ठ २३६-२४१

[2] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७४-१७५

[3] देखिए—केचिदनशनै व्यथमानमानसाः शुचमसमामशमयन् केचिच्छलभा इव वैश्वान्वरं शोकावेगविवशाः विविशुः—'हर्षचरित', पृष्ठ २३८

[4] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७५

पासे के खेल लोक-प्रिय थे और उन का अनेक बार उल्लेख किया गया है[1]। राजाओं के पुत्र शारीरिक व्यायाम में निपुण होते थे[2]। उस समय के कुछ लोकप्रिय आमोद-प्रमोद प्रायः वे ही थे जो आजकल प्रचलित हैं। गाँवों में बहुधा जादूगर (इंद्रजालिक) अपना खेल दिखाते थे। चकोराक्ष नामक एक जादूगर बाण का मित्र था। बाज़ार की सड़कों पर जहां बड़ी भीड़ लगती थी यमपट्टिक एक चित्र के द्वारा जिसे यम-पट कहते थे, लोगों को परलोक का हाल बतलाते थे। इस यमपट में अन्य वस्तुओं (दृश्यों) के साथ यमराज को भैंसे पर आरूढ़ दिखाया जाता था[3]। गाँवों में मदारी, नट तथा शैलालि (अभिनेता) इत्यादि दिखाई पड़ते थे।

स्त्रियों की स्थिति

कुलीन समाज की महिलाएं खूब शिक्षिता होती थीं[4] और उन को बड़ी सावधानी के साथ शिक्षा दी जाती थी। बाण लिखता है कि राज्यश्री कुशल स्त्रियों तथा सखियों के साथ रह कर नृत्य, गीतादिक तथा नाना प्रकार की कलाओं में दिन-प्रति-दिन प्रवीण होती गई। वह बौद्धदर्शन में पारंगत थी और वह इतनी भारी पंडिता थी कि 'हीनयान' पर ह्वेनसांग के व्याख्यानों को भली-भाँति समझ लेती थी। हर्ष के नाटकों को देखने से हमें ज्ञात होता है कि स्त्रियां नाचने, गाने और बजाने में कुशल होती थीं। वे चित्रकारी में भी प्रवीण होती थीं।

बाल-विवाह का प्रचार था। राज्यश्री विवाह के समय लगभग ११ वर्ष की बालिका रही होगी। 'हर्षचरित' के वर्णनों को पढ़ कर यह ख़्याल होता है कि राजघराने की स्त्रियां संगिनी नहीं किंतु उपभोग की वस्तु थीं। यद्यपि पटरानी (महिषी) के साथ राजा आदर का व्यवहार करते थे; किंतु मालूम होता है कि रनिवास की अन्य स्त्रियां केवल चुंबन तथा आलिंगन के लिए ही थीं। हां, माता के साथ बड़े प्रेम और श्रद्धा का व्यवहार किया जाता था। अपनी पूजनीया माता के जीते जी चिता पर जल मरने के संकल्प से हर्ष के महान् शोक का जो मर्मस्पर्शी चित्र बाणभट्ट ने खींचा है, उस से यह प्रमाणित होता है कि उन के हृदय में अपनी जननी के प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम तथा सम्मान का भाव था। वास्तव में भारत में स्त्रीत्व का पूर्ण विकास मातृत्व में होता था। यशोमती

[1] देखिए यह पद—शार्यक्षेषु शून्यगृहा (शारी=सोंगटी, अक्ष=पाश)—'कादंबरी', पृष्ठ १३

[2] इस संबंध में 'कादंबरी' में चंद्रापीड़ की शिक्षा का जो वर्णन है, उसे देखिए।—'कादंबरी', पृष्ठ १२६

[3] 'हर्षचरित', पृष्ठ २१५

[4] अथ राज्यश्रीरपि नृत्तगीतादिषु विदग्धासु सखीषु सकलासु च कलासु प्रतिदिनमुपचीयमानपरिचया।

सदृश माता जो 'वीरजा', 'वीरजाया' और वीरजननी' थीं, किसी भी समाज के लिए शोभा एवं गौरव की वस्तु हो सकती हैं। वे तमाम हिंदू-नारियों की भाँति बड़ी ही पतिपरायणा थीं और साथ ही अपनी प्रजा के लिए एक माता के समान थीं। उन में दूसरों के चरित्रों को जानने की अद्भुत शक्ति थी[1]। वे अपने सिद्धांतों की पक्की थीं और स्त्रीत्व की पवित्रता की साक्षात् अवतार थीं[2]। उन को सभी मानते और पूजते थे।

उन दिनों की स्त्रियां वैधव्य को अपने अभाग्य की पराकाष्ठा समझती थीं। यशोमती अपने पति की मृत्यु-शय्या पर देख हर्ष से कहती है "इस समय मेरा जीना ही मरने से अधिक साहस का काम[3] है।" मालूम होता है कि पर्दे की प्रथा—कम से कम, समाज की उच्च-श्रेणी की महिलाओं में प्रचलित थी। राजाओं के अंतःपुर में कंचुकी, प्रतिहारी और पराङ्गों को छोड़ कर और किसी को भी प्रवेशाधिकार नहीं था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारत का तत्कालीन सामाजिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि आजकल है। अंतर केवल यह था कि उस पर विदेशियों के दीर्घ शासन का प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। भारत के विभिन्न भागों के लोगों की विशेषताएं जो वर्तमान समय में दिखाई पड़ती हैं वे उस काल में भी थीं। विभिन्न प्रांतों के लोगों के चरित्र के विषय में ह्वेनसांग ने जो कुछ लिखा है वह बड़ा मनोरंजक है। काश्मीर के लोग धोखेबाज़ तथा कायर होते थे[4]। मथुरा के लोग विद्वत्ता एवं नैतिक आचरण का सम्मान करते थे[5]। थानेश्वर के लोगों को अभिचार-क्रिया से बहुत प्रेम था[6] और (बाण के कथनानुसार) वे बहुत सरल स्वभाव के थे। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के निवासियों का रूप परिष्कृत होता था और वे रेशम के चमकीले कपड़े पहनते थे। वे विद्या और कला के व्यसनी थे। उन की बात स्पष्ट तथा अर्थपूर्ण होती थी[7]। मालवा के लोग बहुत बुद्धिमान और नम्र स्वभाव के होते थे और मगध के लोगों की भाँति विद्वत्ता का आदर करते थे[8]। बाण भी 'कादंबरी' में इस बात का समर्थन करता है[9]। पुंड्रवर्द्धन के निवासी विद्वानों का सम्मान करते[10] थे। कामरूप के लोग यद्यपि ईमानदार थे; किंतु उन का स्वभाव उग्र था। वे बड़े अध्यवसायी और विद्याप्रेमी थे[11]। उड़ीसा,[12] आंध्रदेश[13] तथा

---

[1]समुद्रमयीव परचित्तज्ञानेषु स्मृतिमयीव पुरायवृत्तिषु—'हर्षचरित', पृष्ठ १७७

[2]प्रायश्चित्तशुद्धिरिव स्त्रीत्वस्य—'हर्षचरित', पृष्ठ १७७

[3]मरणाच्च मे जीवितमेवास्मिन् समये साहसम्—'हर्षचरित', पृष्ठ २३१

[4]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २६१ [5]वही, पृष्ठ ३०१

[6]वही, पृष्ठ ३१४ [7]वही, पृष्ठ ३४०

[8]वही, २, पृष्ठ २४२

[9]देखिए, "उज्जयिनी वर्णनम्"—बाण-कृत 'कादंबरी,' पृष्ठ ८७

[10]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ, १८४ [11]वही, पृष्ठ १८६

[12]वही, पृष्ठ १९३ [13]वही, पृष्ठ २०९

धनकटक[1] के लोग भी उग्र स्वभाव के होते थे। चोलदेश[2] के लोग बड़े भयंकर और लुच्चे थे। द्रविड़[3] के लोग साहसी, पूर्णरूप से विश्वसनीय, सार्वजनिक हित के भाव से प्रेरित तथा विद्या के प्रेमी थे। महाराष्ट्र[4] के लोग अभिमानी, युद्ध-प्रेमी, कृतज्ञ, बदला लेनेवाले तथा कष्टपीड़ितों के लिए आत्मत्याग करनेवाले थे। जो कोई उन का अपमान करता था, उस के ख़ून के प्यासे हो जाते थे और उस के लिए अपनी मौत से भी नहीं डरते थे।

मालूम होता है कि लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। बाण ने उज्जयिनी तथा ह्वेनसांग ने कान्यकुब्ज के जो वर्णन किए हैं उन से पता चलता है कि लोग समृद्धिशाली थे। ह्वेनसांग कन्नौज के समृद्धिशाली वर्गों तथा संपत्तिशाली कुलों की संख्या का उल्लेख करता है[5]। वहां के लोग चमकदार रेशम के कपड़े पहनते थे। ऊँची-ऊँची इमारतें, सुंदर उद्यान तथा निर्मल जल के सरोवर थे। बाण का कथन है कि उज्जयिनी के निवासी कोट्याधीश (कोटिसार) थे[6]। उस के बड़े-बड़े बाज़ारों में शंख, शुक्ति, मोती, मूँगे, मरकत और हीरा बिकने के लिए सजाए रहते थे[7]। उस के उत्तुंग सौध, महाभवन तथा प्रासादों का उल्लेख मिलता है जिन के ऊपर रेशम के झंडे फहराते थे। उस के हरे-भरे कुंज, चित्रशाला, अंतहीन उत्सव, आनंद-वाटिका (गृहाराम) और उस के पार्क जो केतकी के पराग से श्वेत हो रहे थे—यह सभी उस के निवासियों की समृद्धि को प्रकट करते हैं।

ह्वेनसांग ने उन अनेक देशों का—जिन में वह गया था—जो वर्णन किया है उस से हमारी यही धारणा होती है कि लोगों की आर्थिक अवस्था उन्नत थी। भारत में अनेक प्रकार की फ़स्लें और फल उत्पन्न होते थे। लोगों का प्रधान व्यवसाय खेती करना था; किंतु उन की महान संपत्ति का एक कारण व्यापार भी था। थानेश्वर देश की संपत्ति-

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २१४ [2] वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ २२४

[3] वही, पृष्ठ २२६ [4] वही, पृष्ठ २३९

[5] वही, जिल्द, १, पृष्ठ ३४०

[6] 'कोटिसारेण'......'अधिष्ठिताः'......'उज्जयिनी नाम नगरी'—'कादंबरी', पृष्ठ ८९

[7] प्रकटशंखशुक्तिमुक्ताप्रवालमरकतमणिराशिभिश्चामीकरचूर्णबालुकानिकरनिचितैरायामिभिरगस्त्यपरिपीतसलिलैस्सागरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता—'कादंबरी', पृष्ठ ८४; अर्थात् (उज्जयिनी) बड़े-बड़े बाज़ारों से सुशोभित थी। दूर-दूर तक विस्तृत ये बाज़ार देखने में उन समुद्रों के समान थे जिन का सब जल अगस्त्य ने पी लिया हो। बाज़ार का स्वर्ण-चूर्ण समुद्र की बालू का-सा प्रतीत होता था। शंख, घोंघा, मोती, मूँगा तथा नीलम के ढेर खुले हुए रक्खे थे। उज्जयिनी का संपूर्ण वर्णन (पृष्ठ ८४-९१) रोचकता से परिपूर्ण है और नगर-निवासियों की संपत्तिशालिता का यथेष्ट प्रमाण है।

शालिता का प्रधान कारण उस का व्यापार ही था[1]। वहां के अधिकांश लोग व्यापार में लगे थे। मथुरा देश में एक प्रकार का सुंदर, बारीक और धारीदार सूती कपड़ा बनता था। यह देश बड़ा ही उपजाऊ था और कृषि ही लोगों का मुख्य रोज़गार था[2]। बनारस के लोगों के पास अपार संपत्ति थी[3]। उन के घरों में बहुमूल्य पदार्थ भरे पड़े थे। कर्ण-सुवर्ण के लोग बहुत मालदार थे[4]। पुंड्रवर्द्धन देश में अनाज की पैदावार बहुत अधिक होती थी और वहां के लोग समृद्धिशाली थे[5]। ताम्र-लिप्ति के निवासी समृद्ध थे और नगर में अलभ्य बहुमूल्य पदार्थ संग्रहीत थे[6]। चीनी यात्री ने पश्चिमी भारत के देशों का भी इसी प्रकार वर्णन किया है। बलभी के लोग बड़े धनी और उन्नतिशील थे[7]। आनंदपुर के लोग संपन्न थे[8]। सु ला-चा[9], कु-चे-लो[10] तथा उज्जयिनी[11] के लोग भी मालदार और उन्नतिशील थे। सिंधु-देश में सोना और चाँदी निकलती थी[12]। द्रविड़ देश में बहुमूल्य पदार्थ पैदा होते थे[13]। मलकूट देश समुद्री मोतियों का भंडार था[14]। ह्वेनसांग के कथनानुसार "सोना, चाँदी, रुक्कुट, सफ़ेद जस्ता और स्फटिक देश की ऐसी वस्तुएं थीं जो बहुत प्रचुरता के साथ उत्पन्न होती थीं। बंदरगाहों से प्राप्त अनेक प्रकार के अलभ्य बहुमूल्य वस्तुओं का विनियम क्रय-विक्रय के अन्य पदार्थों के साथ होता था। देश के व्यापार में सोने और चाँदी के सिक्के, कौड़ियां तथा छोटे मोती विनिमय के माध्यम थे[15]।" विनिमय के माध्यम के रूप में कौड़ियों का प्रयुक्त होना यह प्रकट करता है कि उस समय चीज़ें बहुत सस्ती थीं।

श्री आर० बर्न सी० एस० आई०, आई० सी० एस० ने कतिपय चाँदी के सिक्कों को जिस पर शलदत=शीलादित्य की उपाधि अंकित है, हर्ष का बतलाया है[16]। यह सिक्के उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार कि गुप्त राजाओं के सिक्के। उन के एक तरफ़ तो एक बड़ा सिर बना हुआ है और दूसरी तरफ़ मोर बना है। साथ ही यह वाक्य भी अंकित है—'विजितावनिर वनिपतिः श्री शीलादित्य दिवम् जयति'। एक दूसरे सिक्के पर जो कि सोने का है, मुख पृष्ठ पर एक अश्वारोही की मूर्ति बनी हुई है और 'हर्षदेव' यह नाम अंकित है। दूसरी ओर एक देवी की मूर्ति है, जो सिंहासन पर बैठी है। इस सिक्के को हार्नले ने निश्चयात्मक रूप से हर्ष का बतलाया है।[17]

---

[1]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३१४ [2]वही, जिल्द २, पृष्ठ ३१०
[3]वही, जिल्द २, पृष्ठ ४७ [4]वही, पृष्ठ १९१
[5]वही, पृष्ठ १८४ [6]वही, पृष्ठ १९०
[7]वही, पृष्ठ २४६ [8]वही, पृष्ठ २४७
[9], [10]और [11]वही, पृष्ठ २४८, २४९, २५० [12]वही, पृष्ठ २५२
[13]वही, पृष्ठ २२६ [14]वही, पृष्ठ २२८
[15]वही, जिल्द १, पृष्ठ १७८
[16]'जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९०६, पृष्ठ ८४३
[17]वही, १९०३ पृष्ठ ५४७। इस विषय पर मुकर्जी 'हर्ष', पृष्ठ ११६-११८ भी द्रष्टव्य है।

बाण के वर्णनों से भी प्रकट होता है कि देश में सोने और मोतियों की अत्यधिक प्रचुरता थी। बुद्ध तथा अन्य देवताओं की स्वर्णमूर्तियां देश में सैकड़ों की संख्या में वर्तमान थीं। राजा लोग अपने शरीर पर इतने आभूषण धारण करते थे, जिन का मूल्य किसी विजित देश को छुड़ाने के लिए पर्याप्त हो सकता था। कामरूप के नरेश ने महाराज हर्ष के पास जो उपहार भेजा था, उस की तालिका पर दृष्टिपात कर हम उस राजा की धन-संपत्ति का कुछ अनुमान लगा सकते हैं[1]। वस्तुतः भारत एक ऐसा देश था, जहां मधु तथा दूध की धारा बहती थी।

देश की इस अतुल संपत्ति का आंशिक कारण निस्संदेह विदेशों के साथ उस का व्यापार था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। चीन तथा पूर्वी द्वीपसमूह के साथ उस का बहुत व्यापार होता था। चीन जाने के लिए जल तथा स्थल दोनों से हो कर मार्ग जाते थे। स्थल-मार्ग मध्य-एशिया से (पेशावर, काबुल, कुंदुज़, समरकंद, ताशकंद, इसिककुल, कुचा और तुर्फ़ान होते हुए) हो कर जाता था। जल-मार्ग उन विभिन्न बंदरगाहों से हो कर जाता था, जो गुजरात, मालाबार, ताम्रपर्णी (लंका), चोलदेश, द्रविड़ देश, आंध्र, कलिंग तथा समतट के तटों पर स्थित थे। सब से अधिक चालू रास्ता वह था जो (बंगाल में स्थित) ताम्रलिप्ति से बंगाल की खाड़ी में हो कर जाता था और सुमात्रा द्वीप के क-चा नामक बंदरगाह को स्पर्श करता था। वहां से वह सुमात्रा के उत्तरी समुद्रतट से होता हुआ मलय उपद्वीप के बंदरगाह को स्पर्श करता तथा जल-डमरूमध्य को पार करता हुआ सुमात्रा की राजधानी 'श्रीभोग' पहुँचता था। इस स्थान से यह मार्ग चीन की खाड़ी के ठीक बीच से होता हुआ और कंबोडिया प्रायद्वीप के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ अंत में चीन के बंदरगाह कांग-फू (आधुनिक कुंग-तुंग) पहुँचता था। चीनी-यात्री इत्सिंग ने इसी मार्ग का अवलंबन किया था।

डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी हमारे सामने तत्कालीन व्यापारिक तथा औपनिवेशिक प्रगति का एक सुंदर चित्र उपस्थित करते हैं। महाराज हर्ष के शासन-काल में, चीन के उक्त जल-मार्ग से लोग बिल्कुल परिचित थे। उन के सिंहासनारोहण के तनिक पूर्व (६०३ ई०), भारत के समुद्र-तट से पाँच हज़ार भारतवासी यवद्वीप (जावा) को गए थे। हूणों के आक्रमणों के पश्चात् देश में अशांतिपूर्ण वातावरण होने के कारण इस प्रकार भारतवासियों के अनेक दल बाहर चले गए थे। हूणों के आक्रमणों से भारत के विदेशी व्यापार तथा उस के उपनिवेश-स्थापना के कार्य को प्रोत्साहन मिला।

हमें यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि जिस समय श्रीहर्ष अपने संपूर्ण गौरव

---

[1] इन उपहारों में वरुण देवता से प्राप्त एक अद्भुत छत्र, जिस की सींकें जवाहरात से जड़ी हुई थीं, बहुमूल्य अलंकार, सीप, शंख इत्यादि के बने हुए तरह-तरह के पान-पात्र, 'कार्दरंग' देश की चमड़े की बनी हुई चीजें जिन में सुंदर सोने की पत्तियां जड़ी हुई थीं, भोजपत्र के समान कोमल 'जघन-पट्टिका', अर्थात् धोती, समूरक (एक प्रकार का हरिण) चर्म की तकिया, इत्यादि-इत्यादि सम्मिलित थे।—'हर्षचरित', पृष्ठ २१०-२१२

के साथ भारत में शासन कर रहे थे उस समय उस की सीमा के बाहर अनेक विदेशी राज्यों में भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा भारतीय धर्म—ब्राह्मणधर्म अथवा बौद्धधर्म—निरंतर शताब्दियों तक दृढ़तापूर्वक स्थापित थे। पूर्वी द्वीपसमूह तथा दूरस्थ भारत के देश भारतीय संस्कृति के बाहरी केंद्र थे। वहां बहुत समय से भारतीय नामधारी राजा शासन करते आए थे। वे देश भारत के उपनिवेश थे, जो विभिन्न समयों में स्थापित किए गए थे। उन की स्थापना का प्रारंभ स्थूलरूप से प्रथम शताब्दी से हुआ था। वे सब मिल कर 'वृहत्तर भारत' कहलाए। डा० मुकर्जी के कथनानुसार हर्ष के समय में भारतीय संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई[1]। जिस समय ह्वेनसांग समतट में था उस समय उसे समतट के आगे स्थित ऐसे ६ देशों की खबर मिली, जो भारतीय संस्कृति और प्रभाव के केंद्र थे। उन के नाम यह थे—(१) श्रीक्षेत्र (वर्तमान प्रोम का ज़िला) (२) कामलंका (पेगू और इरावदी का डेल्टा), (३) तो-लो-पो-ती (द्वारावती जो श्याम की प्राचीन राजधानी अयुधिया का संस्कृति नाम था) (४) ई-शैंग-ना-पु-लो (ईशानपुर, आजकल का कंबोडिया प्रदेश जिसे इत्सिंग ने फु-नान लिखा है); (५) मो-हा-चन-पो (महाचंपा, आधुनिक कोचिन-चीन और अनाम का कुछ भाग) तथा (६) येन-मो-न-चु (यमन, द्वीप, इस की स्थिति अथवा आधुनिक नाम का पता नहीं है)[2]। इन सब देशों का उल्लेख इत्सिंग ने भी किया है। इन के अतिरिक्त श्रीविजय (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा, जिसे इत्सिंग ने कलिंग लिखा है) तथा वलि आदि द्वीप भी थे।

सातवीं शताब्दी में शैलेंद्र-वंश के राजाओं ने सुमात्रा पर शासन किया। चीनी-यात्री इत्सिंग, जो ६९० ई० में उस देश में गया था, लिखता है कि मलय अर्थात् मलाया प्रायद्वीप उस समय सुमात्रा के अधीन हो गया था। उस ने वहां संस्कृत व्याकरण, बौद्ध-धर्म के ग्रंथों तथा उन की टीकाओं का अध्ययन किया। भारत और चीन के मध्य में स्थित सुमात्रा का पेलंबंग नामक बंदरगाह बहुत प्रसिद्ध था। सातवीं शताब्दी में, मध्य जावा के अंदर भारतीय संस्कृति फैली, इस का बहुत प्रमाण मिलता है।[3]

इन द्वीपों के राजा और सरदार सभी भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रँगे हुए थे। वे बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मणधर्म के अनुयायी थे।

इत्सिंग ने भोग नगर में, जिस के चारों ओर क़िलाबंदी की गई थी, एक हज़ार श्रमणों को देखा। वे भारत के मध्यदेश में प्रचलित सभी विषयों का अध्ययन करते थे। इत्सिंग ने सोचा कि मेरे जैसे चीनी यात्री के लिए यह उचित होगा कि भारत जाने के पूर्व साल-दो-साल उस नगर में रह कर अध्ययन करे[4]। भारत का प्रभाव दूरस्थ भारत

---

[1]देखिए, डा० मुकर्जी का 'हर्ष', पृष्ठ १७८-१८२

[2]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १८७-८८

[3]कुमारस्वामी—'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ १९८-१९९

[4]इत्सिंग 'ए रेकर्ड आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलीजन-तककुसू', प्रस्तावना पृष्ठ ३४

तथा इंडोनेशिया तक ही सीमित नहीं था। चीन से भारत को आते और यहां से वापस जाते समय ह्वेनसांग ने मार्ग में बौद्धधर्म को अनेक देशों में उन्नति करते हुए देखा। कुछ देश तो भारत से बहुत दूर थे; जैसे, यन-की (खराशहर), कु-चिह (जिसे नक़्शे में कोचा दिखाया जाता है) तथा चीन की सीमा पर स्थित पोलका। तेरमिर, कुंदुज़, बलख़, गज़, बैमियां तथा कपिशा सभी बौद्धधर्म के बड़े-बड़े केंद्र थे। ह्वेनसांग ने इन दूरस्थ प्रदेशों में धर्म-संघ तथा प्रज्ञाकर जैसे प्रकांड भारतीय विद्वानों से परिचय प्राप्त किया था। भारत से वापस जाते समय उस ने दक्षिणी मार्ग का अनुसरण किया और ग़ज़नी, क़ाबुल, अंदरब, खोस्त, बदख्शां, कुरन, बाख़ान, तशखुरगन (पामीर की घाटी), ओश, खशगढ़ तथा खोतान इत्यादि बौद्धधर्म के बड़े-बड़े केंद्रों में होता हुआ गया। इन दूरस्थ देशों में ह्वेनसांग ने सैकड़ों मठों को—जिन में हज़ारों भिक्षु रहते थे, बहुसंख्यक विद्वानों को जो शास्त्रों में पारंगत थे, तथा भारत में उस समय प्रचलित बौद्धधर्म की सभी संस्थाओं को देखा। भारत की संस्कृति का साम्राज्य वास्तव में बहुत विस्तृत था। उस के योग्य पुत्रों ने उस की सभ्यता का प्रकाश दूर-दूर के देशों में पहुँचाया था। किंतु अब वह प्रकाश मंद पड़ने लगा था। स्मार्तों का नया दल देश पर अपना प्रभाव जमा रहा था। समुद्र-यात्रा तुरंत ही निषिद्ध की जानेवाली थी। विदेश को जाना बुरा समझा जानेवाला था। धीरे-धीरे, किंतु अबाध गति से धर्म-प्रचारकों के देश भारत का, बाहर के प्रदेशों से पृथक्करण प्रारंभ होने वाला था। वह दीपक जो शताब्दियों तक इतने स्थिर प्रकाश के साथ जलता रहा, अब बुझने को था और सारा देश संकीर्णता, धर्मांधता तथा अंधविश्वास के—जिन के कारण भारत विदेशी आक्रमणों का शिकार हुआ—अंधकार में निमग्न होने वाला था।

द्वादश अध्याय

धार्मिक अवस्था

समग्र उपलब्ध पाठ—सामग्री का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात्, हर्षकालीन धार्मिक अवस्था के संबंध में हमारे मन में कोई बहुत अच्छी धारणा नहीं उत्पन्न होती। पहली बात तो यह है कि देश में विभिन्न प्रकार के धर्म तथा संप्रदाय प्रचलित थे। दूसरे धर्म का जो वास्तविक भाव था वह कर्मकांडों के नीचे दब गया था। तीसरी बात यह है कि इस काल में, ईश्वर में सरल विश्वास रखने की अपेक्षा, दार्शनिक सिद्धांतों की सूक्ष्म विशेषताओं को अधिक महत्व दिया जाता था। इस के अतिरिक्त, देश में अंधविश्वास की अभिवृद्धि हो रही थी और असहिष्णुता का भाव फैल रहा था। जो लोग हिंदू तथा बौद्ध-धर्म के अनुयायी माने जाते थे उन में ऐसे-ऐसे रिवाज प्रचलित थे जो सदाचार अथवा नैतिक आचरण के सर्वथा विरुद्ध थे। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय लोगों की धार्मिक अवस्था का अधःपतन प्रारंभ हो गया था। सारा देश एक धार्मिक क्रांति की ओर बड़े वेग के साथ अग्रसर हो रहा था और ऐसे लक्षण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते थे जिन से यह प्रकट होता था कि भारत में प्रचलित धार्मिक पद्धतियों के कायापलट की आवश्यकता शीघ्र होगी।

महाकवि बाण तथा चीनी यात्री के संयुक्त प्रमाण से इस विषय में तनिक भी संदेह शेष नहीं रह जाता कि धर्मों तथा संप्रदायों की विभिन्नता बहुत अधिक बढ़ गई थी। बाण 'हर्षचरित', तथा 'कादंबरी' दोनों ग्रंथों में अनेक स्थलों पर देश के विभिन्न संप्रदायों का उल्लेख करता है। बौद्ध-मुनि दिवाकर मित्र के आश्रम में आर्हत (जैनी), मस्करी (परिव्राजक), श्वेतपट (श्वेतांबर जैन), पांडुभिक्षु (श्वेतवस्त्रधारी भिक्षु), भागवत (विष्णु के भक्त), वर्णी (ब्रह्मचारी), केशलुंचक (जो अपने बाल उखाड़ कर

फेंकते थे) कापिल (सांख्य को माननेवाले), लोकायतिक (चार्वाक) जैन (बौद्ध), काणाद (वैशेषिक दर्शन के माननेवाले), औपनिषदिक (वेदांतवादी), ऐश्वरकारणिक (नैयायिक), करंधम (धातुवादी), धर्मशास्त्री (स्मार्त), पौराणिक, साप्ततंतव[1] शैव, शाब्दिक (वैयाकरण), तथा पांचरात्रिक (वैष्णव-संप्रदाय विशेष) एकत्रित थे। इन विभिन्न संप्रदायों के लोग बौद्ध मुनि के आश्रम में विद्याध्ययन करते थे। वे शंकाएं उठाते, उन का समाधान करते, वाद-विवाद करते तथा व्याख्या करते थे। उपरोक्त दलों में से कुछ तो वास्तव में धार्मिक संप्रदाय नहीं, अपितु दर्शनशास्त्र के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि थे और शेष जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण संन्यासियों के विभिन्न वर्ग थे। इस के अतिरिक्त जिस समय महाराज हर्ष अजिरावती नदी के तट पर मणितारा में पड़ाव डाल रहे थे उस समय जैन आर्हत, पाशुपति, पाराशर दल के भिक्षु तथा ब्राह्मण विद्यार्थी उन का दर्शन करने की प्रतीक्षा कर रहे थे[2]। पाराशरी संन्यासी सुमति, जैन संन्यासी वीरदेव तथा मस्करी ताम्रचूलक बाण के मित्रों में से थे[3]। 'कादंबरी' में महाश्वेता के आश्रम पर आर्हत, कृष्ण, विश्रवस, अवलोकितेश्वर तथा विरिंचि की अनुयायिनी भिक्षुणियों के उपस्थित रहने का उल्लेख मिलता है[4]। उज्जयिनी के राजा तारापीड़ के मंत्री शुकनास के आँगन में हम शैव, शाक्यमुनि के अनुयायी तथा क्षपणक (दिगंबर जैन) को उपस्थित पाते हैं[5]। चीनी यात्री ह्वेनसांग भी भारत के बहुसंख्यक मतों एवं संप्रदायों का उल्लेख करता है। वह लिखता है—"कुछ (लोग) तो मोरपुच्छ धारण करते हैं; कुछ मुंड माल द्वारा अपने को अलंकृत करते हैं; कुछ बिल्कुल नग्न रहते हैं; कुछ अपने शरीर को घास तथा तख्तों से ढकते हैं; कुछ अपने बालों को उखाड़ते और मूछों को कटवाते हैं; कुछ सिर के पार्श्व के बालों से जटा बना लेते हैं और सिर पर घुमावदार चोटी रखते हैं[6]।" 'जीवनी' में विभिन्न संप्रदायों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—"भूत, निर्ग्रंथ, कापालिक तथा चूंडिक (जटाधारी संन्यासी) सभी विभिन्न रूप से रहते हैं। सांख्य तथा वैशेषिक के अनुयायियों में पारस्परिक विरोध है। भूत अपने शरीर को राख से आच्छादित रखते हैं, ... निर्ग्रंथ नग्न रहते हैं.........कापालिक संप्रदाय के लोग अपने सिर तथा गले में हड्डियों की माला धारण करते हैं तथा पहाड़ों की गुफाओं और खोहों में निवास करते हैं। चूडिंक गंदे कपड़े पहनते और बिल्कुल सड़ा हुआ भोजन करते हैं[7]।

---

[1] 'हर्षचरित', पृष्ठ २१६

[2] जैनैरार्हतैः पाशुपतैः पाराशरिभिर्वर्णिभिः.........आदि—'हर्षचरित', पृष्ठ ६७

[3] पाराशरी सुमतिः क्षपणको वीरदेवः......मस्करी ताम्रचूलकः—'हर्षचरित', पृ० ६७

[4] भगवतस्त्र्यम्बकस्याम्बिकायाः कार्तिकेयस्य विश्रवसो जिनस्यार्यावलोकितेश्वरस्यार्हतो विरिंचस्य पुण्याःस्तुतीरूपास्यमानाम्... महाश्वेताम्—'कादंबरी', पृष्ठ २१४

[5] 'कादंबरी'—रिडिंग-कृत अनुवाद, पृष्ठ २१७

[6] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १४८

[7] जीवनी, पृष्ठ १६१-१६२

उपरोक्त उदाहरणों तथा उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष के शासन-काल में, भारत के अंदर विभिन्न धार्मिक संप्रदाय, दार्शनिक दल तथा संन्यासी वर्ग थे। ज्ञात होता है कि हिंदू-धर्म के अंतर्गत जितने संप्रदाय थे, उन में शैव संप्रदाय सब से अधिक प्रबल था। थानेश्वर नगर में भगवान खंडपरशु (शिव) की पूजा घर-घर होती थी[1]। हम पीछे लिख चुके हैं कि बौद्धधर्म में दीक्षित होने के पूर्व हर्ष शिव के भक्त थे। बाण ने, हर्ष से भेंट करने के लिए अपने घर से प्रस्थान करने के पूर्व देवों के देव महादेव की मूर्ति की पूजा की थी। उस ने सर्वप्रथम मूर्ति को दूध से स्नान कराया और फिर बड़ी भक्ति के साथ सुगंधित पुष्प, धूप, गंध, ध्वज, वलि, विलेपन तथा प्रदीप चढ़ाया[2]। यहां साधारणतया प्रचलित पंचोपचार के अतिरिक्त हमें ध्वज तथा विलेपन का उल्लेख मिलता है। कामरूप के राजा भास्करवर्मा ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि शिव के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के सामने मैं अपना मस्तक नहीं झुकाऊँगा[3]। शशांक की अत्याचारपूर्ण

[1] गृहे गृहे अपूज्यत भगवान खंडपरशुः—'हर्षचरित,' पृष्ठ १४१

[2] जिस पद में श्रीहर्ष से भेंट करने के लिए बाण की यात्रा की तैयारी का वर्णन है, वह बहुत ही मनोरंजक तथा उद्धृत करने योग्य है। वह पद इस प्रकार हैः—

अथान्यस्मिन्नहन्युत्थाय प्रातरेव स्नात्वा धृतधौतधवलदुकूलवासः गृहीताक्षमालः प्रास्थानिकानि सूक्तानि मंत्रपदानि च बहुशः समावर्त्य देवदेवस्य विरूपाक्षस्य क्षीरस्नापन-पुरःसरां सुरभिकुसुमधूपगंधध्वजवलिविलेपनप्रदीपबहुलां विधाय परमया भक्त्या पूजां······ भगवंतं आशुशुक्षणिं हुत्वा दत्वाधनं यथा विद्यमानं द्विजेभ्यः प्रदक्षिणीकृत्य प्राङ्मुखीं नैचिकीं ·········शुक्लांगरागः शुक्लमाल्यःशुक्लवासा·········गिरिकर्णिकाकृतकर्णपूरकः शिखासक्त-सिद्धार्थकः पितुर्कनीयस्या स्वस्रा············दत्ताशीर्वादः············गुरुभिरभिवादितैराघ्रातः शिरसि शोभने मुहूर्ते·········पूर्णकलशमीक्षमाणः प्रणम्य कुलदैवताभ्यः कुसुमफलपाणि-भिरप्रतिरथं जयद्भिर्निजद्विजैरनुगम्यमानः प्रथमचलितदक्षिणचरणः प्रीतिकूटान्निरगात्—'हर्षचरित', पृष्ठ ९१-९२

अर्थात् दूसरे दिन बिल्कुल प्रातःकाल उठ कर तथा स्नान कर उस ने श्वेत रेशम का वस्त्र धारण किया और रुद्राक्ष की माला ले कर यात्रा के लिए प्रस्थान करने के उपयुक्त सूक्तों तथा मंत्रपदों का बार-बार उच्चारण किया। फिर मूर्ति को दूध से स्नान कराके दीपक, विलेपन, वलि, ध्वजा, गंध तथा सुगंधित पुष्पों से उस ने शिव की पूजा की। फिर अग्नि को आहुति दे कर अपनी सामर्थ्य के अनुसार ब्राह्मणों को धन वितरित किया। पूर्व-दिशा की ओर मुँह कर के गाय की प्रदक्षिणा की और श्वेत अंगराग, श्वेत माला तथा श्वेत वस्त्र धारण किया। कानों को गिरिकर्णिका पुष्प से अलंकृत किया। अपनी शिखा पर सफ़ेद सरसों रक्खा। पिता की छोटी बहन ने उसे आशीर्वाद दिया। प्रणाम करने पर गुरुजनों ने उस के मस्तक को सूँघा, शुभ मुहूर्त्त में भरे हुए घड़े को देखा, कुलदेवताओं को प्रणाम किया। उस के निजी ब्राह्मण हाथ में फल-पुष्प लिए उस के पीछे हो लिए। इस प्रकार वह पहले दाहिने चरण को आगे रख कर (अपने गाँव) प्रीतिकूट के बाहर निकला।

[3] अयमस्य शैशवादारभ्य संकल्पः स्थाणुपादारविन्दद्वयादृते नाहमन्यं नमस्कुर्यामिति—'हर्षचरित', पृष्ठ २९९

शिवभक्ति प्रसिद्ध ही है। शिवजी घरों में अर्चा के रूप में और मंदिरों में --जिन की संख्या देश में बहुत थी—मूर्ति तथा लिंग के रूप में पूजे जाते थे। 'हर्षचरित' के प्रथम अध्याय में हम सावित्री को सोन नदी के तट पर शिवजी की पूजा के निमित्त बालू के लिंग बनाते हुए पाते हैं। वह 'मुद्राबंध', 'पंचब्रह्म' प्रार्थना तथा 'ध्रुवागीति' आदि उपयुक्त क्रियाओं के साथ शिव के अष्टरूप की पूजा करती तथा अष्टपुष्पिका चढ़ाती है[1]।

ह्वेनसांग जलंधर, अहिच्छत्र, मालवा, महेश्वरपुर, लंगल (मेकरान का पूर्वी भाग) तथा फ-ल-न के राज्यों में पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख करता है। मालवा में तो इस संप्रदाय के लोग अत्यधिक संख्या में थे[2]। उज्जैन में स्थित महाकाल का मंदिर संपूर्ण देश में प्रसिद्ध था। उस का उल्लेख बाण ने 'कादंबरी' में अनेक स्थलों पर किया है[3]। शिव का एक विशाल मंदिर बनारस में था। इस नगर में शिव के दस सहस्र अनन्य भक्त थे और लगभग १०० फ़ीट ऊँची उन की एक धातु की मूर्ति थी[4]।

महाराज हर्ष के समय के बहुत पहले ही शिव की उपासना का सर्वत्र प्रचार हो गया था। बंगाल के समाचारदेव, जयनाग आदि शासक, उड़ीसा के शैलोद्भव-वंश के राजा तथा वलभी के मैत्रक लोग भी शिव के उपासक थे। शिव की पूजा विभिन्न स्थानों में, 'कालेश्वर', 'भद्रेश्वर', 'आम्राटकेश्वर' आदि विभिन्न नामों से होती थी। भीटा में जो धार्मिक मुहरें उपलब्ध हुई हैं, उन में से अधिकतर गुप्तकाल की हैं। पाँच मुहरें जिन में 'कालंजर', 'कालेश्वर', 'भट्टारक', 'भद्रेश्वर', तथा 'महेश्वर' के नाम अंकित हैं, शैवधर्म की निदर्शिका हैं। शैव चिह्नों में लिंग (मुहर नं० १५-१६), परशु के साथ संयुक्त त्रिशूल (नं० १४) नंदीपाद तथा नंदी (बैल) मुख्य हैं[5]। बसाढ़ नामक स्थान में जहां प्राचीन वैशाली का नगर था एक मुहर प्राप्त हुई है[6]। उस मुहर पर लिंग का चिह्न बना हुआ है और उस के दोनों पार्श्व में त्रिशूल का चिह्न अंकित है। 'मत्स्यपुराण' के कथनानुसार बनारस में स्थित अष्ट प्रधान लिंगों में से एक आम्राटकेश्वर का भी था।

शिव अपने भयानक (उग्र) रूप में कापालिकेश्वर के नाम से प्रसिद्ध थे। कापालिकेश्वर के उपासक अपने सिर तथा गले में हड्डियों की माला पहनते थे। कापालिक यति···भैरवाचार्य का वर्णन 'हर्षचरित' में मिलता है[7]। उस ने श्मशान-भूमि में, अपने

[1] 'हर्षचरित', पृष्ठ ३२

[2] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४२

[3] अस्ति······आत्मनिवासोचिता भगवता महाकालभिधानेन अपरेव समुत्थापिता (उज्जयिनी नाम नगरी), 'कादंबरी', पृष्ठ ८४

[4] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ८७

[5] 'आर्किआलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया'—१९११

[6] वही, १९०३-४, पृष्ठ ११०-१११

[7] 'हर्षचरित', पृष्ठ १६१-१७१

अनेक सहायकों के साथ जिन में राजा पुष्यभूति भी सम्मिलित था, वीभत्स क्रियाएं संपादित की थी। उस ने महाश्मशान में जा कर महाकाल हृदय नामक महामंत्र का एक करोड़ बार जप किया था। इस के पश्चात् उक्त यति ने कृष्ण वस्त्र, कृष्ण वर्ण का उष्णीष (साफ़ा) तथा कृष्ण अंगराग धारण कर और शव के वक्षस्थल पर बैठ कर, कृष्ण-चतुर्दशी की रात्रि को, 'वेतालसाधना' की थी।

शिव की पूजा राजा और प्रजा दोनों ही करते थे। शूद्र लोग भी उन की उपासना करने से वर्जित नहीं किए गए थे। हिंदू देवी-देवताओं में शिव का स्थान सर्व प्रधान था।

यदि शिव सर्व-प्रधान देवता थे, तो विष्णु का नंबर दूसरा था; किंतु दोनों के स्थान में अधिक अंतर न था। महाराज हर्ष के समय में भागवत-धर्म वस्तुतः बहुत पुराना हो गया था। इस स्थान पर उस की उत्पत्ति की कथा लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि गुप्तवंश के अनेक सम्राट भागवतधर्म के पक्के अनुयायी थे। यही नहीं, उन्हों ने उसे भारत की तत्कालीन प्रचलित धार्मिक प्रणालियों में एक नया महत्व प्रदान किया था। विष्णु की उपासना का प्रचार बहुत व्यापक था। इस का प्रमाण हमें गुप्तकाल के बहुसंख्यक लेखों से मिलता है। गुप्त-संवत् २०६ (५२८-२६ ई०) के महाराज संक्षोभ के कोहवाले ताम्र-दानपत्र में न केवल 'भागवत' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, प्रत्युत उस में उस धर्म का प्रसिद्ध मंत्र 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' भी उद्धृत है[1]। भीटा की मुहर नं० २१ में भी यह मंत्र अंकित मिलता है। भीटा की खुदाई में जो मुहरें प्राप्त हुई हैं, उन पर लक्ष्मी, हाथी, शंख तथा चक्र के वैष्णवधर्म-सूचक चिह्न अंकित हैं[2]।

महाराज हर्ष के समय में वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रमाण हमें इस बात से मिलता है कि बौद्ध मुनि दिवाकर मित्र के आश्रम में पांचरात्रिक तथा भागवत संप्रदायों की भी गणना कराई गई है। पांचरात्रिक वैष्णव संप्रदाय विशेष के लोग थे। धार्मिक क्रियाओं की उन की पृथक् योग-पद्धति थी, मूर्तियों तथा मंदिरों के निर्माण के लिए उन के अपने खास नियम थे। भागवतधर्म के अनुयायी विष्णु की उपासना तथा वैदिक क्रियाओं का अनुसरण करते थे। वे स्मार्त वैष्णव थे[3] और ईश्वर के संबंध में अवतारवाद सिद्धांत मानने वाले थे। उन्हों ने कृष्ण तथा राम को अविनाशी ईश्वर का अवतार माना। व्रज के स्वामी, गायों को चरानेवाले और गोपियों के प्यारे श्रीकृष्ण की पूजा भी वैष्णवों में होने लगी। बाण ने 'कादंबरी' में अनेक स्थलों पर कृष्ण के पुराण-वर्णित, वीरतापूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष के समय में और उन के बहुत पहले ही कृष्ण को पूर्णरूप से विष्णु मान लिया गया था।[4]

---

[1] देखिए फ़र्कुहर-कृत 'रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया', पृष्ठ १४३

[2] 'आर्किआलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया'—१९११-१२, पृष्ठ ५०

[3] फ़र्कुहर, 'रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया', पृष्ठ १४२

[4] देखिए कालिदास का 'मेघदूत'—'बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः।'

हिंदू देवताओं में तीसरा स्थान सूर्य को प्राप्त था। भारत में सूर्योपासना की प्रथा कम-से-कम उतनी ही प्राचीन है, जितना कि ऋग्वेद, और उस का प्रचार प्रायः उतना ही व्यापक था जितना कि शिव की उपासना का। महाकाव्यों में हमें सूर्य के उपासकों के संप्रदाय का उल्लेख उपलब्ध होता है, वे सौर कहलाते थे। 'विष्णुपुराण' तथा 'भविष्यपुराण' में कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि सौर-संप्रदाय पर ईरानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। वराहमिहिर का कथन है कि मूर्तियों तथा मंदिरों की स्थापना मग अथवा शाकद्वीपी ब्राह्मण-पुजारियों के द्वारा होनी चाहिए[1]। हर्ष के जन्म के अवसर पर, प्रचलित प्रथानुसार नवजात शिशु का आगम बतलाने के लिए ज्योतिष-विद्या के जो बड़े-बड़े विद्वान आए थे, उन में तारक नाम का भी एक ज्योतिषी था। वह भोजक अर्थात् मग था। टीकाकार लिखता है 'भोजको रविमर्चयिता', अर्थात् भोजक उसे कहते हैं जो सूर्य की पूजा करता हो।[2]

गुप्तकाल में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार के साथ अन्य पौराणिक देवताओं की उपासना के समान सूर्योपासना का भी लोगों में अवश्य ही व्यापक प्रचार हो गया होगा। इस बात का प्रमाण हमें कुछ लेखों से भी मिलता है कि लोग सूर्यदेव की उपासना करते थे। उदाहरणार्थ मांडसोर के लेख में लिखा है कि ४३७ ई० में जुलाहों के संघ ने सूर्य का एक मंदिर बनवाया और उसी संघ ने ४७२ ई० में उस का जीर्णोद्धार कराया। श्रीहर्ष के पिता महाराज प्रभाकर वर्द्धन की आदित्य-भक्ति का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं और यह लिख आए हैं कि हर्ष स्वयं शिव, सूर्य तथा बुद्ध तीनों की उपासना करते थे।

बाण उज्जैन के लोगों को सूर्य का उपासक बतलाता है।[3] चीनी यात्री ह्वेनसांग के कथनानुसार मूलस्थानपुर में सूर्य का एक प्रसिद्ध मंदिर था। मूर्ति स्वर्ण-निर्मित थी और बहुमूल्य पदार्थों से अलंकृत की गई थी। उस में अलौकिक शक्ति थी और उस के गुण दूर-दूर तक फैल गए थे। वहां पर स्त्रियां निरंतर बारी-बारी से गाया-बजाया करती थीं। दीपक रात भर जलते रहते थे। फूलों की भीनी-भीनी सुगंध बराबर आती रहती थी। समस्त भारत के राजा और सरदार वहां जाते और मूर्ति पर बहुमूल्य पदार्थ चढ़ाते थे। उन्हों ने विश्राम-गृह भी बनवा दिए थे, जहां सब लोग मुफ़्त में ठहरते थे। रोगियों और ग़रीबों के लिए भोजन, शरबत और औषधि का प्रबंध भी वे अपनी ओर से करते थे।

---

[1] इस संपूर्ण विषय पर देखिए, फ़र्कुहर-कृत—'रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया', पृष्ठ १५२-५३

[2] त्रिकालज्ञान········भोजकस्तारको नाम गणकः समुपसृत्य विज्ञापितवान—'हर्षचरित', पृष्ठ १८४

टीकाकार 'भोजक' शब्द की टीका इस प्रकार करता है:—

भोजको रविमर्चयिता—पूजकाहि भूयसा गणका भवंति ये मगा इति प्रसिद्धाः।

[3] दिवसेनेव मित्रानुवर्तिना—'कादंबरी', पृष्ठ ८८

इस मंदिर में हर समय विभिन्न देशों के लगभग एक हज़ार यात्री प्रार्थना करने के लिए मौजूद रहते थे ।[1]

अन्य देवताओं में जिन की उपासना उस समय प्रचलित थी, कुमार, कुबेर, विरंचि, कामदेव, नवग्रह तथा दशावतारों का उल्लेख किया जा सकता है । इन देवताओं की पूजा गंधादि द्रव्यों से की जाती थी और मंदिरों में उन की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं ।

उपरोक्त देवताओं के अतिरिक्त उस समय अनेक देवियों की भी उपासना की जाती थी । उन देवियों में चंडिका, दुर्गा, मातृका आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । महाराज हर्ष के दरबार में जाते समय बाण को पहले ही दिन मार्ग में एक कुंज मिला था । उस कुंज के द्वार के वृक्षों पर कात्यायनी देवी की मूर्ति बनी हुई थी ।[2] दुर्गा देवी का उल्लेख बाण अनेक बार करता है । यहां पर हम केवल एक उदाहरण देंगे । महाश्वेता के आश्रम से उज्जैन वापस जाते समय चंद्रापीड़ ने जंगल के बीच एक लाल झंडा देखा था, जिस के पास चंडिका का स्थान था । एक धार्मिक वृद्ध द्रविड़ उसी के समीप एक कुटिया बना कर रहता तथा स्थान की रखवाली करता था[3] । पुत्र की लालसा से राजा शूद्रक की रानी सिद्ध महात्माओं का सम्मान करती तथा चंडिका के मंदिर में सोती हुई दिखलाई गई है ।[4] इस प्रकार ज्ञात होता है कि शैव, वैष्णव तथा सौर की भाँति शक्ति-संप्रदाय भी इस काल का मुख्य संप्रदाय था । इस संप्रदाय के लोग बहुधा भीषण और वीभत्स क्रियाओं के साथ अपनी उपासना करते थे । जब श्रीहर्ष अपनी राजधानी में पहुँचे, जहां महराज प्रभाकरवर्द्धन मृत्युशय्या पर पड़े थे, तब उन्हों ने देखा कि देवताओं तथा प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएं की जा रही हैं । एक स्थान पर एक द्रविड़ मुर्दे की खोपड़ी चढ़ाने को उद्यत था और वेताल की विनती कर रहा था । एक दूसरे स्थान पर एक आंध्र देशवासी अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाए हुए चंडिका को प्रसन्न कर रहा था[5] । इस का एक दूसरा पाठ है, जिस से यह अर्थ निकलता है कि आंध्र बलि किए हुए पशु की अँतड़ियों से चंडिका को प्रसन्न कर रहा था[6] । चंडिका के पशुबलि देने तथा मदिरा चढ़ाने की प्रथा देश के अनेक भागों में प्रचलित थी । शाक्त संप्रदाय के लोग नरबलि को भी बुरा नहीं समझते थे । जिस समय ह्वेनसांग नाव-द्वारा

---

[1] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २९४

[2] प्रथमेऽहनि पथिकजननमस्क्रियमाणप्रवेशपादपोत्कीर्णकात्यायनीप्रतियातनं .... चंडिकायतनकाननम् अतिक्रम्य मल्लकूटनामानम् ग्राममगात्—हर्षचरित, पृष्ठ ६२

[3] 'कादंबरी', पृष्ठ ३३४-३४१

[4] चंडिका गृहेषु सुष्वाप ..... मातृभवनानि जगाम—'कादंबरी' (काले), पृष्ठ १०८-९

[5] क्वचिन्मुंडोपहारणोद्यत द्रविड़प्रार्थ्यमानमानामर्दकं—क्वचिदांध्रोपक्षिप्यमानबाहुवप्रोपयाच्यमानचंडिकं—'हर्षचरित', पृष्ठ २१४

[6] वध्रोपवाच्यमान आदि—'हर्षचरित', पृष्ठ २१४

अयोध्या से अयोमुख जा रहा था, उस समय कुछ ठगों ने उस पर आक्रमण किया था। उन्हों ने चीनी यात्री को निष्ठुर दुर्गा देवी की बलि-वेदी पर चढ़ा देने का निश्चय कर लिया था। संयोग-वश ही ह्वेनसांग उस समय मौत के मुंह से निकल कर भाग सका था[1]। 'कादंबरी' में लिखा है कि मातंग नामक शबर-सरदार दुर्गा के त्रिशूल की भाँति भैंसों के रक्त से भीगा हुआ रहता था[2]। हथियार रखते-रखते उस के कंधों पर निशान तथा घट्टे पड़ गए थे। काली को रक्त चढ़ाने के लिए वह इन हथियारों का प्रयोग करता था[3]। शबर लोग दुर्गा को नरमांस चढ़ाते थे। दुर्गा की मूर्ति के एक हाथ में खड्ग रहता था। एक स्थान पर लिखा है कि विंध्य के बन में जो गैंडे थे, उन के दाँत इतने भयानक होते थे जितना कि दुर्गा का खड्ग[4]।

दुर्गा अपने उदार तथा दयालु रूप में भी पूजी जाती थीं। उदाहरणार्थ हम रानी विलासवती को दुर्गा पर लाज (खीलें), खीर, पूवे (अपूय) पलल (तिलमिश्रितअन्न) सुगंधित पदार्थ, बहुत-सा फूल तथा धूप-दीप आदि चढ़ाते हुए पाते हैं[5]।

इन पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा के साथ-साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य लोग इस समय भी प्राचीन वैदिक यज्ञ करते थे। वास्तव में गुप्तकाल में वेदों के प्राचीन याज्ञिक धर्म का प्रबल रूप से पुनरुद्धार हुआ था[6]। महाराज हर्ष के शासन-काल में यह धर्म फिर लोकप्रिय बन गया और उस की शक्ति प्रबल हो गई। इस का श्रेय भी मीमांसकों को है। उन के महान आचार्य कुमारिलभट्ट संभवतः कन्नौज के राजा के समकालीन थे। बाण के पितृकगण मीमांसा-शास्त्र के प्रकांड पंडित थे और वे वाजपेय, अग्निष्टोम तथा अन्य वैदिक यज्ञ करते थे।

---

[1]जीवनी, पृष्ठ ८७

[2]अंबिकात्रिशूलमिव महिषरुधिरार्द्रकायम्—'कादंबरी', पृष्ठ ४१

[3]चंडिकारुधिरबलिप्रदानार्थमसकृन्निशितशस्त्रोल्लेखविषमितशिखरेणभुजयुगलेन उपशोभितम्। 'कादंबरी', पृष्ठ ४६

[4]कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा—कादंबरी, पृष्ठ ३८

[5]अपरिमितकुसुमधूपविलेपापूयपललपायसबलिलाजकलितामहरहरंबादेवीसपर्यां माततान—'कादंबरी', पृष्ठ १०६

[6]वैदिक याज्ञिक धर्म की उन्नति में बौद्धधर्मावलंबी मौर्य राजाओं ने व्याघात पहुँचाया। किंतु शुंग वंश के राजाओं के द्वारा उस का पुनरुज्जीवन बड़े प्रबल वेग के साथ हुआ। दक्षिण के शातवाहन राजा भी जो ब्राह्मण ही थे, याज्ञिक-धर्म के प्रबल समर्थक थे। शातवाहन वंश के दूसरे राजा के संबंध में तो उल्लेख मिलता है कि उस ने अनेक वैदिक यज्ञ किया। ज्ञात होता है कि वेदों के याज्ञिक-धर्म का प्रधान केंद्र दक्षिण में था, जहां के अनेक क्षत्रिय-वंशी राजा—जैसे पल्लव, सालंकायन, विष्णुकुंडी तथा वाकाटक आदि—अनेक यज्ञों के संपादक बताए गए हैं। चालुक्य-वंश के राजा भी वैदिक धर्म के समर्थक थे। कीर्तिवर्मा का बदामीवाला गुप्त-लेख जो ५७८ ई० का है, चालुक्यों को अग्निष्टोम, वाजपेय, पौंडरीक, बहुसुवर्ण तथा अश्वमेध यज्ञों का कर्ता बतलाता है। उत्तर में कुशान-वंश के दीर्घ-

'हर्षचरित' में यज्ञों के उठते हुए धूम्र का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। थानेश्वर नगर का वर्णन करता हुआ बाण लिखता है कि इस की दशों दिशाएं यज्ञों की सहस्त्रों ज्वालाओं से दीप्यमान रहती थीं[1]। महाराज प्रभाकरवर्द्धन के शासन-काल में पास-पास लगे हुए यूपों के समूह से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों सतयुग अंकुरित होने लगा है और चारों दिशाओं में फैलनेवाले धुँए से ज्ञात होता था कि कलियुग भाग रहा है[2]।

कहते हैं कि बाण के संबंधियों के घरों में छोटे-छोटे कृष्णसार नाम के बकरों के इधर-उधर घूमने-फिरने से पशु-यज्ञों का होना सूचित होता था[3]। मणितारा नामक स्थान पर शिविर में हर्ष से भेंट करने के बाद महाकवि बाण ने यायजूकों को अग्नि में वषट्कार करते हुए देखा था[4]। ब्राह्मणगण नियमपूर्वक वैदिक अग्निहोत्र का पालन करते थे। एक स्थान पर हमें यह वर्णन मिलता है कि अग्निहोत्र क्रिया का धूम्र कलियुग के दोषों को हरण करता हुआ आकाश को प्रसन्न बना रहा था। ब्राह्मण लोग नियमपूर्वक प्रातः तथा सायं दोनों समय संध्या भी करते थे। बाण के संबंधियों के यहां जो विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे, उन के संबंध में यह उल्लेख मिलता है कि वे संध्या-समय अपने श्रांत एवं वृद्ध वेदोपाध्याय (श्रोत्रिय) से आज्ञा पाकर संध्या करते थे और जल्दी में ऋकों का उच्चारण करना भूल जाते थे[5]।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह पंचयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ करे। गौ तथा ब्राह्मणों की पूजा देवताओं की भाँति होती थी। किसी ब्राह्मण को दान देना बड़े पुण्य का काम समझा जाता था। ब्राह्मणों को भोजन कराना, उन्हें गाँव दान करना अथवा सोना, चाँदी, गौ आदि उपहार रूप में देना उच्चकोटि का धार्मिक कार्य माना जाता था। बाण कवि यद्यपि स्वयं ब्राह्मण था, किंतु हम उसे स्वयं अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार ब्राह्मणों को दान देते हुए पाते हैं।[6]

भारतवासी करोड़ों की संख्या में गंगाजी के भक्त थे। ह्वेनसांग इस पवित्र नदी

कालीन शासन के कारण उस का महत्व कुछ कम हो गया था और बहुत दिनों तक लोगों ने उस की उपेक्षा की थी; किंतु तीसरी शताब्दी में भारशिव राजाओं और चौथी सदी में गुप्त राजाओं ने उस का पुनरुद्धार किया। भारशिव राजाओं को 'दशाश्वमेधावभृतस्नात्' कहा गया है और समुद्रगुप्त का यह वर्णन—'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्ता'—प्रसिद्ध ही है।

[1]ज्वलन्मखशिखिसहस्रदीप्यमानदशदिगंतः—'हर्षचरित', पृष्ठ १४७

[2]यस्मिंश्च राजनि निरंतरैर्यूपनिकरैरंकुरितमिव कृतयुगेन दिङ्मुख विसर्पिभिरध्वर धूमै पलायितमिवकलिना—'हर्षचरित', पृष्ठ १७५

[3]क्रीडत्कृष्णसारछागशावप्रकटितपशुबंधप्रबंधानि—'हर्षचरित', पृष्ठ ७२

[4]यज्ञपा पवित्रपाणौप्रकीर्णवर्हिषि प्रोत्तेजसि जातवेदसिहवींषि वषटकुर्वंति यायजूकजने—'हर्षचरित', पृष्ठ १२५

[5]अलसवृद्धश्रोत्रियानुमते गलदृग्ग्रंथदंडकोद्गारिणि संध्यां समवधीरयति—'हर्षचरित', पृष्ठ १४१

[6]दत्वाद्युम्नं यथा विद्यमानं द्विजेभ्यः—'हर्षचरित', पृष्ठ ९१

का उल्लेख इन शब्दों में करता है, "जन-साधारण साहित्य में इस नदी को 'पुण्यजल' कहता है। गंगाजी में एक बार स्नान करने से पापों का पुंज नष्ट हो जाता है। जो लोग इस में डूब कर मर जाते हैं उन का स्वर्ग में आनंद के साथ पुनर्जन्म होता है। जिस मृत व्यक्ति के फूल इस नदी में प्रवाहित किए जाते हैं, वह किसी बुरे स्थान में नहीं जाता, लहरें उठा कर तथा नदी को आंदोलित करने से (हाथ पैर मारने और जल को पीछे ढकेलने से) मृत आत्मा मुक्त हो जाता है।[1]"

हर्ष के समय में बहुसंख्यक तीर्थस्थान थे, जहां प्रतिवर्ष हज़ारों आदमी दर्शन करने जाते थे। गंगा तथा यमुना के संगम पर स्थित प्रयाग एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थान था। वहां हज़ारों यात्री जाते थे। नदियों के संगम पर एक पवित्र भूमि थी, जिसे लोग महादान क्षेत्र कहते थे। वहां पर श्रीहर्ष प्रति पाँचवें वर्ष दान-वितरण करते थे। इस तीर्थ-स्थान में दान करना बड़े पुण्य का काम समझा जाता था। बहुत से व्यक्ति स्वर्ग-प्राप्ति की आशा से संगम के पवित्र जल में मरने के लिए आते थे[2]। गंगाद्वार (आधुनिक हरद्वार) में दूर-दूर के प्रदेशों से कई हज़ार आदमी गंगा में स्नान करने के लिए एकत्रित होते थे। धर्मात्मा राजाओं ने यहां पर पुण्यशालाएं बनवा दी थीं, जहां उन लोगों को मुफ्त में स्वादिष्ट भोजन बाँटा जाता था, जिन के न कोई मित्र रहता था और न कोई संबंधी[3]। थानेश्वर के पास स्थित कुरुक्षेत्र भी एक पवित्र स्थान समझा जाता था।

यहां पर संक्षेप में यह लिख देना उचित है कि उस समय भी प्राचीन काल की भाँति लोगों में प्रकृति के जड़ पदार्थों की पूजा प्रचलित थी। पीपल तथा अन्य कतिपय वृक्ष पूजे जाते थे[4]। इसी प्रकार और भी निर्जीव पदार्थों की पूजा की जाती थी। व्यवसायी लोग अपने रोज़गार के औज़ारों की पूजा करते थे। ऐसे पवित्र तालाब तथा नदियां भी थीं, जिन का लोग विशेष-रूप से सम्मान करते थे।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनियों तथा बौद्धों के अतिरिक्त विभिन्न वर्ग के हिंदू परिव्राजक भिक्षान्न-मात्र से जीविका-निर्वाह करते हुए देश के विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते थे। उन के पास कोई ऐसी वस्तु नहीं होती थी, जिसे वे अपनी कह सकते। वैद्य महोदय के कथनानुसार "प्रव्रज्या के लिए प्राचीन काल से भारतीयों में एक तीव्र आकांक्षा थी[5]।" बाण अपने ग्रंथ में हिंदू संन्यासियों के अनेक वर्गों का उल्लेख करता है—उदाहरणार्थ मस्करी, पाराशरी आदि। ये क्षपणक कहलानेवाले जैन भिक्षुओं तथा बौद्ध श्रमणों से भिन्न थे। ह्वेनसांग अपने भ्रमण-वृत्तांत में उन का वर्णन रोचक ढंग से करता है। राजा लोग उन के साथ बड़ा सम्मानपूर्ण व्यवहार करते थे। वे उन्हें

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३१९

[2] वही, पृष्ठ ३६४

[3] वही, पृष्ठ ३२८

[4] अश्वत्थप्रभृतीनुपपादितपूजान् महावनस्पतीन् कृतप्रदक्षिणा ववंदे—'कादंबरी'

[5] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६१

दरबार में आने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे ।[1] हां, इतना अवश्य था कि कभी-कभी दुष्ट लोग भी संन्यासियों में सम्मिलित हो जाते थे । सम्राट् हर्ष का दर्शन करने के लिए जानेवालों में बाण पाराशरी तथा जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं—दोनों का वर्णन करता है[2] । वह अपनी 'कादंबरी' में लिखता है कि शुकनास का दरबार, शाक्यमुनि के उपदेशों में पारंगत रक्तवस्त्रधारी पुरुषों से भरा हुआ था । राजा के अंतःपुर तक जानेवालों में विभिन्न संप्रदाय की वृद्धा संन्यासिनी स्त्रियों का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है ।[3] 'कादंबरी' के भवन में उस की सखी महाश्वेता को चंद्रापीड़ ने परिव्राजिका स्त्रियों से घिरी हुई देखा था । यह परिव्राजिकाएं रुद्राक्षमाला फेर रही थीं, उन के ललाटों पर भस्म के चिह्न विद्यमान थे और वे गेरुए रंग से रँगे हुए वस्त्र पहने थीं[4] । ह्वेनसांग संन्यासियों के विभिन्न वर्गों और उन के विशेष प्रकार के बाह्य चिह्नों का उल्लेख करता है[5] । उन वर्गों में से एक तो वे थे जो मोरपुच्छ धारण करते थे, दूसरे वे जो मुंडमाल धारण करते थे । ह्वेनसांग की जीवनी में भी विभिन्न मतावलंबी परिव्राजक संप्रदायों का वर्णन किया गया है[6] । भारतीयों में यह विश्वास प्रबल था कि मानसिक शांति का एकमात्र उपाय संन्यास-ग्रहण ही है[7] ।

अब हमें इस बात की विवेचना करनी चाहिए कि हर्ष के समय में देश के अंदर बौद्धधर्म की क्या अवस्था थी । सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ह्वेनसांग का भ्रमण-वृत्तांत एक अमूल्य साधन है । सारा देश विहारों तथा संघारामों से भरा हुआ था, दोनों साथ-ही-साथ अपना अस्तित्व रखते थे । वैद्य महोदय लिखते हैं कि "जिस समय एक दम उत्तर-पश्चिम कपिशा या कफ़ीरिस्तान में बौद्धधर्म के अतिरिक्त प्रायः और कोई धर्म प्रचलित नहीं था, बिल्कुल उत्तर-पूर्व अर्थात् आसाम में, हिंदू-धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं था, उस समय देश के शेष भागों में राजा और प्रजा (दोनों वर्गों) में हिंदू और बौद्धधर्म दोनों के अनुयायी समान संख्या में थे ।"

श्रीहर्ष और ह्वेनसांग के समय में बौद्धधर्म यद्यपि अपनी अवनति पर था; तथापि महायान और हीनयान नामक दो प्रधान विभागों के अतिरिक्त, उस के अंतर्गत उस समय भी अठारह संप्रदाय वर्तमान थे । ज्ञात होता है कि जिस समय ह्वेनसांग भारत में आया, उस

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६१

[2] 'हर्षचरित', पृष्ठ ६७

[3] 'कादंबरी' (रिडिंग), पृष्ठ २१७

[4] ददर्श च धवलभस्मललाटिकाभिः अक्षमालिकापरिवर्तनप्रचलकरतलाभिःधातु-रागारुणांबराभिश्च परिव्राजिकाभिः परिवेष्टिता—'कादंबरी', पृष्ठ २१२

[5] वाटर्स, पृष्ठ १४८

[6] 'जीवनी', पृष्ठ १६१-१६२

[7] अखिलमनोज्वरशमनकारणं हि भगवती प्रव्रज्या—'हर्षचरित', पृष्ठ ३३८

समय यहां हीनयान की अपेक्षा महायान बौद्धधर्म का अधिक प्रचार था। ह्वेनसांग के कथनानुसार हीनयान मत के सिद्धांत तथा रीति-रिवाज उस से बहुत भिन्न थे। उस के समय में दोनों मतों के बीच जो विभिन्नता थी उसे उस ने एक पद में समझाया है; किंतु वह पद अस्पष्ट है। वाटर्स ने उस का जो अर्थ लगाया है, वह इस प्रकार है:—"हीनयान संप्रदाय की—स्थिर खड़े रहने, इधर-उधर घूमने तथा शांतिपूर्ण विचार करने की रीतियां महायान मतावलंबियों की समाधि तथा प्रज्ञा से अधिक भिन्न थीं[1]"। इस से यह प्रकट होता है कि समाधि तथा प्रज्ञा महायान धर्म के विशेष चिह्न थे। किंतु इस कथन से हमें दोनों मतों के भेद को समझने में अधिक सहायता नहीं मिलती। वास्तव में इत्सिंग ने महायान की जो परिभाषा की है वह अधिक सरल है, यद्यपि वैज्ञानिक नहीं है। इत्सिंग कहता है कि "जो बोधिसत्वों की पूजा करते हैं और महायान सूत्रों का पाठ करते हैं, वे महायानी कहे जाते हैं और जो ऐसा नहीं करते, वे हीनयानी कहलाते हैं[2]। महायान धर्म की निम्नलिखित विशेषताएं थीं :—

(१) भक्ति—महायानियों के मतानुसार बुद्धों तथा बोधिसत्वों की संख्या अगणित थी और प्रत्येक का अपना अलग-अलग लोक था। बुद्ध तथा बोधिसत्वगण उपासना के उपयुक्त विषय थे। वे असंख्य उत्कृष्ट गुणों से विभूषित थे और इस बात के लिए उत्सुक थे कि मनुष्य इस संसार के दुखों से मुक्त हो जायँ। वे उपासकोंकी पूजा-भक्ति से प्रसन्न होते थे। 'सद्धर्मपुंडरीक' तथा अन्य ऐसे कतिपय ग्रंथों में गौतम को अविनाशी, सर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में वर्णन किया गया है। वे समय-समय पर मानवजाति का उद्धार करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। बोधिसत्वों ने निर्वाण (प्रवेश) अस्वीकार कर दिया, ताकि वे मनुष्यों की सहायता और अधिक कर सकें।

विहारों में बुद्धों तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां स्थापित थीं और अनेक प्रकार की जटिल क्रियाओं द्वारा उन की पूजा की जाती थी। हिंदू देवी-देवताओं की ही भाँति बौद्ध देवी-देवताओं का भी विकास हुआ। संगीत, पुष्प, धूप-दीप आदि से इन देवताओं की भी पूजा की जाती थी।

(२) उन की अध्यात्मिक उन्नति का चरम लक्ष्य भी भिन्न था। हीनयान मत के भिक्षु 'अर्हत' होने की चेष्टा करते थे। अर्हत उस व्यक्ति को कहते थे, जो तृष्णा-दमन रूपी निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता था, अर्थात् जो ध्यान तथा संन्यास द्वारा सब इच्छाओं का दमन कर लेता था। महायान-संप्रदाय के भिक्षु भक्ति, सेवा तथा परोपकार द्वारा बुद्धों की पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। कष्ट-सहन द्वारा कर्म-बंधन से अपने को मुक्त कर लेने से ही उन का उद्देश्य सिद्ध हो जाता था। इस प्रयत्न में उन के संभवतः असंख्य जन्म व्यतीत हो जाते थे; किंतु प्रत्येक मनुष्य के लिए उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेना संभव था। जो व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का संकल्प कर

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १६५

[2] इत्सिंग,—'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', भूमिका, पृष्ठ १४-१५

लेता था, वह तुरंत बोधिसत्व बन जाता था और फिर आगे चल कर कभी-न-कभी वह बुद्ध अवश्य बन जाता था। वह विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर सकता था और सच बात तो यह है कि ऐसा जीवन व्यतीत करने के लिए उसे उत्साहित किया जाता था।

(३) महायान मत के बौद्धों ने शून्यवाद नामक दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन के लिए संसार की सभी वस्तुएं वास्तव में असत हैं, उन की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, यद्यपि इन का भान हमें होता है; किंतु यथार्थ में वे सभी शून्य हैं।

भक्ति को महत्व देने में, बुद्ध को कृष्ण की तरह परमात्म-स्वरूप मानने तथा जीवों पर दया करने के सिद्धांत (अहिंसा) पर ज़ोर देने के कारण महायान-धर्म की तुलना भागवत-धर्म के साथ की जा सकती है। प्रवाद प्रचलित है कि महायान-धर्म का संस्थापक 'माध्यमिक सूत्र' तथा 'द्वादश-निकाय' का रचयिता नागार्जुन था। किंतु वास्तव में इस धर्म का उदय उक्त ग्रंथों के रचना-काल से बहुत पहले हुआ था। नागार्जुन ने स्वयं अपने ग्रंथों में ऐसे बहुसंख्यक ग्रंथों का उल्लेख किया है जो महायान मत के थे। महायान-संप्रदाय के 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों का अनुवाद चीनी भाषा में दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ था। यह भी कहा जाता है कि महायान-मत के सिद्धांत बुद्ध के गुप्त उपदेश थे। इन उपदेशों को बुद्ध ने अपने अंतरंग शिष्यों को दिया था। उन के निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन के शिष्यों ने उन उपदेशों को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। कुछ काल तक यह उपदेश सुन-सुनाकर गुरु-शिष्य-परंपरा में चलते रहे और बाद को वे लिपि-बद्ध कर डाले गए। किंतु नागार्जुन के जन्म के बहुत पहले ही महायान-मत पर सुव्यवस्थित ग्रंथ उपस्थित थे।[1]

महायान-संप्रदाय में प्रधानतः दो दल थे—माध्यमिक तथा योगाचार। प्रचलित जन-श्रुति के अनुसार नागार्जुन माध्यमिक दल का प्रतिनिधि था। इत्सिंग अपने समय में बौद्धधर्म की अवस्था का वर्णन करता हुआ लिखता है, "तथा-कथित महायान के केवल दो भेद हैं—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक दल का मत है कि साधारणतः जिसे हम अस्तित्व कहते हैं वह वास्तव में अस्तित्व का अभाव है, प्रत्येक वस्तु स्वप्न की भाँति केवल मिथ्या है। इस के विपरीत, दूसरे दल का कथन है कि वास्तव में बाहर कोई वस्तु नहीं है, सब ज्ञान मात्र है, सब वस्तुओं का अस्तित्व हमारे मन ही में है[2]।" योगाचार को विज्ञानवाद भी कहते थे। इस दल का आधार-स्वरूप मूलग्रंथ आसंग का 'योगाचार-भूमिशास्त्र' है। जिस समय ह्वेनसांग नालंदा विश्वविद्यालय में ठहरा था उस समय उस ने इस ग्रंथ पर वहां के अध्यक्ष के व्याख्यानों को सुना था। आसंग तथा उस का छोटा भाई वसुबंधु पाँचवीं शताब्दी में महायान दर्शन के दो महान आचार्य थे।

हम लिख चुके हैं कि ह्वेनसांग के समय में महायान बौद्धधर्म हीनयान की अपेक्षा देश में अधिक लोकप्रिय बन रहा था, यद्यपि उत्तरी भारत में हीनयान मत के अनुयायियों

---

[1]पी के० मुकर्जी, 'इंडियन लेटरेचर इन चाइना एंड दी फ़ार ईस्ट', पृष्ठ ६१

[2]इत्सिंग, 'रेकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', भूमिका, पृष्ठ १५

की ही संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। इत्सिंग के समय में "उत्तरी भारत तथा दक्षिणी सागर के द्वीप के श्रमण, प्रायः हीनयान-संप्रदाय के थे और चीन के श्रमण महायान मत के थे। अन्य स्थानों में कुछ एक को मानते थे और कुछ दूसरे को।"[1] नालंदा विश्वविद्यालय में संभवतः महायान बौद्धधर्म के अध्ययन पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। ह्वेनसांग से मिलने के उपरांत महाराज हर्ष ने स्वयं महायान बौद्धधर्म के योगाचार-संप्रदाय को आश्रय प्रदान किया था। ह्वेनसांग स्वयं योगाचार-संप्रदाय का एक उत्साही अनुयायी था। देश के विभिन्न स्थानों में, भिन्न-भिन्न संप्रदायों के जो भिक्षु रहते थे, ह्वेनसांग ने उन की संख्या भी लिखी है। किंतु उन संख्याओं का विश्लेषण करने से हमें स्पष्टतया यह नहीं ज्ञात होता कि देश के किस-किस भाग में महायान मत के लोग रहते थे और कहां-कहां हीनयान के अनुयायी निवास करते थे। किंतु ज्ञात होता है कि कपिशा तथा उद्यान को—जो यथार्थ में मुख्य भारत के अंतर्गत सम्मिलित नहीं थे—छोड़ कर उत्तरी भारत में गाज़ीपुर तक महायान मत के कट्टर अनुयायी अधिक नहीं थे। ह्वेनसांग का कथन है कि मगध में महायान संप्रदाय के दस सहस्र भिक्षु थे। महायानियों का दूसरा प्रधान केंद्रस्थान उड़ीसा था। वहां इस संप्रदाय के असंख्य अनुयायी रहते थे। नागार्जुन के निवास-स्थान दक्षिण कोशल में भी महायान-संप्रदाय के दस हज़ार भिक्षु मठों में रहते थे। पूर्वी भारत अर्थात् मगध के पूर्व-स्थित देश में हीनयान मत का प्रचार अधिक व्यापक था।

बौद्धधर्म के उपरोक्त दो बड़े-बड़े विभागों के अतिरिक्त, ह्वेनसांग अठारह अन्य प्रसिद्ध संप्रदायों का भीउल्लेख करता है, जिन का प्रादुर्भाव सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता के ही कारण हुआ था। उन में सब से अधिक प्राचीन स्थविर संप्रदाय था। कहा जाता है कि पाली त्रिपिटक जो आजकल मौजूद हैं, लंका के स्थविरों के धर्मशास्त्र हैं। लंका में स्थविरों की प्रधानता थी। ह्वेनसांग के समय में वहां बीस हज़ार भिक्षु थे। द्रविड़ देश में भी इस संप्रदाय के बहुसंख्यक अनुयायी थे। इस के अतिरिक्त, गया, समतट, कलिंग, भड़ौंच तथा सुराष्ट्र में भी कुछ स्थविर रहते थे। ह्वेनसांग के दिए हुए विवरण का समर्थन इत्सिंग भी करता है। उस का कथन है कि स्थविर-संप्रदाय के बौद्ध प्रायः समस्त दक्षिणी भारत में फैले हुए थे, मगध में स्थविर मत का प्रचार था, सारा लंका उन के अधिकार में था, लाट तथा सिंधु देश में भी इस संप्रदाय के कुछ अनुयायी थे। इस के अतिरिक्त, पूर्वी भारत में अन्य संप्रदायों के साथ इस संप्रदाय के बौद्ध भी रहते थे। उत्तरी भारत के उत्तरी भाग में इस संप्रदाय के लोग प्रायः नहीं थे। स्थविर संप्रदाय के तीन उपविभाग थे। दूसरा मुख्य संप्रदाय सर्वास्तिवादियों का था। इस संप्रदाय के अनुयायी उत्तरी भारत में थे; क्योंकि उस का जन्म-स्थान कश्मीर था। वहां से दूर-दूर तक उस का प्रचार हुआ। ह्वेनसांग के समय में, उत्तरी भारत के अनेक स्थानों में—विशेष कर मुँगेर में—इस संप्रदाय के अनुयायी थे। इत्सिंग बतलाता है कि मध्यदेश (उस के अनुसार मगध)

---

[1] इत्सिंग, 'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', भूमिका, पृष्ठ १४

में इस का सब से अधिक प्रचार था—और प्रायः समस्त उत्तरी भारत (मध्यदेश के उत्तर का प्रदेश) इस संप्रदाय वालों के अधिकार में था। किंतु ह्वेनसांग ने उत्तरापथ की अवस्था का जो वर्णन किया है उस से इस कथन के उत्तरार्द्ध का ठीक-ठीक समर्थन नहीं प्रतीत होता। इत्सिंग ने स्वयं सारे भारत का भ्रमण नहीं किया; इस लिए संभवतः इस संबंध में उस का कथन ठीक नहीं है। सर्वास्तिवाद दल के चार उपविभाग थे—(क) मूल सर्वास्तिवाद दल (ख) धर्मगुप्त दल (ग) महीसासक दल तथा (घ) काश्यपीय दल।[1]

दूसरा महत्वपूर्ण संप्रदाय सम्मितीय था। ह्वेनसांग के समय में, उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में—अहिछत्र से ले कर कर्ण-सुवर्ण, लाट, मालव तथा सिंधु तक—उस का व्यापक प्रचार था। इस संबंध में इत्सिंग ह्वेनसांग के कथन का प्रायः समर्थन करता है। वह कहता है कि सिंधु तथा लाट देश में सम्मितीय संप्रदाय के लोग अपनी उन्नत अवस्था में थे। मगध में इस संप्रदाय का प्रचार था। दक्षिणी भारत में भी इस संप्रदाय के कुछ लोग थे। पूर्वी भारत में अन्य संप्रदायों के साथ-साथ इस का भी प्रचार था। यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि हर्ष की बहन राज्यश्री बौद्धधर्म के इसी दल की अनुयायिनी थी। इस के भी चार उपविभाग थे[2]।

बौद्धधर्म का एक दूसरा प्रधान संप्रदाय महासंघिक था। इस दल की एक शाखा लोकोत्तरवाद के नाम से प्रसिद्ध थी; लोकोत्तरवादियों का विश्वास था कि बुद्ध सांसारिक जाल में नहीं फँसे थे, बल्कि वे इस लोक से बहुत ऊपर उठे हुए थे। ह्वेनसांग को कई सहस्र लोकोत्तरवादी बमियन में मिले थे। इत्सिंग के समय में महासंघिक संप्रदाय का प्रचार मध्यदेश (मगध) में था। उत्तरापथ (मध्यदेश के आगे का भाग) तथा दक्षिणापथ में इस संप्रदाय के कुछ अनुयायी थे। पूर्वी भारत में भी इस का खासा प्रचार था। इस के सात उपविभाग थे।[3]

इन सभी संप्रदायों के पास त्रिपिटक के अलग-अलग संस्करण थे। उन के संबंध में इत्सिंग का कथन उल्लेखनीय है, "इन दलों के भेद तथा विनय की विभिन्नताओं की सावधानी के साथ परीक्षा करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि उन का मतभेद अनेक बातों में है। जिस बात को एक दल में महत्व दिया जाता है वह दूसरे में महत्वपूर्ण नहीं समझी जाती और जो एक में विहित है वह दूसरे में निषिद्ध है[4]।" आगे चल कर इत्सिंग लिखता है, "यह निश्चित नहीं किया गया है कि चारों दलों में से किसे महायान के साथ सम्मिलित करना चाहिए और किसे हीनयान के साथ[5]।" उस के इस कथन का अर्थ समझना

---

[1] इत्सिंग, 'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', साधारण प्रस्तावना, पृष्ठ २४

[2] वही।

[3] वही, पृष्ठ २३

[4] इत्सिंग, 'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन-तककुसु', पृष्ठ १३

[5] वही, पृष्ठ १४

आसान नहीं है; क्योंकि हम जानते हैं कि स्थविर सम्मितीय तथा सर्वास्तिवादी हीनयान संप्रदाय के थे। ज्ञात होता है कि इत्सिंग के समय में विभिन्न संप्रदाय के लोग अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार हीनयान अथवा महायान के मत के सिद्धांतों को मानते थे और उन के पुराने भेद अस्पष्ट हो गए थे। यहां पर यह लिखना उचित प्रतीत होता है कि यद्यपि बौद्धधर्म अठारह पृथक् संप्रदायों में विभक्त माना जाता था; तथापि यह संख्या कदाचित् वास्तविक तथ्यों पर नहीं, वरन् संभवतः, जन-श्रुतियों के अधार पर अवलंबित थी। चीनी भाषा में ऐसे ग्रंथ वतर्मान थे, जो इत्सिंग के समय में प्रचलित १८ संप्रदायों का उल्लेख करते हैं। इत्सिंग स्वयं उन ग्रंथों की ओर संकेत करता है। इन ग्रंथों में संप्रदायों की संख्या सर्वत्र अठारह नहीं दी गई है[1]।

ह्वेनसांग के समय में देश के अंदर भिक्षुओं की आबादी बहुत अधिक थी। डा० मुकर्जी ने उन की कुछ संख्या दी है। रिस डेविड ने संप्रदायों के ऊपर लिखे हुए अपने निबंध में भिक्षुओं की संख्या के संबंध में जो हिसाब लगाया है, उसी पर मुकर्जी की संख्या अवलंबित है। कुल मिला कर दो लाख बारह हज़ार तीन सौ भिक्षु थे[2]। डा० स्मिथ का कथन है कि भिक्षुओं की इतनी बड़ी संख्या राजकीय उदारता के प्रदर्शन के लिए प्रभूत अवसर प्रदान करती थी[3]।

हर्ष तथा ह्वेनसांग के समय में बौद्धधर्म अवनति पर था। बौद्धधर्म के अनेक महत्वपूर्ण केंद्र, जो कभी बहुत उन्नत अवस्था में रह चुके थे, अब अपने पतन की अवस्था में थे। कपिलवस्तु देश में दस से अधिक नगर ऐसे थे जो बिल्कुल उजाड़ हो गए थे। राजधानी स्वयं इस प्रकार संपूर्णतः ध्वस्त हो चुकी थी कि उस का क्षेत्रफल निश्चय करना भी असंभव था[4]। कपिलवस्तु देश में लगभग एक सहस्त्र बौद्धमठ पाए जाते थे। बुद्ध के परिनिर्वाण का स्थान कुशीनगर भी नष्ट हो गया था, उस में बहुत थोड़े से लोग रहते थे। नगर के अंदर का भाग बिल्कुल उजाड़ हो गया था[5]। वैशाली देश में, जहां पहले कई सौ मठ थे, अब केवल तीन या चार मठ शेष बचे थे, जो अब नष्ट तथा उजाड़ हो गए थे और भिक्षु बहुत थोड़े रह गए थे[6]। वृज्जि देश का प्रधान नगर ध्वस्त हो गया था[7], इस देश में बौद्ध बहुत थोड़े थे। मगध देश में, जो किसी समय

---

[1] इत्सिंग, 'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', पृष्ठ ६ (टिप्पणी) अठारह संप्रदायों के लिए 'जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १८९१ तथा १८९२ में प्रकाशित रिस डेविड के लेख भी द्रष्टव्य हैं।

[2] मुकर्जी 'हर्ष', पृष्ठ १२७

[3] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ३५८

[4] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १

[5] वही, पृष्ठ २६

[6] वही, पृष्ठ ६३

[7] वही, पृष्ठ ८१

बौद्धधर्म का केंद्र था, यद्यपि लोग बौद्धधर्म का आदर अब भी करते थे; किंतु वहां अब बहुत से देवमंदिर बन गए थे और विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी बहुत अधिक संख्या में वर्तमान थे [1]। पाटलिपुत्र में सैकड़ों मठों और मंदिरों के ध्वंसावशेष मौजूद थे[2] ।

यद्यपि बौद्धधर्म अवनति पर था; तथापि देश में अब भी ति-लो-शिका, महाबोधि, मृगदाव तथा नालंदा आदि के मठ मौजूद थे। राजा की दानशीलता ने इन मठों को संपन्न बना दिया था। वे विद्वान श्रमणों के वासस्थान थे। किंतु श्रमण लोगों को प्रायः विलासमय जीवन का व्यसन हो गया था। मठों का जीवन अब सरल तथा पवित्र नहीं रह गया था। विनय के नियमों का पालन अब कड़ाई के साथ नहीं होता था। महाराज हर्ष के समकालीन पल्लव राजा महेंद्रविक्रम वर्मा के 'मत्तविलास' नामक प्रहसन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि बौद्ध-समाज में नैतिक आचरण-भ्रष्टता का भी प्रवेश हो गया था। ऐसे श्रमणों की कमी नहीं थी, जो विनय के नियमों का उल्लंघन कर गुप्त रूप से व्यभिचार तथा मदिरापान करते थे। मठों की अतुल संपत्ति ही इस नैतिक पतन का कारण थी। इस के अतिरिक्त, मीमांसकों के प्रबल आक्रमण से बौद्धधर्म की शक्ति बहुत-कुछ क्षीण हो गई थी। अंतिम बात यह थी कि बौद्धधर्म हिंदूधर्म में इतना मिला हुआ था कि साधारण लोग स्पष्ट रूप से दोनों के भेद को नहीं समझ पाते थे। इस का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्धधर्म को छोड़ कर हिंदूधर्म का आश्रय लेने लगे। हिंदूधर्म के वातावरण में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता थी।[3]

इस के अतिरिक्त, हर्ष के समय में बौद्धधर्म लोगों को निष्क्रिय बन कर बैठे रहने का उपदेश भी देता था। प्राचीन भारत के इतिहास में यह बात अनेक बार देखी गई है कि अपने अहिंसा सिद्धांत पर डटे रहने के कारण बौद्धधर्म ने कभी राज्य की रक्षा के निमित्त लोगों को समुचित रूप से राजनीतिक कर्त्तव्यपालन के लिए उत्साहित नहीं किया। जो लोग किसी सीमा तक मातृ-भूमि की रक्षा के लिए कटिबद्ध थे, उन की सहानुभूति इस धर्म के साथ नहीं थी।

श्रीहर्ष के समय में जैनधर्म की क्या अवस्था थी, इस संबंध में भी दो-चार शब्द लिख देना उचित प्रतीत होता है। बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म भी दो बड़े-बड़े संप्रदायों में विभक्त था—दिगंबर और श्वेतांबर। इन दोनों संप्रदायों के सिद्धांतों में अधिक अंतर नहीं था। दिगंबर-संप्रदाय के जैनी इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि मोक्ष स्त्रियों के लिए भी संभव है। दिगंबर जैनी तीर्थंकरों की मूर्तियों को पूजते थे; किंतु श्वेतांबर जैनियों की भाँति वे पुष्प, धूप तथा वस्त्र आदि का प्रयोग नहीं करते थे[4]।

---

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ८७

[2]वही।

[3]श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा मध्यकालीन 'भारतीय संस्कृति', पृष्ठ ७

[4]वही, पृष्ठ १२

जैनधर्म का कभी इतना अधिक व्यापक प्रचार नहीं हुआ, जितना कि बौद्धधर्म का। हर्ष के समय मे उस का प्रचार उत्तरी भारत के कुछ स्थानों में ही परिमित था। ह्वेनसांग अपने भ्रमण-वृत्तांत में एक स्थल पर श्वेतांबर संप्रदाय के जैनियों का एक विवरण देता है, जो बहुत मनोरंजक किंतु अस्पष्ट एवं असंतोषप्रद है। वह लिखता है, "यह (श्वेतांबर) संप्रदाय दिन-रात सदा अविराम रूप से तपस्या में लीन रहता है। यह मत अधिकांशतः बौद्धधर्म-शास्त्रों के सिद्धांतों से लिया गया है। इस के प्रवर्तक ने श्रेणियों का अनुसरण किया और साधारण विनय के नियम बनाए। बड़े शिष्य भिक्षु और छोटे श्रमण कहलाते हैं। उन के आचरण के नियम तथा कर्मकांड की क्रियाएं बौद्ध परिपाटी के समान हैं; किंतु वे अपने सिर के बाल छोटे रखते हैं। वे नंगे रहते हैं अथवा यदि वे वस्त्र धारण करते हैं तो उस की विशेषता यह होती है कि वह श्वेत रंग का होता है। इन विभिन्नताओं के कारण वे धीरे-धीरे (बौद्धों से) बिल्कुल भिन्न हो गए हैं। वे अपने 'देवगुरु' की मूर्तियों को बुद्ध की मूर्तियों की भाँति बनवाने का साहस करते हैं। केवल वस्त्र का अंतर रहता है और वही उन का विशेष चिह्न होता है[1]।"

बाण बतलाता है कि सम्राट् हर्ष के दर्शकों में बहुसंख्यक जैन क्षपणक थे। दिवाकर मित्र के आश्रम में भी जैन भिक्षु थे। ह्वेनसांग के कथनानुसार ज्ञात होता है कि जैनधर्म अभी तक कोई प्रसिद्ध धर्म नहीं हो सका था। उस के अनुयायी प्रधानतः पंजाब, बंगाल तथा दक्षिण के छोटे-छोटे प्रदेशों ही में पाए जाते थे। पुंड्रवर्द्धन में दिगंबर निर्ग्रंथों की संख्या बहुत अधिक थी[2]। समतट में भी दिगंबर भिक्षु बहुत थे[3]। यह बात उल्लेखनीय है कि इस समय बंगाल में सभी प्रधान धर्मों के प्रतिनिधि उचित संख्या में वर्तमान थे। विभिन्न संप्रदायों के बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव तथा वैदिक धर्मानुयायी वहां रहते थे।

जैनधर्म ने दक्षिण में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, यद्यपि ब्राह्मण धर्म के वैदिक तथा पौराणिक अंगों की उन्नति उस की अपेक्षा कहीं अधिक हुई थी। ऐहोड़े लेख का लेखक रविकीर्ति एक जैन था और पुलकेशी द्वितीय ने उसे आश्रय प्रदान किया था। पुलकेशी के उत्तराधिकारियों ने जैनधर्म को आश्रय एवं प्रोत्साहन दिया था। कांची में ह्वेनसांग को बहुसंख्यक जैन-मंदिर देखने को मिले थे[4]। इस के अतिरिक्त, दिगंबर संप्रदाय के बहुसंख्यक अनुयायी भी थे। किंतु पल्लव-राजा महेंद्रविक्रम वर्मा ने शैवधर्म को एक नवीन शक्ति प्रदान की थी। सुदूर दक्षिण में शैवधर्म ही प्रभावशाली था।

ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म तीनों मूर्ति-पूजा तथा अंधविश्वास में पूर्णतया निमग्न थे। इस समय भारत में हज़ारों मंदिर तथा विहार थे और उनमें हज़ारों

---

[1]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ २५१
[2]वही, जिल्द २, पृष्ठ १८४
[3]वही, पृष्ठ १८७
[4]वही, पृष्ठ २२६

देवी-देवताओं, बुद्धों, बोधिसत्वों तथा तीर्थंकरों की पूजा होती थी। वे अलौकिक शक्ति से संपन्न माने जाते थे। लोगों का विश्वास था कि बुद्ध के शरीरावयव में अद्भुत शक्ति है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इस अलौकिक शक्ति की बहुसंख्यक कथाओं का वर्णन करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि धार्मिक सहिष्णुता का भाव सब जगह नहीं फैला था। महाराज हर्ष ने स्वयं सांप्रदायिक वैमनस्य का परिचय दिया था। पल्लव-राजा महेंद्रविक्रम जैनियों को उत्पीड़ित करता था और शशांक तो धर्मांधता का मानो अवतार ही था। सब बातों पर विचार करते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि देश की धार्मिक अवस्था अच्छी नहीं थी। धार्मिक पद्धतियों में सुधार की अनिवार्य आवश्यकता थी। इस आवश्यकता ने ही कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य जैसे लोगों को उत्पन्न किया। उन्हों ने बौद्धधर्म का तो एक प्रकार से सर्वनाश ही कर दिया और ब्राह्मणधर्म के अंदर जो आवर्ज्जनाएं भर गई थीं, उन्हें भी बड़ी सावधानता के साथ साफ़ किया।

त्रयोदश अध्याय

शिक्षा और साहित्य

हर्षकालीन भारत में, विशेष कर ब्राह्मणों तथा श्रमणों में, शिक्षा का प्रायः पर्याप्त प्रचार था। यद्यपि यह बतलाना संभव नहीं है कि साधारण लोग शिक्षा से कितना लाभ उठाते थे और देश में कितने प्रतिशत लोग साक्षर अथवा शिक्षित थे; किंतु एतत्संबंधी जो ऐतिहासिक सामग्रियां उपलब्ध हैं, उन के आधार पर हम उस काल की शिक्षा-प्रणाली तथा पाठ्य-विषयों का खासा अच्छा विवरण दे सकते हैं।

देश में बहुसंख्यक शिक्षण-संस्थाएं थीं, जिन्हें 'गुरुकुल' कहते थे। इन शिक्षालयों में आचार्य तथा उपाध्याय अपने शिष्यों को वेद और शास्त्र पढ़ाते थे। उपनयन संस्कार के उपरांत, द्विज किसी गुरुकुल में प्रवेश करता था। वहां बड़े-बड़े उपाध्याय ब्रह्मचारियों को वेद और वेदांगों की शिक्षा देते थे। बाण अपने गुरु-गृह से चौदह वर्ष की अवस्था में स्नातक हो कर लौटा था[1]। गुरुकुल में बाण ने अपनी शाखा के वेद में अवश्य ही गति प्राप्त कर ली होगी। वहां से लौटने के बाद, विवाह के समय तक, उस के अध्ययन का क्रम अबाध गति से जारी था[2]। जब पहले-पहल वह सम्राट् से मिला था, तब उस ने बतलाया था कि मैंने षड़ंग सहित वेदों का पूर्ण अध्ययन किया है। इस के अतिरिक्त मैंने यथाशक्ति शास्त्रों की व्याख्या भी सुनी है।[3] गुरुकुल में वह अधिक समय

---

[1] कृतोपनयनादिक्रियाकलापस्य समावृत्तस्य चास्य चतुर्दशवर्षदेशीयस्य पितापि ....अस्तमगमत्—'हर्षचरित', पृष्ठ ६६। एक हस्तलिखित प्रति में 'अधीतवेदस्य' (वेदों को पढ़कर) पाठ है।

[2] सति च अविच्छिन्नविद्याप्रसंगे—'हर्षचरित', पृष्ठ ३६

[3] सम्यक् पठितः सांगो वेदः श्रुतानि च यथाशक्ति शास्त्राणि—'हर्षचरित', पृष्ठ १२३

बाण के गाँव की भाँति ब्राह्मणों की बस्तियां[1] भी देश में बहुत रही होंगी। इन के अतिरिक्त बहुत सी परिषदें अथवा गोष्ठियां थीं, जो अमूल्य वाद-विवाद में संलग्न रहती थीं[2]। ये गोष्ठियां चिरकाल से प्रचलित संस्थाएं थीं। उन का उल्लेख उपनिषदों में भी मिलता है। ये विद्वानों की सभाएं थी। संभव हो सकता है कि यहां विविध विद्याओं में अपनी विद्वत्ता का संतोष-जनक प्रमाण दे कर विद्वान लोग उपाधियां प्राप्त करते रहे हों।

बाण के चारों भाइयों—गणपति, अधिपति, तारापति तथा श्यामल की योग्यता एवं विद्वत्ता से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उस काल के ब्राह्मण-अध्यापकों का पांडित्य कितना प्रगाढ़ होता था। वे प्रसन्न वृत्ति वाले, सुशिक्षित, गुरुपदधारी, न्याय के ज्ञाता, योग्यतापूर्ण ग्रंथों का प्रगाढ़ अध्ययन करने वाले, इस लोक की भाँति व्याकरण-शास्त्र में भी 'साधु' संज्ञा को प्राप्त करने वाले (लोक में सब लोग उन्हें साधु-साधु करते थे और व्याकरण में वे साधु अर्थात् सुसंस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे), प्राचीन काल के सभी राजाओं और मुनियों के चरित्र से अभिज्ञ समस्त पुराण, इतिहास तथा महाभारत से परिचित, बड़े विद्वान तथा महाकवि, महापुरुषों की कथाएं सुनने के लिए उत्सुक, तथा सुभाषित पदों के श्रवण से प्राप्त होने वाले रस के प्यासे थे[3]। इस

---

[1]ब्राह्मणाधिवासः—'हर्षचरित', पृष्ठ १२६

[2]महार्हालापगंभीराः—'हर्षचरित', पृष्ठ ६८

[3]प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्या कृतगुरुपदन्यासा न्यायवेदिनः सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धासाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि सकलपुराणराजर्षिचरिताभिज्ञः महाभारतभावितात्मानो विदितसकलेतिहासा महाविद्वांसो महाकवयो महापुरुषवृत्तांतकुतूहलिनः सुभाषितश्रवणरसायनावितृष्णाः।—'हर्षचरित', पृष्ठ ६८

(१) प्रसन्नवृत्तयः=प्रसन्ना शुद्धा सुबोद्ध च वृत्तिवर्त्तनं सूत्रविवरणं च। अर्थात् शुद्ध आचरण के अथवा वृत्ति=सूत्र विवरण के ग्रंथ को अच्छी तरह से समझनेवाले। (२) गृहीतवाक्या=गृहीतमादृतं ज्ञातार्थं च वाक्यं विवरणं वार्त्तिकं च यत्कारणात् कात्यायनो वार्त्तिककार उच्यते। अर्थात् जो कात्यायन कृत वार्त्तिक में पारंगत थे अथवा जो अच्छे-अच्छे वाक्यों का आदर करते थे। (३) कृतगुरुपदन्यासः=कृतोगुरूणां संबंधिनि पदे स्थाने न्यासः स्थितिर्येषां। अर्थात् जो गुरु या आचार्य के पद को धारण करनेवाले थे अथवा कृतो अभ्यस्तोगुरुपदे दुर्वोधशब्दे न्यासो वृत्तिः विवरणं यैः, अर्थात् दुर्बोध शब्दों का विश्लेषण करने में अभ्यस्त थे। (४) न्यायवेदिनः=जो न्यायशास्त्र के ज्ञाता थे अथवा जिन्हें न्याय-विचार का ज्ञान था। (५) सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवः=सुकृतं पुण्यं सुष्ठुविहितं च संग्रहः संचयो व्याकरणे व्याडिकृतो ग्रंथश्च। गुरवः महंति-उपाध्यायाश्च। अर्थात् जो पुण्य कर्मों के समूह का अनुष्ठान करने के बड़प्पन को प्राप्त कर चुके थे अथवा जो व्याडिकृत 'संग्रह' नामक ग्रंथ के अध्यापक थे।

मेरी सम्मति में 'प्रसन्नवृत्तयः' पद का वृत्ति शब्द, जयादित्य-वामन रचित 'वृत्तिसूत्र' नामक ग्रंथ को—जिसे साधारणतः 'काशिका' कहते हैं, सूचित करता है। चीनी यात्री इत्सिंग 'वृत्तिसूत्र' का उल्लेख करता है—देखिए, तककुसू द्वारा संपादित इत्सिंग का 'रिकार्ड्स

पद में श्लेषात्मक शब्दों के प्रयोग-द्वारा 'वृत्तिः' अर्थात् सूत्र-विवरण तथा व्याडिकृत 'संग्रह' नामक ग्रंथ की ओर संकेत किया। बाण के उद्‌भट विद्वान भातृगण अपने विद्यार्थियों को ये ग्रंथ अवश्य पढ़ाते रहे होंगे।

ह्वेनसांग ने भी अपने ग्रंथ सि-यू-की में तत्कालीन प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख किया है। बच्चों की शिक्षा 'सिद्धम् चंग' से प्रारंभ होती थी। यह उन की प्राइमर थी। इस के प्रथम अध्याय के ऊपर 'सिद्धम्' लिखा रहता था, इसी से इस पुस्तक का यह नाम पड़ा। सिद्धम् लिखने का अभिप्राय यह था कि पढ़नेवाले को सिद्धि अथवा सफलता प्राप्त हो। इस में संदेह नहीं है कि बौद्ध तथा बौद्धेतर धर्मानुयायियों के लिए वर्ण-परिचय-संबंधी ऐसी अनेक पुस्तकें भारत में प्रचलित थीं। 'सिद्धम्' को समाप्त कर लेने पर, बालक को सात वर्ष की अवस्था में पंच-विद्याओं के शास्त्रों की पढ़ाई प्रारंभ कराई जाती थी। इन पाँचों विद्याओं के नाम ये थे—(१) शब्द-विद्या—जिसे प्रायः व्याकरण कहा जाता था (२) शिल्पस्थान - विद्या अर्थात् वह विद्या जिस से नाना प्रकार के शिल्पों तथा कलाओं की शिक्षा मिलती थी। (३) चिकित्सा-विद्या (४) हेतु-विद्या (न्याय अथवा तर्क) तथा अध्यात्म-विद्या (आत्म-विषयक विद्या अथवा दर्शन शास्त्र)[1]। ह्वेनसांग का यह भी कथन है कि ब्राह्मण लोग चारों वेदों का अध्ययन करते थे[2]। वेदों के शिक्षकों के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें स्वयं चारों वेदों का सम्यक् ज्ञान हो और वे उन के सूक्ष्म तत्वों को पूर्णतया समझते हों।

ह्वेनसांग के इस विवरण का समर्थन इत्सिंग भी करता है, जिस ने उस के कुछ समय बाद (६७२ से ६८८ के दर्मियान) भारत तथा अन्य बौद्ध देशों का भ्रमण किया। वह लिखता है कि बच्चों की शिक्षा का आरंभ 'सिद्धिरस्तु' नामक पुस्तक से होता था। उस का कथन है कि इस में वर्णमाला के ४६ अक्षर तथा स्वरों और व्यंजनों की दस हज़ार से भी अधिक मात्राएं होती थीं। ये सब ३०० श्लोकों में विन्यस्त थे। 'सिद्धिरस्तु' पुस्तक को बच्चे ६ वर्ष की अवस्था में प्रारंभ करते थे और उसे ६ महीने में समाप्त करते थे। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् बच्चे व्याकरण की पढ़ाई प्रारंभ करते थे। शिक्षा के पाठ्य-क्रम में व्याकरण को प्रधान स्थान दिया गया था। पाणिनि का व्याकरण ही सारे देश में सब से अधिक प्रचलित था। व्याकरण की पढ़ाई पाणिनि की अष्टाध्यायी से आठ वर्ष की अवस्था से शुरू होती थी, जिसे बच्चे आठ महीने में कंठ कर लेते थे। अष्टाध्यायी को समाप्त करने के बाद वे 'धातुपाठ' प्रारंभ करते थे। उस के समाप्त

आफ़ बुद्धिस्ट रेलिजन'—पृष्ठ १७६। जयादित्य की मृत्यु ६६१-६२ ई० में हुई थी। अतः उस ने अपने ग्रंथ को हर्ष के शासन-काल में अवश्य ही रचा होगा और संभव है कि बाण इस ग्रंथ से परिचित रहा हो। इसी तरह संभव है कि 'गृहीतवाक्य' पद के 'वाक्य' शब्द से भर्तृहरि-रचित वाक्यप्रदीप ग्रंथ का अभिप्राय हो।

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १५५

[2] वही, पृष्ठ १५६

होने पर ब्रह्मचारीगण दस वर्ष की अवस्था में तीन 'खिलों' का अध्ययन शुरू करते थे, उस में अष्टधातु, मुंड तथा उणादि सम्मिलित थे। अष्टधातु में सुबंत, तिङंत तथा दस लकारों का, मुंड में प्रत्ययों के योग से शब्द-निर्माण का तथा उणादि में प्रत्यय के योग से शब्द-गठन-संबंधी कुछ विशेष विधियों का वर्णन रहता था।

व्याकरण के प्रारंभिक पाठ्य-क्रम की अंतिम पुस्तक जयादित्य वामन की काशिका-वृत्ति थी। यह पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक टीका है। काशिका-वृत्ति का अध्ययन १५ वर्ष की अवस्था में प्रारंभ किया जाता था और उसे पूर्ण-रूप से अध्ययन करने में तीन वर्ष तक खूब परिश्रम करना पड़ता था। इत्सिंग का कथन है कि चीन से जो कोई भी अध्ययन करने के लिए भारत आता था, उस के लिए काशिका-वृत्ति की पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त करना अनिवार्य था। इस से बिना उस का सारा परिश्रम निरर्थक था। व्याकरण की अन्य पुस्तकों के साथ, जिन का उल्लेख ऊपर किया गया है, यह ग्रंथ भी कंठाग्र किया जाता था। काशिका-वृत्ति में पूर्ण गति हो जाने के बाद, विद्यार्थी को गद्य और पद्य रचना की कला सीखनी होती थी। सुंदर गद्य और पद्य के नमूनों में इत्सिंग आर्यसर की 'जातक-माला' तथा नागार्जुन के 'सुहल्लेख' का उल्लेख करता है। इस प्रकार प्रारंभिक शिक्षा के समाप्त होने पर विद्यार्थीगण पंचविद्या-संबंधी उच्च शिक्षा ग्रहण करना आरंभ करते थे। वे हेतु-विद्या तथा वसुबंधु रचित 'अभिधर्मकोष' के अध्ययन में लग जाते थे। 'अभिधर्मकोष' सर्वास्तिवाद नामक बौद्धदर्शन का एक ग्रंथ है। 'अभिधर्मकोष' के अतिरिक्त विद्यार्थी नागार्जुन-कृत 'न्यायद्वार' तारकशास्त्र के अध्ययन द्वारा ठीक तौर पर अनुमान करना सीखते थे। उस के उपरांत वे किसी विषय के विशेषज्ञ बनने के योग्य समझे जाते थे। वे या तो नालंदा के संघाराम में अथवा वलभी में दो-तीन वर्ष रहकर विशेषज्ञ बनते थे। नालंदा तथा वलभी शिक्षा के दो महान केंद्र थे। जिन विषयों की विशेष अभिज्ञता प्राप्त की जाती थी, उन में से एक व्याकरण था। इस विषय का प्रथम उच्च ग्रंथ चूर्णि, अर्थात् पतंजलि का महाभाष्य था। यह तीन साल में समाप्त होता था। इस के पश्चात् प्रसिद्ध कवि एवं दार्शनिक भर्तृहरि द्वारा रचित 'भर्तृहरि-शास्त्र' तथा 'वाक्यपदीप' नामक दो ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ता था। 'भर्तृहरिशास्त्र' उक्त महाभाष्य पर एक टीका-ग्रंथ था। अंत में पेइ-न (संभवतः संस्कृत बेड़ावृत्ति) का अध्ययन किया जाता था। इस मूलग्रंथ की रचना भर्तृहरि ने ३००० श्लोकों में की थी। उन के समकालीन धर्मपाल ने उस पर १४००० श्लोकों में एक टीका लिखी[1]।

यह शिक्षा-क्रम प्रत्येक विद्यार्थी के लिए नहीं था, बल्कि केवल उन्हीं लोगों के लिए था जो पूर्ण पंडित बनना चाहते थे। किंतु ऐसे भी लोग थे जिन को उक्त विषयों की इतनी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी, वे कुछ और व्यावहारिक तथा औद्योगिक ढंग की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। उदाहरणार्थ, वैश्य जाति के युवक जिन के जीवन का प्रधान व्यवसाय वाणिज्य करना था वार्ता और संभवतः शिल्पशास्त्र का अध्ययन करते थे।

---

[1]इत्सिंग, 'रिकार्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन, तककुसू', पृष्ठ १६९-१८०

क्षत्रिय लोग धनुर्विद्या सीखते तथा अर्थशास्त्र पढ़ते थे। अर्थशास्त्र राजनीति के सिद्धांतों का ज्ञान कराता था। राजकुमारों को बड़ी सावधानी के साथ तत्कालीन कला और विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। बाण अपनी 'कादंबरी' में चंद्रापीड़ की शिक्षा का बड़ा ही मनोरंजक विवरण देता है। वह लिखता है कि वह (चंद्रापीड़) पद, वाक्य, प्रमाण, धर्मशास्त्र, राजनीति तथा व्यायाम-विषय में; चाप, चक्र, चर्म-कृपाण, शक्ति, तोमर, परशु, गदा आदि सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों में; रथ चलाने, हाथी और घोड़े पर सवार होने में; वीणा, वेणु, मुरज, कांस्यताल, दर्दुरपुट आदि बाजाओं में; भरत आदि के रचे हुए नृत्यशास्त्रों में; नारद आदि की संगीत-विद्या में; गज-शिक्षा में; घोड़े की अवस्था पहचानने में; पुरुषों के लक्षण पहचानने में; चित्र-कला एवं लक्षण-कला में; ग्रंथ-रचना की कला में; सब प्रकार के जुवे खेलने में; पक्षियों की बोली पहचानने में; ज्योतिष्-विद्या में; रत्नों की परीक्षा करने में; बढ़ई के काम में; हाथीदाँत पर काम करने में; वास्तु-विद्या (गृह-निर्माण विद्या) में; वैद्यकशास्त्र में; यंत्रों के प्रयोग में; विष के प्रभाव को नष्ट करने में; सुरंग भेद करने में; तैरने, कूदने तथा चढ़ने में; रतिशास्त्र और इंद्रजाल में; कथा, नाटक, आख्यायिका तथा काव्य में; महाभारत, पुराण, इतिहास तथा रामायण में; सब प्रकार की लिपियों और सभी देशों की भाषाओं में; सब संज्ञा (इशारे) में; सब शिल्पों में; छंदशास्त्र तथा विशेष प्रकार की अन्य कलाओं में परम कुशल था[1]।

यद्यपि यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि बाण का उपरोक्त वर्णन अतिरंजित तथा अत्युक्तिपूर्ण है; तथापि उक्त पद से इस बात का आभास अवश्य मिलता है कि उस समय के राजकुमार कितना अधिक और कितने विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे। इस के अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात होता है कि ज्ञान का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत था और कितने प्रकार की विद्याएं तथा यांत्रिक कलाएं देश में प्रचलित थीं। जिस समाज में ज्ञान का इतना अधिक प्रसार था, वह निस्संदेह सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ रहा होगा। किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अवस्था विशेषतः कुलीन समाज की ही थी। कुलीन समाज तथा मध्यश्रेणी के प्रतिष्ठित समाज की संस्कृति काफ़ी उन्नत थी; किंतु साधारण जन-समुदाय सांस्कृतिक उन्नति की प्रारंभिक अवस्था से आगे नहीं बढ़ा था।

तत्कालीन बौद्ध शिक्षा-प्रणाली की विशेषता यह थी कि मठ और विहार शिक्षा के केंद्र बन गए थे। वे वास्तव में बौद्धों के विश्वविद्यालय थे। वहां संघ के सदस्यों को उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती थी। संघ के बाहर के लोग भी जो अपने पुराने धर्म का ही अनुसरण करते थे, यहां आकर पढ़ते थे। ह्वेनसांग ने स्वयं कुछ मठों में कुछ काल तक ठहर कर ऐसे प्रकांड विद्वानों के चरणों पर बैठ कर विद्याध्ययन किया था, जिन की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। काश्मीर की राजधानी में एक प्रसिद्ध मठ था। उस मठ के प्रधान पुरोहित ने, जो वृद्धावस्था को प्राप्त था, ह्वेनसांग को अन्य बातों के अतिरिक्त कोषशास्त्र तथा हेतुविद्या का ज्ञान कराया[2]। काश्मीर के विभिन्न बौद्धमठों में कुल

[1] 'कादंबरी', पृष्ठ १२६

[2] जीवनी, पृष्ठ ७०

मिला कर दो वर्ष तक रह कर उस ने सूत्रों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया। जलंधर राज्य के नगरधर मठ में रुक कर उस ने चार मास तक सर्वास्तिवाद मत के दार्शनिक ग्रंथ 'प्रकरण-पाद-विभाषा-शास्त्र' का अध्ययन किया[1]। श्रुघ्न देश के एक मठ में संपूर्ण वर्षा-ऋतु तथा आधी वसंत-ऋतु तक ठहर कर उस ने प्रसिद्ध पुरोहित जयगुप्त से कुछ अध्ययन किया[2]। इस देश के मठों में रहनेवाले हीनयान मत के भिक्षु इतने विद्वान होते थे कि अन्य देशों के श्रमण उन के पास शंका-समाधान कराने तथा अपनी कठिनाइयों को हल कराने के लिए आया करते थे। मतिपुर में उस ने एक मठ में चार महीने तक रह कर मित्रसेन से ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र का अध्ययन किया[3], जिस में सर्वास्तिवादियों के दार्शनिक विचार थे। कान्यकुब्ज के भद्र नामक विहार में उस ने तीन महीने तक तीनों पिटकों के आचार्य वीर्यसेन से पढ़ा[4]। हिरण्य अथात् मुँगेर देश के एक मठ में वह एक वर्ष ठहरा। वहां उस ने विभाषा तथा बसुबंधु के मित्र संघभद्र द्वारा रचित न्याय-अनुसार शास्त्र नामक दो ग्रंथों का अध्ययन किया। बंगाल के पुंड्रवर्द्धन तथा कर्ण-सुवर्ण नामक देशों में ऐसे अनेक मठ थे, जो अपनी विद्या एवं विद्वत्समाज के लिए प्रसिद्ध थे।

विद्या का एक और विशेष केंद्र था, जो न केवल इसी देश के चारों कोनों तक प्रसिद्ध था, बल्कि विदेशों में भी उस की ख्याति फैली थी। यह नालंदा का विश्वविद्यालय था, जिस की महानता, उदारता तथा विद्वानों की संख्या एवं ख्याति के सामने देश की अन्य सभी शिक्षण-संस्थाएं तुच्छ थीं। यहां के विशाल कक्षों में भाँति-भाँति के दार्शनिक तथा अन्य विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। यह वास्तव में एक विश्वभारती थी, जहां से सारे देश में संस्कृति फैलती थी। नालंदा के स्नातकों का देश के प्रत्येक भाग में आदर होता था। सब लोग उन्हें विद्वान मानते थे और चारों ओर उन की ख्याति रहती थी। नालंदा का नाम ही तत्कालीन विद्या के सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम गुणों का पर्यायवाची समझा जाता था।

इस विश्वविद्यालय की स्थापना किस समय हुई थी, यह विषय विवाद-ग्रस्त है। ह्वेनसांग के समय में नालंदा केवल मठों का एक समूह था, जो ६ क्रमानुगत राजाओं द्वारा बनवाया गया था। इन ६ राजाओं में से पहिला शक्रादित्य था। उस ने बौद्धधर्म के 'त्रिरत्नों' के प्रति बड़ी भारी श्रद्धा रख कर एक मठ बनवाया। हम जानते हैं कि महेंद्रादित्य कुमार गुप्त प्रथम (४१५-४५५ ई०) की उपाधि थी और महेंद्र तथा शक्र दोनों का अर्थ एक ही है। अतः संभव है—जैसा कि फ़ादर हेरास ने सिद्ध करने की

---

[1]जीवनी, पृष्ठ ७६
[2]वही, ७६
[3]वही, ८१
[4]वही, ८४

चेष्टा की है[१] कि उक्त प्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना कुमारगुप्त प्रथम ने ही की थी। किंतु फ़ादर हेरास शक्रादित्य के अन्य उत्तराधिकारियों के संबंध में—जिन्हों ने नालंदा में मठ बनवाए—जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, वह बिल्कुल अग्राह्य प्रतीत होता है। यदि शक्रादित्य और कुमारगुप्त प्रथम दोनों एक ही व्यक्ति हैं, तब तो हमारी समझ में यह बात आ जाती है कि चीनी यात्री फ़ाह्यान—जिस ने ३६६ और ४१५ ई० के बीच भारत में भ्रमण किया—नालंदा के विषय में क्यों चुप है। शक्रादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त ने अपने पिता के सुकार्य को जारी रक्खा और नालंदा में एक दूसरा मठ बनवाया। मालूम होता है कि यह बुद्धगुप्त वही है, जिस का उल्लेख ताम्रलेखों तथा सारनाथ के शिलालेख में मिलता है और जिस ने कम-से-कम ४७७ ई० से ले कर ४९६ ई० तक शासन किया। वह संभवतः "कुमारगुप्त का सब से छोटा पुत्र और फलतः स्कंदगुप्त तथा पुरगुप्त का सहोदर अथवा सौतेला भाई था[२]।" जब ह्वेनसांग बुद्धगुप्त का वर्णन शक्रादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी के रूप में करता है तो हमें यह न समझ लेना चाहिए कि वह उस का अव्यवहित उत्तराधिकारी था। उस के उत्तराधिकारी तथागतगुप्त ने तीसरा मठ और तथागतगुप्त के उत्तराधिकारी बालादित्य ने चौथा मठ बनवाया। इस बालादित्य तथा भिटारी मुद्रावाले नरसिंहगुप्त बालादित्य को—जो पुरगुप्त के बाद गद्दी पर बैठा—एक समझने की भूल न करनी चाहिए, जैसा फ़ादर हेरास ने की है। यह बालादित्य (बालादित्य द्वितीय) एक बिल्कुल भिन्न व्यक्ति था। यह हूणों के सरदार मिहिरकुल का विजेता था और उस का प्रादुर्भाव बालादित्य प्रथम के ६० वर्ष बाद हुआ था। हेरास के इस अनुमान के साथ सहमत होना संभव है कि नालंदा विश्वविद्यालय को मिहिरकुल ने ध्वस्त किया। किंतु उस के विविध भवनों का पुनर्निर्माण नरसिंहगुप्त ने नहीं—जैसा कि वे कहते हैं—बल्कि बालादित्य द्वितीय ने किया। उस ने एक मठ अथवा संघाराम भी बनवाया। इस के अतिरिक्त उस ने एक दूसरा बड़ा बिहार भी बनवाया जो ३०० फ़ीट ऊँचा था और जो रमणीयता में 'बोधिवृक्ष के नीचे बने हुए बिहार' के सदृश था[३]। नालंदा में प्राप्त एक लेख[४] से सिद्ध होता है कि बालादित्य ने नालंदा में एक [illegible]नदार मंदिर अथवा बिहार बनवाया। जायसवाल महोदय का

---

[१]'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९२८, पृष्ठ १ तथा आगे

[२]रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंश्यंट इंडिया', पृष्ठ ३०१

[३]वाटर्स, जिल्द २ पृष्ठ १८०

[४]आसद्य पराक्रमप्रणयिना जित्वाखिलान्विद्विषो ।
बालादित्यमहानृपेण सकलम्भुक्त्वा च भूमण्डलम् ॥
प्रासादः सुमहानयम्भगवतः शौद्धोदनेरद्भुतः ।
कैलासाभिभवेच्छयेव धवलो मन्ये समुत्थापितः ॥—नालंदा का लेख, श्लोक ६; 'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द २०, पृष्ठ ३७

कथन है कि इसे उस ने हूणों पर विजय प्राप्त के स्मारक के रूप में बनवाया था[1]। यह धर्मात्मा राजा बाद को बौद्ध भिक्षु के रूप में अपने ही बनवाए हुए बिहार में रहने लगा था। बालादित्य के पुत्र वज्र ने इस विहार के पश्चिम तरफ़ एक संघाराम बनवाया। उस के पश्चात् मध्यभारत के एक राजा ने एक बड़ा मठ बनवाया। ये सब मठ एक दूसरे के पास-पास बने थे और एक ऊँची प्राचीर से घिरे थे, जिस में केवल एक फाटक था। ये मठ कई मंज़िले ऊँचे थे। महाराज हर्ष ने स्वयं पीतल का एक बिहार बनवाया जो लगभग १०० फ़ीट ऊँचा था[2]।

इन मठों के अतिरिक्त बहुत से स्तूप तथा बिहार थे, जिन में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां स्थापित थीं। इन्हीं सब इमारतों से नालंदा का विश्वविद्यालय बना था। उस का क्षेत्रफल निस्संदेह बहुत विस्तृत रहा होगा। अभी हाल में, नालंदा की जो खुदाई हुई है उस से यह कथन प्रमाणित होता है[3]। वास्तव में उस का दृश्य बड़ा ही अद्भुत था। ह्वेनसांग का जीवनचरित-कार लिखता है कि भव्यता तथा ऊँचाई में वह देश में सब से अधिक प्रसिद्ध है[4]। वह विश्वविद्यालय का—जैसा कि वह सातवीं शताब्दी में था—बड़ा सुंदर वर्णन करता है[5]।

नालंदा के संघाराम में सुदूर देश चीन तथा मंगोलिया से भी विद्यार्थी अध्ययन तथा ज्ञानवृद्धि के लिए आते थे[6]। नालंदा के आर्यसंघ के पुरोहितों और ज्ञानवृद्धि के लिए आए हुए विदेशियों की कुल संख्या ह्वेनसांग के समय में दस हज़ार से कम नहीं थी। विदेशियों के साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार किया जाता था। ह्वेनसांग जो, यहां १६ महीने तक ठहरा था, बालादित्य राज के मठ में राजा की भाँति रहता था[7]। धर्मात्मा राजाओं ने विश्वविद्यालय को प्रभूत संपत्ति प्रदान कर रक्खी थी। ह्वी-ली का कथन है कि इस "देश के राजा (संभवतः हर्ष स्वयं) पुरोहितों का आदर-सम्मान करते हैं, उन्हों ने १०० गाँवों की मालगुज़ारी बिहार को वक़्फ़ कर रक्खी है। इन गाँवों के दो सौ गृहस्थ प्रति-दिन कई सौ पिकल (१ पिकल=१३३⅓ पौ०) साधारण चावल और कई सौ कट्टी (१ कट्टी=१६० पौ०) घी और मक्खन दिया करते हैं। अतः यहां के विद्यार्थियों को जिन्हें सब वस्तुएं इतनी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं कि चारों आवश्यक

[1] जायसवाल, 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ ६१

[2] नालंदा के वर्णन के लिए देखिए, वाटर्स जिल्द २, पृष्ठ १६४-१६९ तथा जीवनी, पृष्ठ ११०-११२

[3] देखिए, 'आर्कियालाजिकल सर्वे आफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट', १९२१-२२ ई०

[4] जीवनी, पृष्ठ ११२

[5] देखिए, कला का परिच्छेद।

[6] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १६५; इत्सिंग, 'रिकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिष्ट रिलिजन—तककुसू', पृष्ठ २६

[7] प्रतिदिन उपहार-स्वरूप मिलनेवाली वस्तुओं की तालिका के लिए देखिए, जीवनी, पृष्ठ १०६

वस्तुओं को माँगने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता, उन के विद्याध्ययन की पूर्णता का जिस के लिए वे यहां आए हैं, यही साधन है[१] ।"

इस प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में विविध विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी। पाठ्य-विषयों में महायान मत तथा बौद्धधर्म के अठारह संप्रदायों के ग्रंथ सम्मिलित थे। इस के अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, योगशास्त्र, चिकित्सा-विद्या, तांत्रिक ग्रंथों तथा सांख्य-दर्शन के ग्रंथों का भी अध्ययन होता था। शिक्षा व्याख्यानों द्वारा दी जाती थी। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देते थे और ऐसे व्याख्यान प्रतिदिन सैकड़ों दिए जाते थे। प्रत्येक विद्यार्थी इन व्याख्यानों को सुनने के लिए—चाहे एक ही मिनट के लिए हो, अवश्य उपस्थित होता था। व्याख्यान-मंडलों द्वारा दी जानेवाली शिक्षा के अतिरिक्त एक और प्रकार की शिक्षा का क्रम था, जिसे समद्दर महाशय ने औपध्यायिक शिक्षा (वह शिक्षा जिसे शिष्य गुरु की सेवा के द्वारा प्राप्त करता था) कहा है[२]। नवागंतुक व्यक्ति जो संघ का सदस्य बनता था पहले एक उपाध्याय के सुपुर्द कर दिया जाता था। उस की सेवा में वह विद्यार्थी अपने को अर्पण कर देता था। उपाध्याय अपने शिष्य को अपने पुत्र की भाँति मानता था और उसे त्रिपिटिक अथवा अन्य किसी विषय का पाठ देता था। विद्यार्थी का धर्म था कि वह अपने आचार्य अथवा उपाध्याय की सेवा बड़ी श्रद्धा के साथ करे। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का यही मुख्य सिद्धांत था। इस के बदले आचार्य न केवल उस की समुचित शिक्षा के लिए ही, बल्कि उस की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी अपने को दायी समझता था[३]।

नालंदा विश्वविद्यालय के व्याख्यान-मंडलों का प्रवेश-नियम सचमुच बड़ा कठिन था। शिक्षा का मान इतना ऊँचा था कि जो विश्वविद्यालय में भर्ती हो कर वाद-विवाद में भाग लेने की अभिलाषा करते थे, उन्हें पहले द्वार-पंडित के साथ विवाद करना पड़ता था। वह ऐसे कठिन प्रश्न पूछता था कि यदि १० विद्यार्थी उस की परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे, तो सात या आठ फ़ेल होते थे। विश्वविद्यालय ने ऐसे विद्वानों का एक समुदाय पैदा कर दिया, जो अपने विषयों के अजेय पंडित समझे जाते थे[४]। उन की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि देश में और कोई भी उन की समनता करने का साहस नहीं कर सकता था। वास्तव में वह एक आश्चर्यजनक विश्वविद्यालय था और उस में प्रगाढ़ पांडित्यपूर्ण विद्वान सैकड़ों की संख्या में थे। एक हज़ार व्यक्ति ऐसे थे जो सूत्रों और शास्त्रों के बीच संग्रहों का अर्थ समझा सकते थे। ५०० व्यक्ति ऐसे थे जो

---

[१]जीवनी, पृष्ठ ११२-११३

[२]समद्दर—'ग्लोरीज़ आफ़ मगध'—पृष्ठ १३८

[३]गुरु एवं शिष्य के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन देखिए—'इत्सिङ्ग; रेकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिष्ट रेलिजन', पचीसवें अध्याय में, पृष्ठ ११६ तथा आगे।

[४]समद्दर—'ग्लोरीज़ आफ़ मगध'—पृष्ठ १२७

३० संग्रहों को और धर्म के आचार्य को ले कर १० ऐसे थे जो ५० संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे। अकेले शीलभद्र ही ऐसे थे जिन्हों ने इन सब ग्रंथों को पढ़ा और समझा था[1]।

६३५ ई० में जिस समय ह्वेनसांग वहां पहुँचा था उस समय शीलभद्र नालंदा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। उन्हों ने सूत्रों एवं शास्त्रों के समस्त संग्रहों को पढ़कर हृदयंगम कर लिया था। उन के पूर्व उस पद पर उन के प्रसिद्ध गुरु धर्मपाल प्रतिष्ठित थे। धर्मपाल भर्तृहरि के समकालीन थे। शीलभद्र समतट के राजकीय वंश के एक ब्राह्मण थे। किंतु वे राजमहल के आनंद-विलास और श्री-ऐश्वर्य-संपत्ति के प्रलोभन में फँसे न रह सके। अपनी बाल्यावस्था से ही वे विद्या तथा संगीत के प्रेमी थे[2]; अतः किसी ज्ञानी पुरुष की तलाश में वे अपना घर छोड़ कर निकल पड़े। यद्यपि उन्हों ने देश में दूर-दूर तक भ्रमण किया; किंतु उन्हें अपने मन का कोई ऐसा ज्ञानी व्यक्ति नहीं मिला, जो उन की आत्माभिलाषा तथा ज्ञान-पिपासा को तृप्त कर सकता। निदान भाग्य ने उन की सहायता की और वे नालंदा चले आए। यहां आ कर वे धर्मपाल से मिले। जिस ज्ञानी पुरुष की खोज में वे बहुत दिनों तक भटके थे उस से अब उन का साक्षात्कार हो गया। धर्मपाल को उन्हों ने तुरंत अपना गुरु बना लिया और स्वयं विधिपूर्वक भिक्षु का वेष धारण किया। इस युवक भिक्षु ने शीघ्र ही अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय दिया। अपने अध्ययन में उन्हों ने इतनी अधिक उन्नति की कि लगभग ३० वर्ष की अवस्था में वे धर्मपाल के शिष्यों में सब से अधिक प्रसिद्ध हो गए। बौद्धदर्शन की बारीकियों के संबंध में वे अपनी धारणा-शक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। उन्हों ने वाद-विवाद में दक्षिणी भारत के एक विपक्षी ब्राह्मण को पराजित कर दिया। जब राजा ने उन को पुरस्कार-स्वरूप एक नगर जागीर में देने का प्रस्ताव किया, तब एक सच्चे परिब्राजक की भाँति उन्हों ने उसे लेने से इन्कार कर दिया; किंतु बाद को विवश किए जाने पर उन्हों ने उस उपहार को स्वीकार कर लिया। उस की आमदनी को एक मठ के खर्चे में लगा कर, जिसे बौद्धधर्म की उन्नति के लिए स्वयं बनवाया था, उन्हों ने यह दिखला दिया कि सांसारिक वस्तुओं का मुझे कुछ भी मोह नहीं है।

शीलभद्र एक बड़े प्रसिद्ध ग्रंथकार थे। बौद्धदर्शन विशेषतः योगाचार संप्रदाय की सूक्ष्म बातों को समझाने के लिए उन्हों ने व्याख्यात्मक टीकाएं रचीं। लंका के विद्वान भिक्षु भी उस से अधिक अच्छा अर्थ नहीं बता सकते थे। शीलभद्र की विद्वत्ता की ख्याति विदेशों में भी पहुँच चुकी थी। ह्वेनसांग कई महीने तक उन के चरणों में बैठ कर योगदर्शन के गूढ़ तत्वों को समझता रहा। ६३५ ई० में जिस समय ह्वेनसांग नालंदा पहुँचा था, उस समय शीलभद्र की अवस्था अधिक थी। शीलभद्र को ह्वेनसांग ने 'यंग-फा-त्संग' (सत्य एवं धर्म का भंडार) लिखा है। नालंदा के अन्य प्रसिद्ध आचार्यों में, जिन का नामोल्लेख ह्वेनसांग ने किया है, वे ये हैं—धर्मपाल जो शीलभद्र के गुरु और

---

[1]जीवनी, पृष्ठ ११२

[2]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १०६

नालंदा के पूर्वगामी अध्यक्ष थे; चंद्रपाल, गुणमति तथा स्थिरमति जिन की ख्याति समकालीन व्यक्तियों में बहुत अधिक थी; प्रभामित्र जिस के तर्क खूब स्पष्ट होते थे; जिनमित्र जिन का संभाषण बड़ा सुंदर होता था और ज्ञानचंद्र जिन का चरित्र आदर्श और मति प्रत्युत्पन्न थी। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त वहां अन्य प्रतिष्ठित विद्वान भी थे, जिन की विद्या का प्रकाश देश में फैला था। ऐसी अवस्था में यह बात अधिक आश्चर्य-जनक नहीं है कि विदेशों से भी विद्या के जिज्ञासु लोग अपनी शंकाओं का निवारण कराने के लिए इस विश्वविद्यालय में आते थे और प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते थे। नालंदा के नाम ही में सचमुच कुछ जादू था। उस ने इस देश को संसार के अन्य देशों की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया और सत्य के जिज्ञासुओं के लिए इसे एक तीर्थस्थान बना दिया।

नालंदा सब से अनोखी और निराली संस्था थी। उस की बराबरी करना किसी दूसरी संस्था के लिए संभव नहीं था। नालंदा के अतिरिक्त भी देश में विद्या के अन्य अनेक केंद्र थे। वलभी भी उस समय विद्या का एक सुविख्यात केंद्र था। नालंदा आने के पूर्व गुणमति तथा स्थिरमति उस नगर में रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। उन के रचे हुए ग्रंथ बौद्ध-समाज में दूर-दूर तक पढ़े जाते थे[1]। इत्सिंग लिखता है कि इस प्रकार शिक्षा प्राप्त कर के (काशिका, न्यायद्वार, तारकशास्त्र और जातकमाला पढ़ चुकने के बाद) विद्यार्थीगण प्रायः दो-तीन वर्ष मध्यदेश के नालंदा मठ में अथवा पश्चिमी भारत के वलभी देश में व्यतीत करते हैं,.........वहां पर सर्वगुण-संपन्न तथा सुख्याति-लब्ध व्यक्ति बड़ी संख्या में एकत्रित होते हैं।[2] सिप्रा नदी के तट पर स्थित उज्जयिनी में विद्या तथा संस्कृति का एक दूसरा केंद्र था। वहां के निवासी 'विदेशी भाषाओं में कुशल', शास्त्रों के प्रेमी और संपूर्ण कलाओं के उस्ताद होते थे।[3] दक्षिण में कांची कवियों तथा बौद्ध आदि विद्वानों का एक केंद्र थी। यही धर्मपाल की जन्म-भूमि थी। इस नगर में पल्लव राजाओं की उदारतापूर्ण संरक्षकता में विद्या की बड़ी उन्नति हुई।

बनारस में ब्राह्मणों की विद्या—श्रुति, स्मृति आदि की बड़ी उन्नति हुई। वहां के निवासी बड़े मनोयोग के साथ विद्याध्ययन करते थे[4]। यद्यपि वह शैवधर्म का केंद्रस्थल था; तथापि बौद्धधर्म और बौद्धधर्म की विद्वत्ता का आदर-सम्मान वहां कम न था। विद्या के अन्य बहुसंख्यक केंद्र भी थे जिन में हिंदू तथा बौद्ध मुनियों के आश्रम भी सम्मिलित थे। उदाहरणार्थ हम दिवाकरमित्र के आश्रम का उल्लेख कर सकते हैं, जहां पर हर्ष अपनी

---

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ २४६

[2]इत्सिंग, 'रेकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिष्ट रेलिजन-तककुसू', पृष्ठ १७७

[3]शिक्षितादेशभाषेण वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेन सर्वलिपिज्ञेन महाभारतपुराणरामायणानुरागिणाबृहत्कथाकुशलेन धूतादिकलाकलापपारगेण विलासिजनेनाधिष्ठता उज्जीयिनी नाम नगरी—'कादंबरी', पृष्ठ ८९

[4]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ४७

बहिन की खोज के संबंध में गए थे। वह आश्रम विंध्यवन के सघन भाग में स्थित था। वहां पर विभिन्न संप्रदायों के विद्यार्थी विद्याध्ययन करने के लिए आते थे, जैसे—जैन, भागवत, शैव, लोकायतिक (नास्तिकों का संप्रदाय-विशेष) तथा विभिन्न दर्शन के अनुयायी; जैसे, कापिल, काणाद, औपनिषक तथा ऐश्वरकारणिक आदि। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इस आश्रम में सब अपने-अपने संप्रदाय के सिद्धांतों का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते थे। वहां ऐसे विद्वान् भी थे जो शाक्य-शास्त्रों में दक्ष थे। वसुबंधु का अभिधर्म कोष उन के अध्ययन का एक विषय था। इस आश्रम के 'त्रिशरण' के अनुयायी 'बोधिसत्वजातक' को, जो उस समय सुंदर गद्य और पद्य का नमूना समझा जाता था, पढ़ते थे[1]।

इस प्रकार विभिन्न साधनों से हमें ज्ञात होता है कि महाराज हर्ष के समय में शिक्षा की अवस्था अच्छी थी। भारत विद्वानों का देश था। देश में चारों ओर गुरुकुल, आश्रम तथा संघाराम स्थापित थे। इन संस्थाओं में विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा-प्रणाली की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि शिक्षा को धार्मिक उपदेश एवं अनुशासन का एक अंग समझा जाता था। जीविकोपार्जन से उस का अधिक संबंध नहीं था, यद्यपि हम जानते हैं कि नालंदा के स्नातक उपयुक्त सरकारी नौकरी के लिए प्रार्थी होते थे। इस के अतिरिक्त विद्या गुरुमुखी थी, अर्थात् गुरु के चरणों में बैठ कर ही उसे प्राप्त किया जाता था। कोई व्यक्ति जब तक किसी गुरु से पढ़ता नहीं था, तब तक वह अपने अध्ययन के विषय में पारंगत नहीं हो सकता था। स्त्री-शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की गई थी। राज्यश्री का उदाहरण हमारे सामने है। वह श्रीहर्ष के पीछे बैठ कर बौद्धधर्म पर चीनी यात्री ह्वेनसांग के व्याख्यानों को सुनती थी। उस काल में प्रायः सभी राजकुमारियां बड़ी शिक्षिता और गुणवती होती थीं।

धार्मिक तथा लौकिक साहित्य

बाण ने कादंबरी में उज्जयिनी का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही मनोरंजक है। उस वर्णन के अंतर्गत उस साहित्य का उल्लेख किया गया है जो नागरिकों को प्रिय था। उस का वर्णन इस प्रकार है—"वे हँसी खुशी बात-चीत करते हैं, परिहास में निपुण होते हैं, वे सब प्रकार की कथाओं से पूर्णतः परिचित है, महाभारत, पुराण और रामायण से खूब प्रसन्न रहते हैं, बृहत्कथा से परिचित हैं[2]··· ।"

आगे चल कर उज्जयिनी का वर्णन इन शब्दों में किया गया है 'हरिवंश कथेव अनेक बाल-क्रीड़ा रमणीया'[3] अर्थात् जिस प्रकार हरिवंश-कथा (कृष्ण की) बाल-क्रीड़ा

---

[1] 'हर्षचरित', पृष्ठ ३१६

[2] स्मितपूर्वाभिभाषिणा परिहासपेशलेन ोज्ज्वलवेषण···········आख्यायिकाख्यान-परिचयचतुरेण महाभारतपुराणरामायणानुरागिणाबृहत्कथाकुशलेन—'कादंबरी', पृष्ठ ८७

[3] 'कादंबरी', पृष्ठ ८९

के वर्णन से मनोहर लगती है, उसी प्रकार उज्जयिनी नगरी भी अनेक बालकों के खेल-कूद से सुंदर प्रतीत होती थी। ज्ञात होता है कि रामायण, महाभारत, पुराण और हरिवंश कथा का लोगों में प्रायः बड़ा प्रचार था। इन ग्रंथों में वर्णित कथाओं तथा घटनाओं को पढ़ कर लोग आनंद, नैतिक लाभ तथा आध्यात्मिक शांति लाभ करते थे। वे आत्मा को ऊपर उठानेवाली थीं। श्रद्धापूर्वक उन का पाठ करना पुण्य का काम समझा जाता था। अशिक्षित लोग भी उन्हें पढ़वा कर सुनते थे। भारत के इन अमर काव्यों एवं पुराणों का आदर साधु और गृहस्थ सभी करते थे। रामायण का अस्तित्व प्रायः उसी रूप में था, जिस रूप में वह आज हमारे सामने है। 'कादंबरी' में विंध्य बन में स्थित अगस्त्य-आश्रम का वर्णन करता हुआ वैशंपायन राम के जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख करता है[1]। जैसे, राम का कनक-मृग का पीछा करना, रावण द्वारा सीता का हरण, राम और लक्ष्मण का कबंध द्वारा पकड़ा जाना और पंपा झील के बाँये तट पर तालवृक्षों का वेधना आदि। राम को प्रसन्न करने के लिए जाबालि के आश्रम में रामायण का पाठ होता था[2]। चंद्रापीड़ ने रामायण, इतिहास, पुराण तथा महाभारत में बड़ी कुशलता प्राप्त की थी। बाण ने अपनी रचनाओं में श्लेषालंकार के रूप में बार-बार रामायण तथा महाभारत की कथाओं का उल्लेख किया है। उस का ऐसा करना यही प्रमाणित करता है कि तत्कालीन समाज में इन कथाओं का बड़ा प्रचार था[3]।

धर्मात्मा पुरुष और स्त्रियां रामायण ही की भाँति महाभारत का भी पाठ करती थीं, केवल आनंद के लिए नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उन्नति तथा पुण्य लाभ के अभिप्राय से। उस के अध्ययन से विद्वान लोग उत्साह एवं उत्तेजना प्राप्त करते थे। बाण के विद्वान चचेरे भाइयों को 'महाभारत भावितात्मनः' लिखा गया है, जिस का अर्थ यह है कि उन के चित्त महाभारत द्वारा अनुप्राणित थे[4]। 'कादंबरी' में लिखा है कि जिस समय चंद्रापीड़ कादंबरी से भेंट करने गया, उस समय एक स्त्री मधुर स्वर से सर्वमंगलमूल महाभारत का गान कर रही थी और कादंबरी उसे बड़े ध्यान से सुन रही थी। दो किन्नर पीछे बैठे हुए मधुमक्खिकाओं की गुंजार की भाँति बाँसुरी की मधुर सुरीली आवाज़ से तान दे रहे थे[5]।

---

[1] 'कादंबरी', पृष्ठ ८३, ८४ आदि

[2] रामानुरागो रामायणेव न यौवनेन, अर्थात् जाबालि के आश्रम में रामायण के पाठ द्वारा रामचंद्रजी के प्रति अनुराग प्रदर्शित किया जाता था, न कि स्त्रियों के प्रति युवकों का। 'कादंबरी', पृष्ठ ७३

[3] विंध्याटवी का वर्णन करता हुआ लिखता है—जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचर परिगृहीता च। दशमुखमगरीव चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुंगशालाकुला। पार्थरथपताकेव वानराक्रांता। विराटनगरीव कीचकशतावृता इत्यादि, 'कादंबरी', पृष्ठ ३९-४०

[4] 'हर्षचरित', पृष्ठ १३३

[5] किन्नरमिथुनेन मधुकरमधुराभ्यां वंशाभ्यां दत्तेताने कलगिरा गायन्त्या नारददुहित्रा पठ्यमाने च सर्वमंगल महीयसी महाभारते दत्तवधानां × × × × 'कादंबरी', समुपसृत्य सुधोवेदिकायां विन्यस्तमासनं भेजे—'कादंबरी', पृष्ठ २१४

जाबालि के आश्रम में भी महाभारत का पाठ होता था[१]। 'हर्षचरित' और 'कादंबरी' में महाभारत का तथा उस की कथाओं और उस के पात्रों का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। इस से यह प्रमाणित होता है कि महाभारत बहुत लोक-प्रिय था।

साधुओं के आश्रम तथा गृहस्थों के घरों में पुराणों का भी बड़े आदर के साथ अध्ययन किया जाता था। कथावाचक पुराण की कथाओं को सुनाया करते थे। जब बाण महाराज हर्ष के दरबार से लौट कर सोन नदी के तट पर स्थित अपने गाँव को वापस गया, तब उस ने सुदृष्टि नामक एक कथक को 'पवनप्रोक्त' नामक पुराण की एक हस्त-लिखित प्रति को गाकर पढ़ते हुए सुना[२]। 'पवनप्रोक्त' का तात्पर्य 'वायु' अथवा 'ब्रह्मांड' पुराण से हो सकता है, अधिक संभवतः 'वायुपुराण' से। मालूम होता है कि बाण के संबंधियों के घर पुराण प्रतिदिन दोनों समय प्रातः और तीसरे पहर—पढ़ा जाता था; क्योंकि एक स्थान पर लिखा है कि दिन को भोजन करने के पश्चात् जब सुदृष्टि पाठ प्रारंभ करने बैठा, तो पहले प्रातःकाल में पढ़े हुए अध्याय के अंत में लगाए हुए चिह्न तक बीच के पत्रों को पलट गया[३]। 'कादंबरी' में एक अन्य स्थल पर इस पुराण का श्लेषात्मक उल्लेख है। जाबालि के आश्रम का वर्णन करता हुआ बाण लिखता है कि केवल पुराण ही में वायु-संबंधी संभाषण मिलता था, वायु-विकार-जनित (रोगियों का) उन्मत्त प्रलाप नहीं (सुनाई देता था)।[४] इस में संदेह नहीं कि अन्य अनेक पुराण—'विष्णुपुराण', 'स्कंद' 'पुराण' आदि—वर्तमान थे। 'स्कंदपुराण' का अस्तित्व प्राचीन बँगला की एक पुस्तक से प्रमाणित होता है[५]। डा० फ़्यूरर का विश्वास था कि बाण ने अपने ग्रंथों में 'अग्निपुराण', 'भागवतपुराण', 'मार्कण्डेयपुराण' तथा वायुपुराण का उपयोग किया है। उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त बाण के समय में वृहद् कथा साहित्य भी था। इस साहित्य के अंतर्गत कथाएं, आख्यान अथवा आख्यायिकाएं सम्मिलित थीं, जो कि बहुत लोक-प्रिय थीं। कुलीन तथा साधारण समाज के लोग उन्हें पढ़-सुन कर बड़ा आनंद उठाते थे। कहा जाता है कि उज्जयिनी के लोग सब प्रकार की कथाओं में पारंगत थे[६]। दिवाकर-मित्र के आश्रम में बौद्ध जातक कथाएं जो बोधिसत्व के नाम से प्रसिद्ध थीं, पढ़ी जाती थीं। 'कादंबरी' में लिखा है कि चंद्रापीड़ कथा एवं आख्यायिका में अत्यधिक कुशल था[७]।

---

[१] यत्र च महाभारते शकुनिवधः अर्थात् जहां महाभारत में ही शकुनी के बध का वर्णन मिलता था कोई शिकारी पक्षियों को नहीं मारता था। 'कादंबरी', पृष्ठ ७२

[२] 'हर्षचरित', पृष्ठ १३२

[३] प्राभातिक प्रपाठिकच्छेद चिह्नीकृतमंतरं पत्रमुत्क्षिप्य—फ़्यूरर, पृष्ठ १३१ अध्याय ७, पृष्ठ ७२

[४] पुराणे वायु प्रलपितं—'कादंबरी', पृष्ठ ७२

[५] स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया', पृष्ठ २२

[६] आख्यायिकाख्यानपरिचय चतुरेण.........'कादंबरी', पृष्ठ २७

[७] आख्यायिकासु...............परंकौशलमवाप, 'कादंबरी', पृष्ठ ११६

इन में से बहुत-सी कथाएं और आख्यायिकाएं वृद्ध लोगों की स्मृति में सुरक्षित थीं। अन्य कथाएं लिपिबद्ध हो कर साहित्यिक रूप ग्रहण कर चुकी थीं। गुणाढ्य-रचित 'बृहत्कथा' नामक ग्रंथ एक अद्भुत कथा-ग्रंथ था, जो अब लुप्त हो गया है। उस काल के कविगण तथा साहित्यिक लोग उस के महत्व को स्वीकार करते थे। वास्तव में यह ग्रंथ साहित्यिक कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण समझा जाता था। उस समय जितने अद्भुत कथात्मक ग्रंथ उपलब्ध थे उन में यह सब से उत्कृष्ट था। 'हर्षचरित' में बाण स्वयं इस ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। वह कहता है कि महादेव की लीला की नाईं 'बृहत्कथा' किस को आश्चर्य में नहीं डाल देती? महादेव ने कामदेव को भस्म कर दिया था (समुद्दीपित कंदर्पा) और 'बृहत्कथा' के पढ़ने से काम उभड़ आता है (समुद्दीपित कंदर्पा)। महादेव ने गौरी अर्थात् पार्वती की आराधना की थी (कृतगौरी प्रसाधना) और 'बृहत्कथा' में गौरी नामक विद्या की आराधना का वर्णन है[1]। बाण की 'कादंबरी' में भी इस ग्रंथ का उल्लेख है। उज्जयिनी के लोगों का वर्णन करता हुआ बाण ने उन्हें 'बृहत्कथाकुशल' अर्थात् 'बृहत्कथा' से सुपरिचित बतलाया है[2]। सुबंधु ने, तथा दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में भी इस का उल्लेख किया है[3]। अतः इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि 'बृहत्कथा' उस काल का एक प्रधान ग्रंथ था और उस का व्यापक प्रचार था।

'बृहत्कथा' के अतिरिक्त, दूसरा कथा-ग्रंथ सुबंधु-प्रणीत 'वासवदत्ता' था[4]। यह भी एक सर्वमान्य उत्कृष्ट ग्रंथ था। बाण अपने ग्रंथ 'हर्षचरित' में अत्यधिक प्रशंसापूर्ण शब्दों में उस का उल्लेख करता है। 'हर्षचरित' की भूमिका में वह लिखता है कि "वासवदत्ता के द्वारा कवियों का गर्व सचमुच उसी प्रकार चूर हो गया (जिस समय उस का नाम उन के कानों में पड़ा) जिस प्रकार (द्रोण जैसे) ब्राह्मण गुरुओं का अभिमान पांडवों की (इंद्र-प्रदत्त) शक्ति के द्वारा (नष्ट हो गया) जब वह शक्ति कर्ण अर्थात् राधेय के निकट आई"। कुछ विद्वानों का मत है कि विशेष कर सुबंधु के 'वासवदत्ता' की

---

[1]समुद्दीपितकंदर्पा कृतगौरीप्रसाधना, हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा—'हर्षचरित', पृष्ठ ८, प्रस्तावना श्लोक १८

[2]'कादंबरी', पृष्ठ ८७

[3]भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथां—'काव्यादर्श', १-३८

[4]कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पांडुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।—'हर्षचरित', पृष्ठ ६, प्रस्तावना श्लोक १२

इस श्लोक में जिस पौराणिक कथा का उल्लेख किया गया है, वह अस्पष्ट है। मैंने शंकर की टीका का अनुसरण किया है; परंतु वास्तव में उस का निम्नलिखित अर्थ अधिक संगत एवं उपयुक्त प्रतीत होता है—'वासवदत्ता के सुनने से (कर्णगोचरम्) कवियों का गर्व वैसे ही चूर हो गया, जैसे कि (इंद्र-प्रदत्त) शक्ति से पांडवों का दर्प, जब कि वह कर्ण के पास आई।

अपेक्षा अधिक सुंदर ग्रंथ प्रस्तुत करने के लिए ही बाण ने 'कादंबरी' की रचना की। सुबंधु संभवतः बाण का समकालीन और अवस्था में उस से बड़ा था।

कथाओं तथा आख्यायिकाओं के अतिरिक्त इस काल के अन्य साहित्यिक ग्रंथ दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—काव्य और नाटक। इस समय महाकवि कालिदास के महान ग्रंथ सारे भारत में प्रसिद्ध हो चुके थे। 'हर्षचरित' की भूमिका में बाण जिस ढंग से उन का नामोल्लेख करता है उस से इस बात में संदेह करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती कि साहित्यिक मंडलियों में भारतीय शेक्सपियर का नाम सर्वसाधारण रूप से प्रसिद्ध हो गया था। 'हर्षचरित' की भूमिका में बाण पूछता है कि "कालिदास द्वारा कथित सुंदर पदों को सुन कर किसे वह आनंद नहीं होता, जो मधुमधुरिमा से सिक्त मंजरियों से प्राप्त होता है?[1]" वास्तव में कालिदास बहुत लोकप्रिय हो गए थे। अनेक छोटे-छोटे कवियों, नाटककारों तथा प्रशस्ति-लेखकों ने उन की कविता के पदों तथा भावों की अजान में नक़ल अथवा जान-बूझ कर चोरी की है[2]। बाण ऐसे कवियों का उल्लेख करता है जो चोर की भाँति पहले के लेखकों के शब्दों को बदल कर और उन की शैली के चिह्नों को छिपा कर सुकवियों की श्रेणी में परिगणित होने की लालसा रखते थे। 'पहले के लेखकों' से उस का तात्पर्य अन्य लेखकों के साथ कालिदास से से अवश्य रहा होगा।[3]

काव्यों और नाटकों का रचयिता, कालिदास के बाद, दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथकर्ता संभवतः भास था। उस के नाटकों का उल्लेख बाण प्रशंसात्मक शब्दों में करता है। वह अनेक पात्रों से पूर्ण है और उस की प्रस्तावना सूत्रधार करता है।[4] इस रहस्यपूर्ण कवि के समय के विषय में विवाद उठ खड़ा हो गया है। किंतु ज्ञात होता है कि अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि भास कवि निश्चयतः कालिदास का पूर्ववर्ती था और 'मृच्छकटिक' नामक नाटक के रचे जाने के पूर्व ही विद्यमान था। वे यह भी मानते हैं कि उन अनेक नाटकों के जो उस के नाम से ज्ञात हैं वही वास्तविक रचयिता था। कुछ थोड़े से विद्वानों का खयाल है कि त्रिवंड्रम में 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि जो नाटक भास

---

[1]निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥—'हर्षचरित', पृष्ठ ८, प्रस्तावना, श्लोक १७

अर्थात् मकरंद से सुगंधित मंजरियों की भाँति कालिदास की सुंदर-सरस युक्तियों से कौन आनंद नहीं लेता है?

[2]देखिए, मांडसोर का लेख, उस में वत्सभट्टी नामक शूद्र कवि ने उज्जयिनी का वर्णन करते समय स्पष्टतः कालिदास का सहारा लिया है।

[3]अन्यवर्णपरावृत्त्या बंधचिह्ननिगूहनैः।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते—'हर्षचरित', पृष्ठ ४, प्रस्तावना, श्लोक ७

[4]सूत्रधारकृतारम्भैः नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासः देवकुलैरिव॥ —'हर्षचरित', पृष्ठ ७, श्लोक १६

के नाम से प्रकाशित हुए हैं, वे भास के ग्रंथों के संक्षिप्त संस्करण हैं, जो कांची के पल्लव-राजा नरसिंह वर्मा द्वितीय उपनाम राजसिंह (६८०—७०० ई०) के दरबार में अभिनयार्थ रचे गए थे[1]।

'किरातार्जुनीय' का रचयिता भारवि एक दूसरा महान कवि था। बाण उस का कुछ भी उल्लेख नहीं करता, यद्यपि—जैसा कि ऐहोड़े के लेख (६३४ ई०) से प्रमाणित होता है, वह निस्संदेह बाण का पूर्ववर्ती था। इस लेख का रचयिता कवि रविकीर्ति, कालिदास तथा भारवि की कीर्ति का बखान करता है। डा० कीथ का कथन है कि बाण द्वारा उस का उल्लेख न होना यह साबित करता है कि उस का आविर्भाव बाण से इतने पहले नहीं हुआ था कि उस की प्रसिद्धि के कारण वह (बाण) उस का उल्लेख करने के लिए विवश होता[2]।

इस में संदेह नहीं कि जिस समय बाण ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय उपरोक्त सब ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य नाटक और काव्य-ग्रंथ वर्तमान थे। वह स्वयं अनेक ग्रंथकर्ताओं का उल्लेख करता है; किंतु उन में से कुछ तो ऐसे हैं जिन का हमें केवल नाम ही ज्ञात है। 'हर्षचरित' की भूमिका में वह हरिश्चंद्र के गद्य की प्रशंसा करता है; किंतु उस के संबंध में उस के नाम के अतिरिक्त हमें और कुछ भी मालूम नहीं है। उस के समय में सातवाहन-रचित 'गाथासप्तशती' नामक प्रसिद्ध पद्य-ग्रंथ साहित्यिक-प्रेमियों के लिए आनंद का विषय था। प्रवरसेन-प्रणीत सेतुबंधु नामक प्राकृत भाषा का कविता-ग्रंथ जो इस समय अज्ञात है, अपने ढंग की सुंदर कविता का एक नमूना रहा होगा। बहुत संभव है कि कालिदास के पूर्ववर्ती कवि और लेखक—जिन में से कुछ के तो अब हमें केवल नाम ही मालूम हैं—हर्ष के समय में—संस्कृत साहित्य के इतिहास के सुपरिचित व्यक्ति रहे हों। सौमिल तथा रमिल जैसे कवि और कविपुत्र जिन की स्फुट कविताएँ अब केवल संस्कृत के पद्य-संग्रहों में ही मिलती हैं, अधिक संभवतः सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में भूतकालीन कवियों के रूप में सुपरिचित थे। सब बातों पर विचार करते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह एक ऐसा काल था जिस में उस समय के सभ्य एवं सुशिक्षित कुलीन समाज के बौद्धिक आनंदोपभोग के लिए प्रथम श्रेणी की साहित्यिक कृतियों—गद्य और पद्य दोनों—की प्रचुरता थी।

अब हम संक्षेप में, इस काल के धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य का वर्णन करेंगे। न्याय, सांख्य, दर्शन इत्यादि शास्त्र यतियों तथा पंडितों के अध्ययन के विषय थे। ह्वेनसांग के भ्रमण-वृत्तांत तथा बाण के ग्रंथों में कपिलमुनि-रचित सांख्य-दर्शन का उल्लेख हम अनेक स्थलों पर पाते हैं। महाराजा प्रभाकर वर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उन के कुछ निजी सेवक, मित्र तथा मंत्री शोकाभिभूत हो संसार का परित्याग कर पहाड़ों

---

[1]आर० गोपालन, 'हिस्ट्री आफ़ दि पल्लवज़ आफ़ कांची', पृष्ठ २२२

[2]कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ १०६

में चले गए थे। वहां उन्हों ने कपिल के दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया[1]। उज्जैन नगर का वर्णन करते हुए श्लेषात्मक रूप से लिखा गया है कि उस में सांख्य-दर्शन के समान 'प्रधानपुरुषाः' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष रहते हैं। सांख्य-दर्शन प्रधान तथा पुरुष इन दो तत्वों को स्वीकार करता है[2]। नालंदा में ह्वेनसांग ने लोकायतिक-संप्रदाय के एक दार्शनिक से विवाद करते समय सांख्य-दर्शन के सिद्धांतों का खंडन विस्तार के साथ किया था[3]।

सांख्य-दर्शन की भाँति, वैशेषिक-दर्शन भी विद्या के अनेक केंद्रों में अध्ययन का विषय था। लोकायतिक दार्शनिक के साथ वाद-विवाद करते हुए चीनी यात्री ने नालंदा में इस दर्शन के सिद्धांतों का भी खंडन किया था। उस ने वैशेषिक-मत के 'सप्तपदार्थ' नामक एक ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

न्यायशास्त्र (हेतु-विद्या) अन्य दर्शनों के अध्ययन के लिए एक अनिवार्य आधार-स्वरूप था। भारतीय बौद्धों की शिक्षा के लिए जो पंचविद्याएं निर्धारित थीं, उन में से यह हेतुविद्या भी एक थी। नालंदा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी हेतुविद्या को एक प्रधान स्थान प्राप्त था। ह्वेनसांग ने इस दर्शन का विशेष अध्ययन किया था। दिवाकर मित्र के आश्रम में हमें कणाद के अनुयायी तथा ऐश्वर कारणिक अर्थात् वैशेषिक एवं नैयायिक दोनों संप्रदाय मिलते हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए न्याय का अध्ययन अनिवार्य था। इसी की सहायता से वे अपने ब्राह्मण-धर्मावलंबी विपक्षियों को पराजित करने की आशा कर सकते थे। बौद्ध श्रमणों के समाज में हेतुविद्या के जो पाठ्यग्रंथ प्रचलित थे, उन का उल्लेख इत्सिंग ने किया है। दिङ्नाग के—जिस ने हेतु-विद्या के अध्ययन में बड़ा सुधार किया—आठ शास्त्र प्रचलित थे[4]। कुछ विद्वानों के मतानुसार, दिङ्नाग का प्रादुर्भाव ईसा की छठी शताब्दी के लगभग हुआ था। उस के पीछे धर्मकीर्ति हुआ जिस का उल्लेख 'वासवदत्ता' में किया गया है। उस ने न्याय के अध्ययन में कुछ और सुधार किया। जो कोई ब्राह्मण हेतुविद्या का प्रतिष्ठित पंडित होने की अभिलाषा करता था, वह दिङ्नाग के ग्रंथों का खूब अध्ययन करता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि न्याय पर ब्राह्मणों के भी प्रसिद्ध ग्रंथ थे।

ब्राह्मणों ने पूर्वमीमांसा अथवा कर्ममीमांसा की ओर पूरा ध्यान दिया। इस दर्शन में यज्ञ-संबंधी विविध श्रुति-वाक्यों का ठीक-ठीक अर्थ निकालने के लिए सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं। बाण के पिता, चाचा और चचेरे भाई मीमांसा के पंडित थे। इस काल में मीमांसा-दर्शन के अध्ययन को पुनरुज्जीवित किया गया। महाराज हर्ष से भेंट करने के बाद ही बाण ने श्लेषात्मक शब्दों में यह वर्णन करते हुए कि हर्ष के शासन में किस प्रकार अनेक तरह की बुराइयां गायब थीं, 'वाक्यविदामधिकरणनिर्णयोः' पद

---

[1] केचितगृहीतकाषायाः कापिलम्मतमधिजगिरे—'हर्षचरित', पृष्ठ २३८

[2] सांख्यागमेनेव प्रधानपुरुषोपेतेन—'कादंबरी,' पृष्ठ ८८

[3] 'जीवनी', पृष्ठ १६२

[4] इत्सिंग, 'रिकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु'—पृष्ठ १८६

का प्रयोग किया है। यह निश्चय है कि इस पद में बाण 'वाक्यविदाः' के रूप में मीमांसकों का ही उल्लेख करता है।[1]

बौद्ध साहित्य

श्रीहर्ष के समय में, एक विशाल बौद्ध साहित्य उपस्थित था। उस का अधिकांश भाग धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों से संबंध रखता था। यदि उस विशाल साहित्य की तालिका मात्र तैयार की जाय तो कई पृष्ठ भर जाँय। जिन ग्रंथकारों का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है तथा जिन के ग्रंथ व्यापक रूप से पढ़े जाते थे, उन में से इन के नाम उल्लेखनीय हैं :— (१) अश्वघोष—ये कनिष्क के समसामयिक तथा प्रसिद्ध ग्रंथ 'बुद्धचरित' के रचयिता थे; (२) नागार्जुन—ये द्वितीय शताब्दी के उत्तर भाग में विद्यमान थे और महायान बौद्धधर्म के सर्वश्रेष्ठ आचार्य थे। वे अश्वघोष के समकालीन, किंतु उन से छोटे थे; (३) आर्यदेव—ये माध्यमक दर्शन के महान आचार्य थे, इन का समय तृतीय शताब्दी है; (४) आसंग—ये योगाचार भूमिशास्त्र के रचयिता तथा विज्ञानवाद नामक बौद्ध दार्शनिक सिद्धांत के प्रमुख व्याख्याता थे; (५) वसुबंधु—ये आसंग के कनिष्ठ भाई थे, इन्हों ने महायान पर अनेक ग्रंथ रचे। बाण के कथनानुसार इन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिधर्मकोष' का अध्ययन दिवाकर मित्र के आश्रम में होता था। (६) संघभद्र—ये वसुबंधु के समसामयिक थे। इन्हों ने 'न्यायानुसार' नामक ग्रंथ की रचना की[2]। (७) भाविवेक—ये बौद्ध शास्त्रों के महान आचार्य थे और ह्वेनसांग के कथनानुसार धर्मपाल के समसामयिक थे[3]। हम पहले लिख चुके हैं कि धर्मपाल, शीलभद्र के पूर्व नालंदा के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित थे। (७ तथा ८) गुणमति तथा स्थिरमति—ये दोनों वलभी के प्रसिद्ध आचार्य थे। स्थिरमति वसुबंधु के शिष्य थे[4]। इन के अतिरिक्त और अनेक बौद्ध दार्शनिकों के ग्रंथ उपलब्ध थे।

ह्वेनसांग ने भारत के विभिन्न आचार्यों के निकट बैठ कर जिन सूत्र तथा शास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन किया था उन का उस ने उल्लेख किया है। इस से भी तत्कालीन बौद्ध दर्शन-साहित्य का हमें ज्ञान होता है। उस ने सर्वास्तिवादियों के मुख्य प्रामाणिक ग्रंथ 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' का सम्यक् अध्ययन किया था। इस के अतिरिक्त उस ने आसंग के 'योगाचारभूमिशास्त्र' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। योगाचार शास्त्र के अन्य ग्रंथों को

---

[1]'हर्षचरित', पृष्ठ १२२

दर्शनग्रंथों में अधिकरण पाए जाते थे, इस पद का अर्थ यह है कि हर्ष के शासन-काल में अधिकरण का निर्णय अर्थात् विचार मीमांसा के ग्रंथों ही में होता था, राजशासन में नहीं।

[2]वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३२६

[3]वही, जिल्द २, पृष्ठ २२१-२२४

[4]इत्सिंग, 'रिकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', साधारण भूमिका, पृष्ठ ४८

भी उस ने पढ़ा। उस ने भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सूत्र, अभिधर्म तथा विनय का अध्ययन किया था। विभाषा शास्त्रों में भी वह अच्छी तरह से पारंगत हो गया था और चीन में जा कर उस ने इन में से बहुतों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इत्सिंग भी तत्कालीन बौद्ध-साहित्य का अच्छा विवरण देता है।[1]

हर्ष का युग दर्शन और साहित्य के अतिरिक्त विज्ञान तथा अन्य अनेक विषयों के उच्चकोटि के उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना का गर्व कर सकता था। उदाहरणार्थ, व्याकरण, अर्थशास्त्र, अलंकार, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा तथा कोष का साहित्य ख़ूब संपन्न था। इन के अतिरिक्त स्मृति-शास्त्र भी ख़ूब भरा-पूरा था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रंथ इस समय व्याकरण का एक आर्ष ग्रंथ माना जाता था और इत्सिंग के कथनानुसार वह 'समस्त व्याकरण-शास्त्र का' आधार था। धातु तथा त्रि-खिल आदि पर भी ग्रंथ रचे गए थे। पतंजलि का प्रसिद्ध ग्रंथ 'महाभाष्य' ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों के अध्ययन का विषय था। अर्थशास्त्र का साहित्य भी श्रीसंपन्न था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से कालिदास, 'कामसूत्र' के रचयिता वात्सायन, 'बृहत्संहिता' के प्रणेता वराहमिहिर और दंडी आदि परिचित थे। दंडी ने तो इस ग्रंथ के विस्तार का (कि इस में ६००० श्लोक हैं) उल्लेख किया है। उस समय तक यह अपने विषय का एक उच्चकोटि का ग्रंथ माना जा चुका था। लेखकगण इसे राजनीतिशास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रंथ मानकर इस से उद्धरण देते थे। बाण भी इस ग्रंथ से परिचित था और उस का उल्लेख करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त, हर्ष के काल में, राजनीति विषय के अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध थे। 'महाभारत' के कुछ अध्यायों में राजनीति विषय की विवेचना की गई थी। स्मृतियों के अंदर भी, ऐसे अंश थे जिन में अर्थशास्त्र के विषय का निरूपण किया गया था। कामंद का 'नीतिसार' नामक ग्रंथ भी बहुत संभवतः इस काल में वर्तमान था। यदि जायसवाल महोदय का यह कथन ठीक है कि इस ग्रंथ का रचयिता चंद्रगुप्त द्वितीय का मंत्री सिखर-स्वामी था, तो यह ग्रंथ निश्चयतः हर्ष के समय में प्रायः २०० वर्ष का पुराना हो चुका था[2]।

अन्य विषयों के संबंध में हमें यह निश्चयपूर्वक मालूम है कि शिल्पशास्त्र, धनुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद, अश्वशास्त्र, रत्नशास्त्र, संगीतशास्त्र (गंधर्वविद्या) तथा चित्रकला के ऊपर अच्छे-अच्छे ग्रंथ उपस्थित थे। राजवंश के लोगों से अनेक प्रकार के गुणों से विभूषित होने की आशा की जाती थी। इन गुणों में उपरोक्त कलाओं तथा विद्याओं का ज्ञान भी संलित था। यह मान लेना बिल्कुल स्वाभाविक है कि उन विषयों पर लिखे हुए अनेक ग्रंथ बाक़ायदा उपस्थित रहे होंगे। इन के अतिरिक्त कामशास्त्र का साहित्य भी संपन्न था। वात्सायन मल्लनाग का प्रसिद्ध 'कामसूत्र' इस काल में इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ हो गया था। यह बात स्पष्ट है कि सुबंधु ने इस ग्रंथ का उपयोग किया

---

[1] इत्सिग, 'रिकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तककुसु', पृष्ठ १८६-१८७

[2] 'जर्नल आफ़ दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', १९३२, पृष्ठ ३७-३९

था और बाण भी इस से परिचित था। किंतु बाण के ग्रंथों में हमें कहीं कोई ऐसा स्पष्ट चिह्न नहीं दिखाई देता जिस से कि हमें यह ज्ञात हो कि उस ने इस ग्रंथ का उपयोग किया था। यह ग्रंथ वराहमिहिर को भी ज्ञात था। उस के ग्रंथ से यह स्पष्टतः प्रकट है कि वह इस ग्रंथ को अपने काम में लाया था[1]। हमें यह ज्ञात नहीं है कि इस विषय का निरूपण करनेवाले और छोटे-छोटे ग्रंथ उस काल में उपलब्ध थे अथवा नहीं।

चिकित्सा-विज्ञान ने इस काल में बहुत अधिक उन्नति कर ली थी। हम कह चुके हैं कि ह्वेनसांग आयुर्वेद का उल्लेख करता और उसे एक महत्वपूर्ण विद्या बताता है। 'चरक-संहिता' ग्रंथ चिकित्सा-साहित्य का मूल आधार था। बौद्ध त्रिपिटिक के चीनी अनुवादों के अनुसार उस के रचयिता चरक महाराज कनिष्क के राज-वैद्य थे। चरक ही की भाँति सुश्रुत भी प्रसिद्ध था। काशगढ़ में उपलब्ध 'बावर मैनुस्क्रिप्ट' में जिस का काल अनुमानिक चौथी सदी है और जो औषधि-विज्ञान तथा तत्संबंधी विषयों पर एक निबंध के रूप में है, अन्य व्यक्तियों के साथ सुश्रुत का उल्लेख मिलता है। वह इस काल में इस विषय का निश्चय ही एक सर्वमान्य अधिकारी रहा होगा। 'बावर मैनुस्क्रिप्ट' में आत्रेय, हारीत आदि का भी नामोल्लेख है और संभव है कि हर्ष के काल में उन के रचे हुए ग्रंथ उपस्थित रहे हों, यद्यपि अब उन का कुछ पता नहीं है। ज्योतिष-विद्या पर—जिस के साथ फलित ज्योतिष तथा गणित का घनिष्ट संबंध था—प्रसिद्ध लेखकों ने इस काल में अनेक सुविख्यात ग्रंथ लिखे। आर्यभट्ट नामक प्रसिद्ध गणितज्ञ पहले ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था उस का जन्म ४७६ ई० में पाटलिपुत्र में हुआ था। वराहमिहिर ने—जिस का जन्म ५०५ ई० में और देहावसान ५८७ ई० में हुआ—गणित तथा फलित ज्योतिष पर 'पंचसिद्धांतिका' तथा 'वृहत्संहिता' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की।

हर्ष की राज्यकालीन साहित्यिक तथा वैज्ञानिक रचनाएं

यह बात उल्लेखनीय है कि महाराज हर्ष का युग साहित्यिक रचनाओं की दृष्टि से अत्यधिक श्रीसंपन्न था। भारतीय संस्कृत के विद्यार्थियों तथा इतिहासकारों में गुप्तकाल स्वर्णयुग के रूप में प्रसिद्ध है और इस में संदेह नहीं कि वह वस्तुतः इस प्रसिद्धि तथा श्रेय का अधिकारी है; किंतु अपनी साहित्यिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक रचनाओं के लिए हर्ष के युग को भी एक गौरवपूर्ण स्थान—गुप्तकाल के बाद दूसरा नंबर ही—प्राप्त है। हम देखते हैं कि विविध विद्याओं तथा साहित्य के प्रायः प्रत्येक अंग पर सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तथा कुछ पहले व बाद ग्रंथ-रचना हुई थी। साहित्यिक ग्रंथों में हम बाण के आश्रयदाता महाराजा हर्ष के ग्रंथों का उल्लेख विस्तारपूर्वक पहले ही कर चुके हैं। अब हम बाण की साहित्यिक रचनाओं की समीक्षा करेंगे और इस बात पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृत साहित्य में बाण का क्या स्थान है। बाण कथा-लेखकों का शिरोमणि था। कादंबरी तथा 'हर्षचरित', नामक उस के दो महान ग्रंथों को इतनी अधिक ख्याति प्राप्त

---

[1] कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४६६

हुई कि कथा साहित्य के उस के पूर्ववर्ती लेखकों के सब ग्रंथ फीके पड़ गए। बाण अथवा बाणभट्ट वात्सायन गोत्र का एक ब्राह्मण था, उस के पिता का नाम चित्रभानु था। चित्रभानु ने राज्यदेवी नामक ब्राह्मण जाति की महिला से अपना विवाह किया था। वह सोन नदी के तट पर स्थित प्रीतिकूट नामक गाँव में रहता था, यह गाँव उस प्रदेश में था जिस का आधुनिक नाम शाहाबाद का ज़िला है। बाण की अल्पावस्था में ही उस की माता का देहांत हो गया; अतः उस के लालन-पालन का भार पिता ही पर पड़ा। पिता ने बड़े लाड़-प्यार के साथ उस का पालन-पोषण किया। बाण चौदह वर्ष की अवस्था में स्नातक बन कर गुरु के घर से लौटा और इस के कुछ समय बाद उस का पिता अकाल ही काल-कवलित हो गया। पिता की मृत्यु हो जाने के कारण ही वह कुछ समय तक बुरी संगत में पड़ गया था। उस की वृहद् मित्र-मंडली में भाषा-कवि ईशान, प्राकृत-कवि वायुविकार, दो बंदी, एक चित्रकार, दो गायक, एक संगीत-शिक्षक (गंधर्वोपाध्याय), एक अभिनेता (शैलालियुवा), एक शैव भक्त, एक जैन भिक्षु (क्षपणक) तथा एक ब्राह्मण भिक्षु (मस्करी) सम्मिलित थे। किंतु इस भावी कवि और प्रसिद्ध आख्यान-रचयिता के साथियों में नर्त्तक (तांविक), जुआड़ी (आक्षिक), एक धूर्त व्यक्ति (कितव) एक नर्त्तकी, एक दासी (सौंध्री) एक संवाहिक (हाथ-पैर दबानेवाला) जैसे अयोग्य व्यक्ति भी थे[1]। देश-देशांतर देखने के कौतुक से[2] उस ने अपने देश से दूर-दूर तक भ्रमण किया और वह निंदा का भागी बना[3]। दरबारी जीवन, विद्या के केंद्रों तथा विद्वानों की परिषद् के साथ संपर्क-विपर्क होने का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि उस के चित्त की बुरी प्रवृत्तियां दब गईं। अब उस का ख़्याल घर की तरफ़ गया और वह अपने गाँव को लौट आया। वहां उस के भाई-बंधुओं ने उस का स्वागत किया और उस ने उन के बीच अपना दिन आनंद के साथ बिताया। उस की युवावस्था की कुप्रवृत्तियों की ख़बर महाराज हर्ष के कान तक पहुँच चुकी थी। इसी कारण उन्हों ने बहुत समय तक बाण को अपने दरबार में नहीं बुलाया। बड़े-बड़े राजाओं का यह साधरण नियम था कि वे प्रसिद्ध कवियों को अपने यहां बुलाते और उन का स्वागत-सत्कार कर प्रसन्न होते थे। किंतु अंत में अपने भाई कृष्ण के कहने से—जो बाण के एक घनिष्ट मित्र थे—श्रीहर्ष ने उसे अपने यहां बुलवाया। बाण का पहले तो कुछ आदर-सत्कार नहीं हुआ; किंतु पीछे से उस ने सम्राट् को प्रसन्न कर उन की कृपा प्राप्त कर ली। 'हर्षचरित', से हम उस के संबंध में केवल इतना ही जानने हैं कि साधारणतः, यह ख़्याल किया जाता है कि बाण ने अपने ग्रंथों को हर्ष के सिंहासनारोहण के अधिक समय बाद रचा। बौद्धों तथा बौद्ध-सिद्धांतों के प्रति हर्ष के पक्षपात का उल्लेख बाण ने 'हर्षचरित' में अनेक स्थलों पर किया है। हमें ज्ञात है कि हर्ष अपने अंतिम दिनों में ही बौद्धधर्म की शिक्षाओं की ओर अधिक प्रवृत्त होने लगे थे। अतः हम इस परिणाम पर

---

[1] 'हर्षचरित', पृष्ठ ६७

[2] देशांतरावलोकनकौतुकेन—'हर्षचरित', पृष्ठ ६८

[3] अगाच्च महतामुपहास्यताम्।

पहुँचते हैं कि बाण ने उन के शासन के उत्तर काल में अपने ग्रंथों की रचना की थी। इस कथन की पुष्टि, उस के द्वारा किए गए वासवदत्ता के उल्लेख से भी होती है। 'वासवदत्ता' की रचना सातवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हुई थी[1]।

बाण के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'हर्षचरित' और 'कादंबरी' हैं। संस्कृत अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में किए गए वर्गीकरण के अनुसार, 'हर्षचरित' एक आख्यायिका है और 'कादंबरी' एक कथा। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त वह 'चंडि-शतक' नामक स्तोत्र तथा 'पार्वती-परिणय' नामक नाटक का रचयिता भी बताया जाता है; किंतु वास्तव में ये ग्रंथ बाण के लिखे हुए नहीं हैं।

बाण 'हर्षचरित' के पहले दो अध्यायों तथा तीसरे के कुछ भाग में अपनी वंश-परंपरा तथा जीवनी का वर्णन करता है। ग्रंथ के अवशिष्ट भाग में वह हर्ष के जन्म, उन के प्रारंभिक जीवन, सिंहासनारोहण और उस के बाद घटनेवाली दुःखमय घटनाओं तथा गौड़ राजा पर आक्रमण करने के लिए युवक राजा की तैयारी आदि बातों का वर्णन करता है। आठवें अध्याय के अंत में, विंध्य-वन में राज्यश्री का उद्धार करने के बाद रात्रि के आगमन का वर्णन कर के यह ग्रंथ अपूर्ण छोड़ दिया गया है। 'हर्षचरित' का सब से प्रधान गुण यह है कि—जैसा कि उस के अनुवादकों ने स्वीकार किया है—यह एक ऐतिहासिक आख्यान का प्राचीनतम उदाहरण है। आख्यान का लेखक घटनाओं का उल्लेख उन के असली रूप में करने के लिए बाध्य नहीं है। अतः कीथ महोदय का यह आलोचनात्मक कथन कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रंथ न्यूनातिन्यून मूल्य का है[2], हमें मान्य नहीं है। ग्रंथ के महत्त्व के संबंध में कावेल और टामस ने जो विचार प्रकट किए हैं, उन से ज्ञात होता है कि इतिहास के वास्तविक स्वरूप का उन्हें कीथ की अपेक्षा अधिक विवेक है। उन का कथन है कि यह ग्रंथ हर्ष के शासन-काल का एक सजीव (तथा समकालीन) चित्र प्रस्तुत करता है[3]। इस प्रकार के ग्रंथ से इस से अधिक और कुछ भी हमें आशा नहीं करनी चाहिए। स्काट के उपन्यास जिस गुण के कारण रोचक तथा आकर्षक बने हुए हैं, वह गुण बाण के ग्रंथों में भी किसी प्रकार कम नहीं है। वह गुण यह है कि ग्रंथ के पढ़ने से पाठक यह अनुभव करने लगे कि उस में वर्णित घटनाएं उस की आँखों के सामने ही घटित हो रही हैं। हमारी सम्मति में बाण का वर्णन इतना सजीव है कि हम उसे पढ़ते समय हर्ष के युग में पहुँच जाते हैं और तत्कालीन घटनाओं का निरीक्षण करने लगते हैं। दरबारी जीवन, नगर एवं देहात के जीवन, समाज के कोलाहल से दूर, जंगलों में स्थित आश्रमों, उस समय के रहन-सहन और रीति-रिवाजों तथा तत्कालीन समाज की साधारणतया प्रचलित अवस्थाओं के वर्णन में पाठकों को मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री मिलती है। उस में भूतकाल तथा उस समय की अनेक

---

[1] कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ३१९

[2] वही, पृष्ठ ३१८

[3] कावेल एंड टॉमस, 'हर्षचरित', प्रस्तावना, पृष्ठ ६

ऐतिहासिक बातों का उल्लेख प्रच्छन्न-रूप से किया गया है। उन से इतिहास-संबंधी हमारा ज्ञान बढ़ जाता है। उन कौशल-पूर्ण संकेतों के द्वारा, जो तत्कालीन अवस्था का दिग्दर्शन कराने के लिए दर्पण का काम देते हैं, चित्र का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है[1]। बाण के दूसरे ग्रंथ 'कादंबरी' का इस पुस्तक में उल्लेख मात्र अलम् होगा, यद्यपि समर्थ समालोचकों ने उसे लेखक की परिपक्व प्रतिभा की उपज बतलाया है। यह बहुत दिनों तक संस्कृत गद्य-काव्य का एक सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ और ओज पूर्ण शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना गया था।

अब हम बाण की लेखन-शैली की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन करेंगे। पाश्चात्य समालोचकों ने—जिन में सर्व प्रथम १८६३ ई० में लिखनेवाला वेबर था—बाण की शैली की तीव्र आलोचनाएं की हैं। उस की शैली के प्रधान दूषण, ये बतलाए गए हैं :—१—वर्णनों में अनुपात का अभाव; २—श्लेषालंकार का अनियंत्रित प्रयोग, जिस के कारण अर्थ समझना कठिन हो जाता है; ३—जान-बूझ कर बहुसंख्यक विशेषणों तथा लंबे-लंबे समास-पदों का उपयोग, जिन के कारण वर्णन की सुंदरता नष्ट हो जाती है, मस्तिष्क को कष्ट पहुँचता है, तथा काव्य का वास्तविक उद्देश्य ही विफल हो जाता है। वह उद्देश्य यह है कि उस के द्वारा पाठक को परमानंद प्राप्त हो[2]। इन दोषों को आंशिक रूप से स्वीकार करते समय हमें यह कदापि न भूलना चाहिए कि स्वयं उस के देश के बहुसंख्यक समालोचक उस के संबंध में क्या कहते हैं। उन का आश्चर्य-जनक वाग्विभव, भाषा का सौष्टव रूपकों एवं उपमाओं का कौशल-पूर्ण उपयोग, अन्य अनेक संस्कृत अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग, उस की प्रभावपूर्ण तथा ओजस्वी शैली, चतुरता-पूर्ण चरित्र-चित्रण, विविध प्रकार के विषयों का प्रभावोत्पादक वर्णन, मानव-जीवन का व्यापक ज्ञान, भिन्न भिन्न मानवी मनोभावों के उद्रेक करने की शक्ति—इन सब तथा अन्य अनेक गुणों के कारण भारतीय आलोचकों ने उसे मध्यकालीन गद्य-लेखकों में सर्वश्रेष्ठ आसन प्रदान किया है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार एक उस्ताद गीत की एक छोटी-सी कड़ि को घुमा-फिरा कर तरह-तरह के सुरों से श्रोताओं के मन को मुग्ध कर देता है, उसी प्रकार एक काव्य लेखक उपमा तथा रूपक के बाहुल्य और शब्दों की सुमनोरम झंकार से पाठक के चित्त पर एक अनोखा प्रभाव डालता है।

बाण के आश्रयदाता महाराज हर्ष के ग्रंथों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। सुबंधु के ग्रंथ वासवदत्ता की रचना बहुत संभवतः इसी काल में हुई थी। सुबंधु अपने इस ग्रंथ में उद्योतकर तथा धर्मकीर्ति नामक दो ऐसे नैयायिकों का उल्लेख करता है, जो एक दूसरे को जानते थे और संभवतः एक दूसरे के ऋणी भी थे। धर्मकीर्ति धर्मपाल का—जो शीलभद्र के पूर्व नालंदा मठ के अध्यक्ष थे—शिष्य था। जिस

---

[1] कावेल एंड टॉमस, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

[2] काव्यं यशसे..........सद्यः परनिर्वृतये।

समय ६३७ ई० में ह्वेनसांग नालंदा पहुँचा, उस समय शीलभद्र बहुत वृद्ध हो चुके थे। इस के अतिरिक्त हमें यह भी मालूम है कि यह धर्मकीर्ति तिब्बत के राजा स्रङ्-सन्-गम्पो (६२९-६९८) का समसामयिक था[1]; अतः उस का समय सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जा सकता है। हमें कीथ महोदय के इस कथन से सहमत होना चाहिए कि जिस समय बाण ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय सुबंधु—जिस ने धर्मकीर्ति एवं उद्योतकर का उल्लेख किया है—अपने साहित्यिक जीवन की प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुका था[2]। अन्य ग्रंथकर्ताओं में से रावण-वध के रचयिता भट्टि कवि का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। रावण-वध भट्टि-काव्य ही के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की रचना उस ने वलभी में श्रीधरसेन के शासन-काल में की थी। हमारे पास यह अनुमान करने का कारण है कि उस ने ६४१ ई० के पूर्व ही इस ग्रंथ को लिख कर समाप्त कर दिया होगा। बाण ने उस का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। जनश्रुति के अनुसार भट्टि और भर्तृहरि—जिन की मृत्यु ६५५ ई० में हुई—दोनों एक ही हैं[3] और संभव है कि वे बाण के समकालीन, किंतु उस से छोटे रहे हों। बाण के अपने साहित्यिक जीवन की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने के बाद ही उस ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया होगा। 'जानकी-हरण' का प्रणेता कुमारदास इस काल के कुछ समय पश्चात्—६५० ई० के बाद-अवतीर्ण हुआ। किंतु हम उसे सातवीं शताब्दी का एक प्रतिभाशाली साहित्यिक कह सकते हैं। उस ने बड़ी ख्याति प्राप्त की जो उस के तिरोधान के बहुत समय बाद तक स्थिर रही।

इस काल की एक मनोरंजक साहित्यिक रचना—कांची के पल्लव-राजा महेंद्र-विक्रम वर्मा का लिखा हुआ—'मत्तविलास' नामक प्रहसन है। वह श्रीहर्ष का बिल्कुल समकालीन था। उस के प्रहसन की प्रधान रोचकता यह है कि वह तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का उल्लेख करता है। कापालिक संप्रदाय के लोग, धर्म के नाम पर बिना किसी रोक-थाम अथवा लज्जा के, मदिरा और स्त्रियों का अतिशय सेवन करते थे। बौद्ध-भिक्षु भी आनंद और विलास के जीवन से अभ्यस्त हो गए थे, उन का नैतिक पतन हो गया था।

कथानक संक्षेप में इस प्रकार है:—कांची का एक कापालिक मदिरा और स्त्रियों की बड़ी प्रशंसा करता है और अर्हतों की, उन के सुसंयमित तथा नियमित जीवन की, बड़ी आलोचना करता है। संयोग-वश उस का भिक्षा-पात्र (खप्पर) खो जाता है। नगर भर में उस की तलाशी होती है। एक बौद्ध-भिक्षु पर संदेह होता है। वह भिक्षु इस लिए दुःखी है कि विनय के नियम स्त्री और मदिरा दोनों के सेवन का निषेध करते हैं। उस का यह अनुमान होता है कि बुद्ध भगवान का वास्तविक धर्म इस प्रकार की निरर्थक बाधा नहीं डालता है। वह आशा करता है कि असली मूल-ग्रंथ का पता लगा कर मैं संघ का

[1] इत्सिंग, 'रिकर्ड्स आफ़ दि बुद्धिस्ट रेलिजन—तक्कुसु', साधारण प्रस्तावना, पृष्ठ ४८

[2] कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ३२०

[3] वही, पृष्ठ ११६

हित साधन करूँगा। पूछे जाने पर वह इस बात को अस्वीकार करता है कि उस के पास का भिक्षा-पात्र कापालिक का है; परंतु कापालिक को उस की बात पर विश्वास नहीं होता। वह कहता है कि बौद्ध-भिक्षु के लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कपाल जैसी क्षुद्र वस्तु को अस्वीकार करे, जब कि वह मोह-वश पृथ्वी, समुद्र और पर्वत आदि वस्तुओं के अस्तित्व को, जिन को सभी प्रत्यक्ष देखते हैं—अस्वीकार करता है। शून्यवाद के सिद्धांत पर यह आक्रमण बड़ा आकर्षक है। अभी उन का वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ था कि इतने में पाशुपत-संप्रदाय का एक व्यक्ति वहां आकर व्यर्थ ही में बीच-बचाव करने की चेष्टा करता है। उस की सलाह से यह निश्चय किया जाता है कि मामला अदालत में ले चला जाय। रास्ते में उन्हें एक पागल आदमी मिलता है। उस ने खोए हुए खप्पर का उद्धार एक कुत्ते से किया था। वह कुत्ता ही असली चोर था। अंत में वह कापालिक को लौटा दिया जाता है और तत्कालीन राजा का उल्लेख करते हुए भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

संपूर्ण नाटक हास्य-विनोद से भरा हुआ है, जैसा कि प्रहसन का होना स्वभावतः अनिवार्य है। नाटक का रचयिता स्वयं शैव था। उस ने बौद्धधर्म के सिद्धांतों तथा शून्य-वाद दर्शन पर सुविनोद पूर्ण आक्रमण किया है। उस की शैली सरल एवं ललित है। कवि ने अनेक स्थलों पर अपनी कवित्व-शक्ति का चमत्कार दिखाया है। नाटक का विषय बहुत साधारण है; किंतु उस का रूप बड़ा बढ़िया है। इस असंगति से प्रहसन का प्रभाव और बढ़ जाता है, उसे हम दोष नहीं मान सकते। इस के अतिरिक्त इस ग्रंथ के रचयिता ने भी हर्ष की भाँति विविध प्रकार के छंदों के प्रयोग में कौशल प्रदर्शित किया है[1]।

यहां हम बाण के पुत्र भूषणभट्ट का उल्लेख कर सकते हैं। उस ने अपने पिता के अपूर्ण ग्रंथ 'कादंबरी' को पूर्ण किया। वह भट्टपुलिन के नाम से भी प्रसिद्ध है। उस ने लिखा है कि पिता के अधूरे ग्रंथ को मैंने पूरा किया; क्यों कि उसे अपूर्ण देख कर लोगों को दुख होता था। उस के गद्य में भी भाषा का सौष्ठव पाया जाता है।

दंडी के काल के संबंध में विद्वानों में अभी तक मतभेद है। डा० कीथ का कथन है[2] कि 'दशकुमारचरित' में वर्णित भौगोलिक स्थिति से हमारे मन में यह धारणा उत्पन्न होती है कि उस में श्रीहर्षवर्द्धन के साम्राज्य के पूर्व की बातों का उल्लेख है। उस की अपेक्षाकृत सरलता से यह सूचित होता है कि वह सुबंधु और बाण के ग्रंथों से पूर्व का है। किंतु यह संभव हो सकता है कि वह कांची के पल्लव राजा नरसिंह वर्मा (६८०-७००) के दरबार में आविर्भूत हुआ हो। अवंतिसुंदरी कथा में दंडी के, महेंद्र वर्मा के शासन-काल में—जब चालुक्यों की सेना ने पुलकेशी द्वितीय के नेतृत्व में कांचीपुर पर आक्रमण किया और उसे घेर लिया था—दक्षिण प्रवास के संबंध में मनोरंजक बातों का उल्लेख पाया जाता है। इस के बहुत समय बाद दंडी कांची को लौटा और

---

[1] कीथ, 'दि संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ १८९

[2] वही, पृष्ठ २९७

बहुत संभवतः नरसिंह वर्मा द्वितीय उपनाम राजसिंह[1] के दरबार में ठहरा। कुछ विद्वानों का मत है कि 'काव्यादर्श' में जिस शैव राजा राजवर्मा का उल्लेख है, वह संभवतः राजसिंह पल्लव ही था। प्रवाद प्रचलित है कि 'काव्यादर्श' का पंचम परिच्छेद दंडी ने स्वयं राजसिंह को अथवा उस के पुत्र को अलंकारशास्त्र की शिक्षा देने के लिए ही लिखा था। इस प्रकार दंडी की युवावस्था संभवतः हर्ष के शासन काल के कुछ भागों में बीती थी। उस की साहित्यिक-रचना का काल हर्ष की मृत्यु के बाद मानना होगा। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि दंडी के ग्रंथ 'दशकुमारचरित', 'काव्यादर्श', 'अवंतिसुंदरी' कथा आदि श्रीहर्ष के काल की साहित्यिक रचनाएं हैं।

महाराज हर्ष के काल में साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर भी ग्रंथ रचे गए थे। धर्म और दर्शन पर सुविख्यात लेखकों ने काफ़ी ग्रंथ लिखे। दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर बड़े-बड़े प्रभाणिक ग्रंथ रचे गए। कतिपय समर्थ आलोचकों का मत है कि कुमारिल का आविर्भाव-काल सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मानना चाहिए[2]। पूर्वमीमांसा का वह सर्वमान्य महान् पंडित था। उस ने मीमांसा पर एक ग्रंथ लिखा, जो तीन भागों में विभक्त है:—श्लोकवार्तिक, तंत्रवार्तिक तथा टुपटीका। कुमारिल का ग्रंथ जैमिनि के 'मीमांसा-सूत्र' पर शबरस्वामी के भाष्य की टीका है। कुमारिल ने बौद्धों तथा उन के सिद्धांतों पर आक्रमण किया, वैदिकधर्म के पुनरुद्धार में बड़ा योग दिया और मीमांसा के व्यापक अध्ययन को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय उसी को प्राप्त है। दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् जिस ने पूर्वमीमांसा-दर्शन की व्याख्या की, प्रभाकर था। उस का ग्रंथ 'बृहती' शबरभाष्य की व्याख्या है। प्रभाकर कुमारिल के पूर्व हुआ था और उस की साहित्यिक-रचना हर्ष के शासन-काल के अंतर्गत परिगणित नहीं की जा सकती।

यह बतलाना असंभव है कि उत्तर मीमांसा के ऊपर जितने प्रसिद्ध ग्रंथ हैं, उन में से किसी की रचना इस काल में हुई थी अथवा नहीं। शंकर के परम गुरु गौड़पाद की कारिका इस काल से बहुत पूर्व में लिखी गई थी।

इस काल में हेतुविद्या पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए। उद्योतकर भारद्वाज पाशुपत-संप्रदाय का कट्टर अनुयायी था। उस ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायवार्त्तिक' लिखा। इस में उस ने 'न्यायसूत्र' तथा न्यायभाष्य की व्याख्या की। उद्योतकर का काल ६२० ई० माना जाता है। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं। सुबंधु इस न्यायिक का उल्लेख करता है। सुबंधु न्यायस्थित, मल्लनाग तथा धर्मकीर्ति का भी उल्लेख करता है[3]। हर्ष के काल में नैयायिकों ने न्यायदर्शन की बड़ी उन्नति की। हम पहले ही कह चुके हैं कि धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ने 'न्यायविंदु' नामक एक ग्रंथ लिखा, जिस पर ८०० ई० के लगभग धम्मेतिर ने एक टीका रची।

---

[1]राजगोपालन, 'हिस्ट्री आफ़ पल्लवज्', पृष्ठ १११ और १२६

[2]वैद्य, 'मेडिएवल इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ३३६

[3]न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम् बौद्धसंगतिमिव अलंकारभूषिताम्—गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति', पृष्ठ ८६

वैशेषिक-दर्शन का ऐसा कोई लेखक नहीं है, जिसे हम निश्चयात्मक रूप से इस काल का कह सकें; किंतु तो भी यह लिखना अनुचित न होगा कि ६४८ ई० में ह्वेनसांग ने 'दसपदार्थ' का—जिस का लेखक ज्ञानचंद्र बतलाया जाता है—चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस का मूल संस्कृत ग्रंथ नष्ट हो गया है[1]।

इस अध्यय को समाप्त करने के पूर्व हम इस काल में लिखे गए व्याकरण के कतिपय प्रसिद्ध ग्रंथों का उल्लेख करना उचित समझते हैं। जयादित्य तथा वामन की 'काशिकावृत्ति' इत्सिंग के भारत-भ्रमण के पूर्व लिखी गई थी। इत्सिंग ने लिखा है कि १५ वर्ष की अवस्था हो जाने के बाद विद्यार्थी पाँच वर्ष तक उसे नियमित रूप से पढ़ते थे। जयादित्य की मृत्यु इत्सिंग के यात्रा-विवरण के लिखे जाने के लगभग तीस वर्ष पहले, अर्थात् ६६१-६६२ ई० में हुई। इस प्रकार यह हर्ष का समकालीन था। भर्तृहरि ने—जिस की मृत्यु इत्सिंग के भ्रमण-वृत्तांत के लिपिबद्ध होने के ४० वर्ष पूर्व, अर्थात् ६५१-६५२ ई० में हुई—महाभाष्य पर एक टीका लिखी, जो अब प्रायः लुप्त हो चुकी है। उस ने 'वाक्यप्रदीप' नामक शब्दशास्त्र का एक श्लोकबद्ध ग्रंथ भी तीन खंडों में लिखा।

ब्रह्मगुप्त नामक प्रसिद्ध गणितज्ञ भिल्लमल्ल (भिनमल)—निवासी जिष्णु का पुत्र था और ५९८ ई० में पैदा हुआ था। उस ने 'ब्रह्मसिद्धांत' नामक ग्रंथ ६२८ ई० में लिखा, जिस समय महाराज हर्ष अपने गौरव के शिखर पर आरूढ़ थे।

इस काल में बौद्धसाहित्य के एक वृहद् भाग की रचना की गई। ह्वेनसांग नालंदा के पास स्थित तिलाढ़क मठ के जयसेन नामक श्रमण का उलेख करता है। वह एक प्रसिद्ध शास्त्रकार था। ह्वेनसांग के भारत-भ्रमण के समय, नालंदा के धर्माध्यक्ष शीलभद्र महायान बौद्धधर्म के महान व्याख्याता थे। उन्हों ने कई महत्वपूर्ण टीकाएं लिखीं। धर्मपाल जो शीलभद्र के पूर्व उस पद पर प्रतिष्ठित थे, ६०० ई० के लगभग मर गए। वे एक प्रसिद्ध लेखक थे। उन्हों ने आर्यदेव के 'शतशास्त्र' पर एक टीका लिखी। उसे हम इस काल से प्रायः संबोधित कर सकते हैं। ह्वेनसांग ने स्वयं एक ग्रंथ लिख कर योगाचार दर्शन की विशद व्याख्या की, और उसे महाराज हर्ष को दिखाया। श्रीहर्ष उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुए[2]। इस के अतिरिक्त ह्वेनसांग ने 'प्रज्ञा-पारमिता', 'ज्ञानप्रस्थान', 'महा-विभाषा', 'अभिधर्मकोष', (संघभद्र-रचित) 'न्यायानुसार' तथा आसंग-रचित 'योगाचार' के ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया[3]।

इन सब बातों पर दृष्टि रखते हुए हम संक्षेप में कह सकते हैं कि इस काल में साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में बहुत-सा रचनात्मक कार्य हुआ। यद्यपि इस समय से बहुत पूर्व संस्कृत-

---

[1] फ़र्कुहर, 'रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया', पृष्ठ १७७

[2] 'जीवनी', पृष्ठ १७९

[3] पी० के० मुकर्जी, 'इंडियन लिटरेचर इन चाइना', पृष्ठ २१६-२३४

साहित्य का विकास हो चुका था; पर इस की वृद्धि इस समय में भी जारी रही। आज जितने ग्रंथ विद्यमान हैं केवल उन्हें देख कर हम तत्कालीन साहित्य-संपदा का अनुमान कर सकते हैं। किंतु इस के अतिरिक्त कितने ग्रंथ काल के गर्भ में विलीन हो गए। निस्संदेह यह युग अवनति का नहीं था।

चतुर्दश अध्याय

हर्षकालीन कला

भारतीय कला के विकास में हर्षकालीन कला का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, अपितु वह गुप्तयुग की कला के साथ संबद्ध है। इस प्रकार यदि हम गुप्तकालीन कला के रूप और अंतर्निहित भावों को समझ लें, तो हम हर्षकालीन कला की मुख्य विशेषताओं को भी समझने में समर्थ होंगे।

डाक्टर आनंद-कुमारस्वामी का कथन है[1], कि "गुप्तकालीन कला की शैली, पूर्णतः स्वाभाविक विकासचक्र की चरमोन्नति को प्रकट करती है—आदिम, उत्कृष्ट, अद्भुत, रुचि के विरुद्ध अलंकार बहुल, तथा कृत्रिम-रूप।" भारतीय कला के विकास में गुप्तयुग उत्कृष्ट युग है। गुप्तकला का श्रेष्ठ गुण तत्कालीन संपन्न तथा बहुमुखी संस्कृति का अभिव्यंजन है। "यह कला के पुनरुज्जीवन का नहीं, बल्कि चरमोत्कर्ष तथा प्रस्फुटन का काल था।" राष्ट्र के जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में, प्रबल आत्माभिव्यंजन हुआ। साहित्य, चित्रकला, संगीत तथा तक्षण में एक ही-सी प्रचुरता थी।

गुप्तकला की एक प्रधान विशेषता उस का आध्यात्मिक गुण है। गुप्तकाल के कलाकारों ने तक्षण तथा चित्रकला के माध्यम द्वारा तत्कालीन प्रचलित आध्यात्मिक भावों को इतनी सजीवता और यथार्थता के साथ व्यक्त किया, जो कि वस्तुतः आश्चर्यजनक है। वास्तव में भारतीय कला तथा पाश्चात्य कला के बीच मुख्य भेद यह है कि भारतीय कला सौंदर्य के नियमों की मर्यादा की रक्षा करती हुई किसी पदार्थ के आंतरिक भाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है। भारतीय कला स्वभाव का यथातथ्य अनुकरण मात्र नहीं करती थी और न वह प्रकाश अथवा छाया का कौशलपूर्ण प्रदर्शन मात्र कर के

---

[1] 'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ७१

संतुष्ट रहती थी। भारतीय कला का उद्देश्य भारतीय साहित्य की भाँति, पाठक के हृदय में विभिन्न प्रकार के भावों का उद्रेक कर विभिन्न रसों से उस के चित्त को भरना था। उस का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं, बल्कि भावावेश उत्पन्न करना था, जिस से कोई व्यक्ति अपने को कुछ समय के लिए अर्द्धचेतनावस्था में लय कर देता था। उसे हम रसानुभूति कह सकते हैं। उत्तम कला की कसौटी की परीक्षा इसी बात से होती है कि उस में रसानुभूति को बढ़ाने की कितनी शक्ति है।

गुप्तकाल की शिल्प-कला और चित्रण-कला निस्संदेह प्रगाढ़ आध्यात्मिकता से युक्त है। किंतु यह आध्यात्मिकता समाज-विरुद्ध नहीं है। इस आध्यात्मिकता का जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित है[1]। कला का आधारभूत विषय निस्संदेह सदा धार्मिक है; किंतु उस विषय के प्रतिपादन में आध्यात्मिक भावना और जीवन के अनुभव तथा तथ्य-पूर्ण बातें सब एक सुसंगत समष्टि के अंतर्गत हैं[2]। गुप्त-कला उस समय के संपन्न, विलासपूर्ण तथा सुसंस्कृत दरबारी जीवन को अंकित करती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि गुप्तकाल तथा हर्ष के समय में कुलीन समाज की संस्कृति बहुत उन्नति कर गई थी। 'हर्षचरित', 'कादंबरी' तथा कालिदास और अन्य उच्चकोटि के संस्कृत नाटककारों के ग्रंथ एवं बाद की अजंता की चित्रकला उसी विलासपूर्ण संस्कृति का आभास देती हैं। तत्कालीन काव्यों एवं नाटकों में तथा अजंता की चित्रकारी में जो जीवन चित्रित किए गए हैं, उन में आश्चर्यजनक सादृश्य है। जन-साधारण तथा उच्च समाज के लोगों का पहनावा, रहन-सहन, मनोरंजन के साधन, युद्ध, जुलूस, दरबारी जीवन, महल तथा उन के कमरे, कमल-सर तथा परिचित पशु-पक्षियों का चित्रण कला तथा साहित्य दोनों में समान शक्ति और सुंदरता से किया गया है[3]।

ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्त-कला मथुरा की कला-पद्धति का विकास है। किंतु मथुरा की शिल्पकला यदि अपनी विशालता तथा लालित्य के अभाव के लिए प्रसिद्ध है, तो गुप्तकाल की शिल्पकला अपने लालित्य, शक्ति एवं प्रशांत भाव के लिए। विषय प्रधानतः धार्मिक हैं, जिन में तत्कालीन प्रचलित वैष्णव, शाक्त, शैव तथा बौद्ध संप्रदायों से संबंध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा मंदिर सम्मिलित हैं।

जैसा कि कुमारस्वामी कहते हैं, प्रारंभिक गुप्तकाल में बुद्ध की मूर्ति भारतीय कला के विकास की पराकाष्ठा है। मथुरा, सारनाथ, कसिया, गया, अजंता (गुफा नं०१६), साँची, करली, कन्हेरी तथा पश्चिमी गुफाओं में जो उदाहरण मिले हैं, उन से यह कथन पूर्णतः प्रमाणित होता है।

गुप्तकाल की स्थापत्य-कला को हम इन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

---

[1]कुमारस्वामी, 'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट' पृष्ठ ९१

[2]वही, पृष्ठ ९१

[3]असितकुमार हालदार, 'अजंता'।

(१) स्तूप (२) खोद कर निकाले गए चैत्य-भवन[1] और विहार (३) प्रस्तरादि-निर्मित चैत्य-भवन (४) चौरस छतदार मंदिर (५) शिखर-युक्त मंदिर (६) महल, नाट्यगृह तथा घरेलू इमारतें।

गुप्तकाल की अनेक गुफाएं वर्तमान हैं। अजंता की १६ तथा १७ नंबर की गुफाएं विहार हैं, जो कि लगभग ५००ई०की कही जा सकती हैं। १६ नंबर की गुफा एक चैत्य हाल है, जो लगभग ५५०ई० का कहा जा सकता है। इन सब में चित्रकारियां की गई हैं। ये विहार तथा चैत्य-भवन न्यूनाधिक प्रारंभिक ढंग के बने हुए हैं। विहार स्तंभमय भवन हैं, जिन में भिक्षुओं के रहने के लिए छोटे-छोटे कमरे बने हैं। पीछे की दीवार से मिला हुआ एक गृह है जिस में बुद्ध की मूर्ति है। अजंता, एलोरा तथा बाघ में भी इसी प्रकार के चित्रित विहार तथा चैत्य-गुफाएं हैं। काठियावाड़ में भी गुप्तकाल की गुफाएं हैं। उदयगिरि (भूपाल) में भी गुफाओं तथा मंदिरों के समुदाय हैं, जो उसी काल के हैं।

चैत्य-भवन के ढंग के, ईंट तथा पत्थर के बने हुए गुप्तकाल के अनेक मंदिर अभी तक विद्यमान हैं। ऐहोड़े का दुर्गा-मंदिर (६०० ई०) चैत्य-भवन के खाके पर बना हुआ है[2], यद्यपि उस में महत्वपूर्ण विभिन्नता भी है। गुप्तकाल के हिंदू-मंदिरों की विशेषता यह थी कि वे छोटे-छोटे और चौरस छत से युक्त होते थे। प्रत्येक मंदिर में एक गर्भगृह और एक छोटा मंडप होता था। बहुधा वह स्तंभों से युक्त कमरे या बरामदे से घिरा रहता था, जिस का उपयोग एक छतयुक्त प्रदक्षिणा-पथ के रूप में होता था और उस में किसी तरह का शिखर नहीं होता था। साँची, तिगोआ (मध्यप्रांत) ललितपुर, भुमरा (नगोड़ राज्य) तथा अजैगढ़ स्थित नाचनाकुठार (बुंदेलखंड) में ऐसे मंदिरों के उदाहरण पाए गए हैं। दक्षिण में सब से अधिक रोचक और चौरस छतवाला मंदिर ऐहोड़े के लादखान (४५० ई०) का है[3]। धीरे-धीरे चौरस छतदार मंदिर के स्थान पर शिखर-युक्त मंदिर बनने लगे। उत्तरी शिखर, उत्तर गुप्तकाल में दिखाई पड़ने लगता है[4]। शिखर और गर्भगृह के मिलने से एक मीनार-सा बन जाता था, जो कि मंदिर का प्रधान भाग होता था। भीतरगाँव का ईंट का मंदिर उपरोक्त प्रकार के शिखर का एक अच्छा

---

[1]चैत्य-भवन (हाल) वास्तव में एक बौद्ध-मंदिर है, जिस के तीन भाग होते थे-(१) मध्य का भाग (२) अंत का भाग, जिस में एक स्तूप बना होता था (३) बरामदा, जो प्रदक्षिणा के लिए बना होता था और हाल से स्तंभों द्वारा पृथक किया रहता था।—'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ २८

[2]कुमारस्वामी, 'इंडियन् एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ७८, चित्र नं० १५२

[3]वही, चित्र नं० १४८

[4]शिखर दो प्रकार के थे—नागर तथा द्राविड़। दोनों मंदिर के गर्भगृह के ऊपर उठे हुए मीनार हैं। नागर शिखर की बनावट पर्वत-शृंग की तरह होती थी। द्राविड़ शिखर कई 'भूमियों' (मंजिलों) का बना हुआ होता था और प्रत्येक 'भूमि' में कोठरियां बनी होती थीं, जिन में मूर्तियां रहती थीं।

उदाहरण है । ईंट और पत्थर के बने हुए ऐसे शिखरों के अन्य उदाहरण भी बाँकुरा ज़िले के पास तथा मानभूम और दालमौ में उपलब्ध हुए हैं । ये सभी स्थान बंगाल में हैं । ललितपुर के निकट, देवगढ़ का गुप्तकालीन दशावतार-मंदिर, जो लगभग ६०० ई० का है, शिखरयुक्त मंदिर का उत्कृष्ट उदाहरण है ।

६३७ ई० में जब ह्वेनसांग बोधगया गया था, उस समय वहां एक महोबोधि-नामक विशाल बौद्ध-मंदिर मौजूद था । इस का निर्माण बुद्ध की मूर्ति की स्थापना के लिए, गुप्त-काल के प्रारंभ ही में हुआ था । यह फ़ाह्यान के समय में भी विद्यमान था । ह्वेनसांग इस मंदिर का विस्तारपूर्वक वर्णन करता हुआ उस की वही लंबाई-चौड़ाई बतलाता है, जो कि प्रायः अब है । यह मंदिर १६० फ़ीट से अधिक ऊँचा था और उस के सामने की नींव की चौड़ाई २० क़दम से अधिक थी । मंदिर ईंटों का बना हुआ था और उस पर चूना चढ़ा हुआ था । उस में ताक़ों की कतारें थीं, जिन में सोने की मूर्तियां बनी थीं । उस की चारों दीवारें 'मोती की डोरियों' तथा अन्य बढ़िया साजों से अलंकृत थीं । छत पर सोने की कलई से युक्त, ताम्र आमलक शोभायमान था[1] । इस मंदिर का अनेक बार जीर्णोद्धार किया गया और उसे नया बनाया गया । जिस रूप में वह आज खड़ा है, "वह ११०५ तथा १२६८ ई० में बर्मा के लोगों द्वारा किए गए जीर्णोद्धार का जीर्णोद्धार (१८८०—८१ ई० का) है ।"

दक्षिणी विहार में स्थित बौद्ध-विद्या का प्रसिद्ध केंद्र नालंदा पाँचवीं शताब्दी के अंतिम समय में मौजूद था । ह्वेनसांग ईंटों से बने हुए जिस विशाल मंदिर का वर्णन करता है, वह ३०० फ़ीट से अधिक ऊँचा था । उस का निर्माण नरसिंह बालादित्य ने कराया था । वह बोधगया के मीनार के सदृश्य था । उस के पूर्वगामी राजाओं—शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त—तथा उस के पुत्र एवं उत्तराधिकारी वज्र तथा मध्यभारत के एक दूसरे राजा ने जितने मठ बनवाए थे, वे सब चीनी यात्री के आगमन के समय खड़े थे । ह्वेनसांग के जीवन चरितकार ह्वी-ली ने संपूर्ण नालंदा की रमणीयता का विशद वर्णन इस प्रकार किया है—

"संपूर्ण नालंदा ईंटों की दीवार से घिरा हुआ है, जो कि सारे मठ को बाहर से घेरती है । एक फाटक विद्यापीठ की ओर है जिस से कि आठ अन्य 'हाल' जो (संघाराम के) बीच में स्थित हैं, अलग किए गए हैं । सुअलंकृत मीनार तथा परी-सदृश गुंबज, पर्वत की नोकदार चोटियों की भाँति एक साथ हिले-मिले से खड़े हैं । मान-मंदिर (प्रातःकाल के) धूम्र में विलीन हुए से प्रतीत होते हैं और ऊपरी कमरे बादलों के ऊपर विराजमान हैं । खिड़कियों से कोई यह देख सकता है कि किस प्रकार हवा और बादल नया-नया रूप बनाते हैं, और ऊँची-ऊँची ओलतियों के ऊपर सूर्य एवं चंद्रमा की क्रांति देखी जा सकती है । ....

[1]वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ ११६

बाहर की सब परिवेष्टित 'कक्षाएं' जिन में श्रमणों के रहने के लिए कमरे बने थे, चार-चार 'भूमियों' (मंज़िलों) की थीं। उन के मकराकृत बार्जे, रंगीन श्रोलतियां, मोती के समान लाल खंभे—जो सजावटों से परिपूर्ण थे और जिन पर चित्र खुदे हुए थे—सुअलंकृत छोटे स्तंभ तथा खपड़ों से अच्छादित छतें, जो सूर्य के प्रकाश को हज़ारों रूप में प्रतिबिंबित करती थीं—ये सभी उस की शोभा को बढ़ाते थे[1]।"

अजंता की चित्रकारियों तथा अमरावती की शिल्पकला से भारतीय प्रासाद-निर्माण विद्या का बहुत अच्छा आभास मिलता है। महल में चित्रशाला, संगीतशाला तथा नाट्यशालाएं होती थीं। 'हर्षचरित' में उल्लिखित प्रभाकरवर्द्धन के महल के विभिन्न भागों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जैसा कि कुमारस्वामी कहते हैं, "महल एक या दो मंज़िलों के खंभेदार कमरों का संबद्ध समुदाय होता था। उस की छत या तो चौरस होती थी या नोकदार। लकड़ी के खंभे, उस के शीर्ष तथा कार्निस आदि चित्रकारी तथा उत्कीर्ण मूर्तियों से खूब अलंकृत थे[2]।"

चित्रकला, जिस की गणना चौसठ कलाओं में होती है और जिस का उल्लेख प्राचीन साहित्य में खूब मिलता है, गुप्तकाल में बहुत उन्नत दशा पर थी। राजाओं तथा उच्च घराने की महिलाओं के लिए इस कला का ज्ञान एक अनिवार्य गुण समझा जाता था। चित्रण-कला-पद्धति का बहुत अधिक विकास हो गया था और ऐसे जटिल नियम बना दिए गए थे, जिन का अनुसरण करना चित्रकार के लिए आवश्यक हो गया था। इस समय चित्रकला पर एक वृहद् साहित्य भी वर्तमान था। गुप्तकाल की चित्रकला, अजंता के दो विहारों (१६ व १७ नं० की गुफाओं) तथा एक चैत्य के कमरे (नं० १६ की गुफा) में सुरक्षित है। यह बात तो सब को भली-भाँति ज्ञात है कि अजंता की चित्रकारियों की प्रशंसा सारे संसार ने की है। विभिन्न भाव-भेदों को बिना किसी अधिक परिश्रम के, मनोहर रूप में अभिव्यक्त करने में चित्रकार बड़े पारंगत थे। स्वाभाविकता, लालित्य तथा चेतना का अभिव्यंजन इस कला की अपनी विशेषताएं हैं। अजंता के चित्रकार बड़े प्रतिभाशाली थे, उन की चित्रकारी इतने उत्कृष्ट दर्जे की थी कि वास्तव में कोई उस का अनुकरण नहीं कर सकता। रूप-भेद तथा हाव-भाव-संबंधी उन का ज्ञान तथा भाव-भेदों पर उन का अधिकार वस्तुतः आश्चर्यजनक है। हाथों की सुंदरता तथा मानव-शरीर के रूप संबंधी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का चित्रण इतनी कुशलता के साथ किया गया है कि आधुनिक चित्रकार उस के सामने अपनी अभिज्ञता पर निराशा प्रकट करते हैं। उन चित्रकारों में केवल दैवी प्रेरणा ही नहीं थी, प्रत्युत वे बड़े विद्वान भी थे। उन्हों ने

---

[1]जीवनी, पृष्ठ १११-११२

यशोवर्मदेव के राज्य-काल में उत्कीर्ण नालंदा के शिलालेख में भी नालंदा की रमणीयता का मनोहर वर्णन है—देखिए, श्लोक ४-६, 'एपिग्राफ़िका इंडिका', जिल्द २०

[2]कुमारस्वामी, 'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ८४

शरीर-तत्व (अस्थि-संस्थान) तथा मुद्राओं का प्रगाढ़ अध्ययन कर उस में पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ली थी।

अजंता में गुप्तकाल की की हुई चित्रकारियों में बुद्ध की मूर्तियां, मरणासन्न-राजकुमारी, धर्मचक्र, सिंहल-विजय की धारावाहिक घटनाएं, महात्मा बुद्ध का कपिलवस्तु को प्रत्यागमन, राज्याभिषेक, प्रेम-शृंगार के दृश्य और गंधर्व, अप्सरा तथा जातक-कथा-गत दृश्य आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। नं० १७ की गुफा के एक चित्र में बुद्ध भिखारी के रूप में खड़े हैं, माता अपने बच्चे को ले कर उन्हें भिक्षा देने के लिए बाहर निकलती है और फिर उन के सौम्य तथा उज्ज्वल रूप को देख कर भक्ति-भावनाओं के आवेश में आकर वह प्रायः आत्म-निवेदन करने के लिए उद्यत हो जाती है। यह चित्र-चित्रण की कला-कुशलता का बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसे जुलूसों (मिछिल) के चित्र अंकित हैं, जिन में विभिन्न प्रकार की समकालीन गतियों का बड़ी निपुणता के साथ चित्रण किया गया है। जंगली हाथियों को स्वतंत्रता तथा निर्भयता के साथ पूर्ण आनंद में मग्न इधर-उधर विचरण करते हुए दिखाया गया है। एक चित्र में घोड़े पर सवार हो कर एक राजा हाथी का शिकार कर रहा है और उस का सशस्त्र अनुचर-दल उसे चारों ओर से घेरे हुए है।

उत्तरकालीन गुप्तकला तथा प्रारंभिक सातवीं शताब्दी की कला के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती। ठीक-ठीक यह निश्चय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है कि कला के कौन-कौन से काम श्रीहर्ष के समय के हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार रायपुर ज़िले में सिरपुर नामक स्थान में स्थित ईंटों का बना हुआ लक्ष्मण-मंदिर हर्ष के शासन-काल का कहा जा सकता है[1]। दूसरा मत यह है कि वह मंदिर नवीं शताब्दी का है। कुमारस्वामी के कथनानुसार मुंडेश्वरी का अष्टकोण मंदिर जो शाहाबाद ज़िले के अंदर भबुआ नामक स्थान के पास स्थित है, निश्चयात्मक रूप से हर्षवर्द्धन के काल का है[2]। उन का यह भी कथन है कि एक चैत्य-भवन का भग्नावशेष भी हर्ष के शासन-काल का हो सकता है।

भगवान बुद्ध तथा हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियां हर्ष के शासन-काल में, पुण्यात्मा भक्तों द्वारा अवश्य ही बहुत अधिक संख्या में मंदिरों के अंदर स्थापित की गई होंगी—जैसा कि हम भूतकाल के तथा बाद के भारतीय इतिहास में पाते हैं। ये मूर्तियां प्रधानतः पत्थर, धातु अथवा मिट्टी की बनी हुई पक्की होती थीं। मंदिरों, मठों तथा अन्य इमारतों की दीवारों में भी ये मूर्तियां शोभा के लिए उत्कीर्ण की जाती थीं। बहुसंख्यक ऐसे खोए हुए 'अर्द्धचित्र' देश के अनेक प्राचीन स्थानों में प्राप्त हुए हैं, जिन में अलग-अलग अथवा एक समष्टि के रूप में पशुओं, पौराणिक जीव-जंतुओं, लताओं, वृक्षों आदि के चित्र तथा रेखागणित की शक्लें बनी हुई हैं। ये विभिन्न समय के हैं। कतिपय अलंकृत 'अर्द्धचित्र'

---

[1]कुमारस्वामी, 'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ९३ (पादटीका)

[2]वही, पृष्ठ ९४

जो नालंदा में नंबर १ तथा प्रधानतः नंबर २ के स्थान पर पाए गए हैं, सातवीं सदी के बताए जाते हैं[1]।

यहां पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाराज हर्ष ने नालंदा में पीतल की चद्दरों से आच्छादित एक मठ स्थापित किया था[2], और मगध के राजा पूर्ववर्मा ने सातवीं सदी के प्रारंभ में बुद्ध की एक ८० फ़ीट ऊँची तथा शानदार मूर्ति एक छः-मंज़िले मंदिर में स्थापित की थी।[3]

पुडुकोट्टइ राज्य में स्थित सित्तनवासल नामक स्थान में आविष्कृत जैनों की कुछ चित्रकारियां सप्तम शताब्दी की हैं। इस आविष्कार का श्रेय जुभो डुब्रेयिल नामक फ्रांसीसी विद्वान को प्राप्त है।[4]

हर्ष के समय के प्रधान-प्रधान—नगर जैसे, कन्नौज, बलभी, उज्जैन, वाराणसी, पल्लवों की राजधानी कांची, आदिम चालुक्यों की राजधानी वातापीपुर आदि—मंदिर, मठ तथा महल आदि, कला के उत्कृष्ट नमूने थे। बाण ने उज्जैन का जो वर्णन किया है उस से इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वह एक शानदार नगर था, उस में बड़े-बड़े महल, मंदिर, बाटिकाएं तथा कुंज थे, जिन की सजावट बड़ी निपुणता के साथ की गई थी।

प्रारंभिक चालुक्य राजाओं की वास्तुकला प्रायः हर्ष के शासन-काल के अंतर्गत आती है। उस के नमूने ऐहोड़े, पत्तक-दल तथा बादामी के अनेक मंदिरों में पाए जाते हैं। कांची के पल्लव-राजे कला के महान संरक्षक थे। उन्हों ने हिंदू तथा बौद्ध मंदिरों एवं मठों से अपनी राजधानी को सुशोभित किया। ये मंदिर तथा मठ कला के उत्कृष्ट नमूने थे। उन्हों ने कला की अनेक शैलियों का विकास किया। हर्ष के समकालीन महेंद्र वर्मा के शासन-काल में एक नई शैली का विकास हुआ, जिस का नाम महेंद्र-शैली पड़ा। महेंद्र वर्मा ने ईंट तथा पत्थर के अनेक मंदिर बनवाए। जैसा कि जुभो डुब्रेयिल कहते हैं "वे (महेंद्र वर्मा) तामिल सभ्यता के इतिहास में एक महान व्यक्ति थे।" शिल्पकला तथा चित्रकला के विकास में उन्हों ने जो कुछ योग दिया, उसी के आधार पर यह दावा अवलंबित है। जब ६४२ ई० में नरसिंह वर्मा के शासन-काल (६३०—६६०) में ह्वेनत्सांग कांची गया, तब उस ने वहां अनेक सुंदर-सुंदर मंदिर तथा बिहार देखा था।

---

[1] 'आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट' १९२१-२२ (प्लेट ७वां) तथा १९१५-१६, पृष्ठ १२। १९१५-१६ ईस्टर्न सरकिल, पृष्ठ ३६ तथा आगे—'आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट' इस्टर्न सरकिल, पृष्ठ ३९ और आगे।

[2] जीवनी, पृष्ठ १५९

[3] कुमारस्वामी, 'इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ९३

[4] जुभो डुब्रेयिल, 'पल्लव पेंटिंग', पृष्ठ ९३

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व, हम संक्षेप में उन अनेक शिल्पों का उल्लेख करेंगे, जो महाराज हर्ष के समय में इस देश के अंदर प्रचलित थे। वे हर्ष के काल के लिए कोई नवीन नहीं थे, बल्कि हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से उन का प्रचलन था। जवाहिरात के ज़ेवर प्रचुरता के साथ बनाए और पहने जाते थे। उन का उपयोग सारे देश में सभी श्रेणी के लोग करते थे; इस लिए स्वभावतः मणिकार की कला का बहुत अधिक विकास हुआ था। राजा, अमीर तथा साधारण घरों के लोग हर प्रकार के गहने पहनते थे। बाण हमें बतलाता है कि राज्यश्री के विवाह के अवसर पर अनेक स्वर्णकार गहने प्रस्तुत करने में लगे थे। सोने, चाँदी, पीतल तथा अन्य धातुओं के बने हुए अनेक प्रकार के बर्तन कारीगरों की कला के साधारण उदाहरण थे। धातु का काम करने वाले कारीगर नक्क़ाशी में बड़े निपुण थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि हर्ष के समय के कपड़े अपनी बारीकी तथा क़िस्मों के लिए प्रसिद्ध थे। कपड़ा रँगा और छापा जाता था। प्रचलित रुचि के अनुसार ये रंग और छापे अनेक प्रकार के होते थे। रँगरेज़ों तथा छापनेवालों की कला बहुत उन्नत अवस्था को प्राप्त हो गई थी। अन्य कारीगरियों में बेल-बूटे के कामों का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में विभिन्न प्रकार के बेल-बूटे के काम प्रचलित थे। हर्ष के समय के भारतीय कारीगर हाथी के दाँत तथा लकड़ी के काम में भी—सादे तथा जड़ाऊ दोनों में—विशेष रूप से कुशल थे। यदि हम सावधानी के साथ अमर लेखक बाण के दिए हुए विवरण से उन अनेक वस्तुओं का अध्ययन करें, जो राज्यश्री के विवाह में इस्तेमाल की गई थीं, तो हम भारतीय कारीगरों के असाधारण कौशल का अनुमान कर सकते हैं। बाण ने सेना का जो वर्णन किया है, उस से हम उन विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं, जो उस समय साधारण सैनिक साज-सामान में सम्मिलित थीं। कामरूप के राजा ने हर्ष के पास उपहार-स्वरूप जो वस्तुएं भेजी थीं, वे कारीगरों के कौशल के सुंदर नमूनों के रूप में थीं।

बाण के 'हर्षचरित' में, हर्षकालीन कलाओं तथा शिल्पों का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर हम निपुण चित्रकारों के एक दल को मंगलकारक दृश्यों का चित्रांकन करते हुए पाते हैं। इस के अतिरिक्त बहुसंख्यक, ढाँचे, साँचे में ढली हुई मछली, कछुआ, मगर, नारियल, केला तथा तमाल के वृक्षों की मूर्तियां वहां पर मौजूद थीं। महिलाएं 'धवलित' कलशों तथा बिना पकाए हुए मिट्टी के बर्तनों को अलंकृत करने में अपने पत्र तथा लता के चित्रांकन-संबंधी कौशल का उपयोग कर रही थीं[१]। सारा महल विभिन्न प्रकार के वस्त्रों से सुसज्जित था। उस का प्रत्येक भाग हज़ारों इंद्रधनुष की भाँति चमक रहा था। वे वस्त्र 'क्षौम', (सन के रेशों के बने हुए महीन कपड़े) बादर, (सूती) दुकूल, (एक प्रकार के रेशमी कपड़े) लालातंतुज़ (कौशेय वस्त्र), अंशुक (एक प्रकार का मलमल), नेत्र थे, और

---

[१] 'हर्षचरित', पृष्ठ २०२

ये साँप के केंचुल के समान लगते थे। ये "कदली-गर्भ" की तरह कोमल, बिना स्पर्श के अदृश्य एवं साँस लगने से हिलने लगते थे।[1]

चित्रांकन के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं। यहां पर एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। बाण बतलाता है कि हर्ष के जन्म के पूर्व गर्भावस्था में रानी यशोमती जब अपने कमरे में सोई रहती थीं, उस समय चित्रित दीवारों की चँवरधारी स्त्रियां भी उन पर चँवर हिलातीं थीं[2]। सभी बातों पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि हर्ष का युग—जो गुप्तकालीन ललितकला का उत्तराधिकारी था—सभी रचनात्मक शक्ति से परिपूर्ण था। उस समय के तक्षकों और चित्रकारों ने अपने आध्यात्मिक विचारों को रूप तथा रंग के द्वारा अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी।

---

[1] हर्षचरित—पृष्ठ २०३

[2] सुप्ताया चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योपि चामराणि चालयांचक्रुः—'हर्षचरित', पृष्ठ १८२

लिए रोक रखना संभव नहीं था। श्रीहर्ष ने अपने पौरुष एवं प्रतिभा से अर्द्ध शताब्दी तक उन को रोक रक्खा। उन के देहावसान के पश्चात् देश में घोर अराजकता छा गई। 'मंजुश्री बोधिसत्वं ने ह्वेनसांग को स्वप्न में दर्शन दे कर जो भविष्यवाणी की थी, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई[1]।'

राजनीतिक महत्व की दृष्टि से एक बात और उल्लेखनीय है। जिस समय हर्ष अपने शासन-काल के गौरव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे, उस समय अरब के मरुस्थल में एक ऐसी घटना हुई, जिस के परिणाम-स्वरूप संसार के इतिहास में राजनीतिक और धार्मिक क्रांति हो गई। ६२२ ई० में हज़रत मुहम्मद मक्का से मदीना चले गए और इस्लाम धर्म का सूत्रपात हुआ। संसार के रंगमंच पर एक नवीन शक्ति का प्रवेश हुआ, जो स्वल्प समय में ही अजेय और दुर्निवार सिद्ध हुई। खेद है कि इस क्रांतिकारी घटना का उल्लेख तत्कालीन ग्रंथों अथवा लेखों में नहीं मिलता। कन्नौज के सिंहासन पर आरूढ़ 'उत्तरापथेश्वर' को कदाचित इस की सूचना नहीं मिली; किंतु थोड़े ही दिनों में इस शक्ति के प्रवेश से भारत में भी राजनीतिक एवं धार्मिक क्रांति हो गई। हिंदू-भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ।

धार्मिक दृष्टि-कोण से भी श्रीहर्ष का शासन-काल बड़े महत्व का था। यद्यपि ऊपर से देखने पर यह काल धार्मिक ग्लानि का था—बौद्ध, जैन तथा हिंदू धर्म असंख्य संप्रदायों में विभक्त हो गए थे, उन का पारस्परिक द्वेष-भाव पाठकों के चित्त में कोई अच्छी धारणा नहीं उत्पन्न करता—तथापि भारत के धार्मिक इतिहास के व्यापक स्वरूप पर विचार करने से हर्ष का युग हमारे सामने एक दूसरे ही रूप में उपस्थित होता है। यह विदित है कि गुप्तवंश के राज्यारंभ से ही ब्राह्मण-धर्म का अभ्युत्थान बड़े वेग से होने लगा था; परंतु कालांतर में अनेक कारणों से इस धर्म की जीवन-शक्ति क्षीण होने लगी। सांप्रदायिकता, अंधविश्वास तथा आडंबरपूर्ण कर्मकांड के असह्य बोझ से धर्म का वास्तविक स्वरूप दब गया था। बौद्धधर्म में भी अनेक त्रुटियां आ गई थीं। वास्तव में, भारतवर्ष के धार्मिक जीवन के सुधार के लिए, 'श्रुत्यर्थविमुख', शून्यवादी बौद्धों का नष्ट होना ही कल्याणकारक था। कुमारिल तथा अन्य ब्राह्मणों के प्रबल आंदोलन के परिणाम-स्वरूप अधःपतित बौद्धधर्म का अभीष्ट पतन हुआ। ब्राह्मण-धर्म में फिर से जीवन का संचार हुआ। वैदिक यज्ञयागादि का प्रचार बढ़ा और कुमारिल के बाद ही शंकराचार्य के आविर्भाव से भारत के धार्मिक जीवन का सुधार संपूर्ण हुआ। हर्ष के राज्यकाल के धार्मिक वातावरण के फल-स्वरूप ही कुमारिल तथा शंकराचार्य जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ। धार्मिक दृष्टि से उस काल का यही सब से बड़ा महत्व है।

सभ्यता-संस्कृति की दृष्टि से भारतवर्ष की अवस्था उस समय बहुत उन्नत थी। विद्या, कला तथा विज्ञान की अपूर्वधारा, जो गुप्त-काल में प्रवाहित हुई, अब भी अविरल अप्रतिहत थी। इस में संदेह नहीं कि भारत के इतिहास में, साहित्य तथा कला

---

[1]जीवनी, पृष्ठ १६९

के क्षेत्र में, हर्ष के राज्यकाल तक कृत्रिमता का युग नहीं आया था। भारत की उन्मेषशालिनी प्रतिभा अभी तक नित्य नवीन सौंदर्य-सृष्टि में मग्न थी। अभी तक भारत के विख्यात शिक्षा-केंद्रों के अतुलनीय ज्ञानभंडार से लाभ उठाने के लिए सुदूर पूर्व देशों से विद्यार्थी आते थे। अभी तक सूत्रधार के रूप में भारत, समस्त एशिया की सभ्यता का सूत्र अपने हाथों में लिए था। हर्ष भारत की इस उन्नत सभ्यता के एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे।

श्रीहर्ष के जीवन का अवसान ६४६ ई० के अंत में, अथवा ६४७ ई० के प्रारंभ में हुआ। 'जीवनी' के अनुसार यह घटना युं-ह्वी काल के अंतिम भाग में घटित हुई। इस का अर्थ यह है कि हर्ष की मृत्यु ६५४-६५५ ई० में हुई। परंतु चीनी इतिहासों में हर्ष की मृत्यु का काल ६४२ ई० में बताया गया है। प्रथम उल्लिखित काल सर्वथा अग्राह्य है। दूसरी तिथि को भी कुछ पीछे हटाना आवश्यक है। कारण यह है कि चीनी राजदूतों का जो दल ६४८ ई० में भारत भेजा गया था, उस के यहां पहुँचने के पूर्व ही हर्ष की जीवन-लीला का अवसान हो चुका था। इस के अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात है कि ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण को ६४८ ई० में तैत्सुंग के सम्मुख उपथित किया था। यह ग्रंथ जिस रूप में आज विद्यमान है, उस से इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि इस की रचना हर्ष की मृत्यु के उपरांत हुई होगी। इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि हर्ष की मृत्यु ६४८ ई० के एक साल पूर्व ही हुई थी[1]।

यद्यपि श्रीहर्ष का पार्थिव शरीर आज से लगभग १३०० वर्ष पूर्व ही नष्ट हो गया था; तथापि उन का 'यश-शरीर' आज भी वर्तमान है। उन का अमर नाम इतिहास के पृष्ठों पर सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

---

[1] वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ ३४७

परिशिष्ट—१

अ

बंसखेरा का ताम्रलेख

हर्ष-संवत २२

१—श्री स्वस्ति महानौहस्त्यश्वजयस्कंधावाराच्छ्रीवर्द्धमानकोट्या महाराजश्रीनर-वर्द्धनस्तस्यपुत्रस्तत्पादानुध्यातश्श्रीवज्रिणीदेव्यामुत्पन्नः परमादित्यभक्तो महाराजश्रीराज्य-वर्द्धनस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु—

२—ध्यातश्श्रीमदप्सरोदेव्यामुत्पन्नः परमादित्यभक्तो महाराजश्रीमदादित्यवर्द्धन-स्तस्यपुत्रस्तत्पादानुध्यातश्श्रीमहासेनगुप्तादेव्यामुत्पन्नश्चतुस्समुद्रातिक्रांतकीर्तिःप्रतापानुरागोप—

३—नतान्यराजो वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत्तचक्र एकचक्ररथ इव प्रजानामार्त्तिहरः परमादित्यभक्तः परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्री प्र (भा) कर (व) र्द्ध (न) स्तस्य पुत्र-स्तत्पादा—

४—नुध्यातस्सितयशःप्रतानविच्छुरितसकलभुवनमंडलः परिगृहीतधनदवरुणेंद्र-प्रभृतिलोकपालतेजास्सत्पथोपार्जितानेकद्रविणभूमिप्रदा (नसं)प्रीणितार्थिहृदयो—

५—तिशयितपूर्व्वराजचरितो देव्याममलयशोमत्याम् श्रीयशोमत्यामुत्पन्नः परम सौगतस्सुगत इव परहितैकरतः परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्रीराज्यवर्द्धनः। राजानो युधि दु—

६—ष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्व्वे समं संयताः। उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वा प्रजानां प्रियं प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः। तस्या—

७—(नुजस्त) त्पादानुध्यातः परममाहेश्वरो महेश्वर इव सर्वसत्वानुकम्पो परम भट्टारकमहाराजाधिराजश्रीहर्षः अहिच्छत्रभुक्तावंगदीयवैषयिकपश्चिमपथकस (म्बद्ध) मर्कट सा—

८—गरे समुपगतान् महासामंतमहाराजदौस्साधसाधनिकप्रमातारराजस्थानीय-कुमारामात्योपरिकविषयपतिभटचाटसेवकादीन् प्रतिवासिजानपदांश्च समाज्ञापयति विदितम—

९—स्तु यथाकपुरिति लिपग्रामस्सवल्मीकपर्यन्तस्सोद्रङ्गस्सर्व्वराजकुलाभाव्य प्रत्यायसमेतस्सर्व्वपरिहृतपरिहारो विषयादुद्धृतपिंडः पुत्रपौत्रानुगश्चंद्रार्कक्षितिसमका—

१०—(ली) नो भूमिछिद्रन्यायेन मया पितुः परमभट्टारकमहाराजाधिराज-श्रीप्रभाकरवर्द्धनदेवस्य मातुर्भट्टारिकामहादेवीराज्ञीश्रीयशोमतीदेव्या ज्येष्ठभ्रातृ परमभट्टारक—

११—महाराजाधिराजश्रीराज्यवर्द्धनदेवपादानाञ्च पुण्ययशोभिवृद्धये भरद्वाज-सगोत्रवहृचच्छन्दोगसब्रह्मचारिभट्टबालचंद्रभद्रस्वामिभ्यां प्रतिग्रहधर्मणाग्रहारत्वेन प्रतिपा—

१२—दितो विदित्वा भवद्भिस्समनुमन्तव्यः प्रतिवासिजानपदैरप्याज्ञाश्रवण विधेयैर्भूत्वा यथासमुचिततुल्यमेयभागभोगकरहिरण्यादिप्रत्याया एतयोरेवोपनेयास्सेवो-पस्थानञ्च क—

१३—रणीयमित्यपि च अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमभ्यनुमोद-नीयम् लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचंचलाया दानं फलं परयशःपरिपालनञ्च कर्मणा म—

१४—नसा वाचा कर्तव्यं प्राणिभिर्हितं हर्षेणैतत्समाख्यतन्धर्म्मार्ज्जनमनुत्तमम् दूतकोत्र महाप्रमातारमहासामन्तश्रीस्कंदगुप्त महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत महासामन्तम—

१५—हाराज (भान) समादेशादुत्कीर्णं—

१६—ईश्वरेणेदमिति सम्वत् २० २—

१७—कार्त्ति वदि १—

१८—**स्वहस्तोमम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य ।**

श्रीस्वस्ति, नाव, हाथी और घोड़ों से युक्त वर्द्धमान कोटी के महान सैनिक शिविर से (यह घोषित किया गया) :—एक महाराज नरवर्द्धन थे। (उन की रानी) वज्रिणी देवी से महाराज राज्यवर्द्धन पैदा हुए, जो उन के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। (महाराज राज्यवर्द्धन की रानी) अप्सरो देवी से महाराज आदित्यवर्द्धन उत्पन्न हुए, जो अपने पिता के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। (महाराज आदित्य-वर्द्धन की रानी) महासेनगुप्ता देवी से उन के एक पुत्र परम भट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकर-वर्द्धन पैदा हुए। (ये भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति) अपने पिता के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। इस महाराज प्रभाकरवर्द्धन का यश चारों समुद्रों को पार कर गया। अन्य राजे उन के प्रताप तथा प्रेम के कारण उन्हें मस्तक नवाते थे। इसी महाराज ने वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए अपना बल प्रयोग किया और सूर्य की भाँति प्रजा के दुःखों को नाश किया। (उन की रानी) निर्मल यशवाली यशोमती देवी से बुद्ध के परम भक्त और उन्हीं की भाँति परोपकारी परम भट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन पैदा हुए। ये भी पिता के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। इन के उज्ज्वल यश के तंतु संपूर्ण भुवन-मंडल में बिखर गए। इन्हों ने कुबेर, वरुण और इंद्र आदि लोकपालों के तेज को धारण कर सत्य और सुमार्ग से अर्जित द्रव्य, भूमि आदि प्रार्थीजनों को दे कर उन के हृदय को संतुष्ट किया। इन का चरित्र अपने पूर्वज राजाओं से बढ़ कर था। इन्हों ने देवगुप्त आदि राजाओं को एक साथ ही युद्ध में इस प्रकार दमन किया, जैसे दुष्ट घोड़ों को चाबुक के प्रहार से रोका या घुमाया जाता है। इन्हों ने अपने शत्रुओं का मूलच्छेद कर पृथ्वी को जीत लिया और प्रजा के हित कर्मों को करते हुए प्रतिज्ञा-पालन के लिए शत्रु-गृह

में प्राण त्याग दिया। इन्हीं महाराज राज्यवर्द्धन के छोटे भाई उन के चरणों के ध्यान में रत, परम शैव तथा शिवजी की भाँति प्राणिमात्र पर दया करने वाले परम भट्टारक महाराजाधिराज हर्ष ने अहिच्छत्र भुक्ति के अंतर्गत अंगदीय विषय के पश्चिम पथ से मिलाहुआ मर्कटसागर (ग्राम) में एकत्रित महासामंत, महाराज, दौस्साधसाधनिक,[1] प्रमातार,[2] राजस्थानीय,[3] कुमारामात्य,[4] उपरिक,[5] विषयपति,[6] चाट,[7] भट,[8] सेवक और निवासियों के लिए निम्नलिखित आज्ञा-पत्र जारी किया—

सर्व साधारण को विदित हो कि मैं ने अपने पिता परम भट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन, माता परम भट्टारिका महारानी यशोमती देवी और पूज्य बड़े भ्राता महाराज राज्यवर्द्धन के पुण्य और यश की वृद्धि के लिए अपनी सीमा तक विस्तृत ऊपर लिखित गाँव को—उस की संपूर्ण आय सहित, जिस पर राजवंश के लोगों का अधिकार था, सब प्रकार के भारों से मुक्त तथा अपने ज़िले से अलग कर पुत्र-पौत्र आदि (भावी संतान) के लिए जब तक चंद्र, सूर्य और पृथ्वी स्थित रहें, तब तक भूमिछिद्र के न्याय से—भरद्वाजगोत्र ऋग्वेदी भट्ट बालचंद्र तथा भरद्वाजगोत्र सामवेदी भट्ट भद्रस्वामी को अग्रहार के रूप में दान दिया। ऐसा समझ कर आप लोग इसे स्वीकार कीजिए। इस गाँव के निवासियों को चाहिए कि हमारी आज्ञा को शिरोधार्य कर तुल्य,[9] मेय,[10] भाग,[11] भोग,[12] (उपज का एक अंश) कर,[13] सुवर्ण[14] आदि इन्हीं दोनों ब्राह्मणों को दें और इन्हीं की सेवा करें। इस के अतिरिक्त हमारे महान् कुल से संबंध का दावा करने वाले और अन्य लोगों को भी इस दान का अनुमोदन करना चाहिए। लक्ष्मी का, जो कि जल के बबूले तथा बिजली की भाँति चंचला है, उस का फल, दान देना और दूसरों के यश की रक्षा करना है। मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणिमात्र का हित करना चाहिए। इस को हर्ष ने पुण्यार्जन करने का सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। इस विषय में महाप्रमातार महासामंत श्रीस्कंदगुप्त दूतक हैं और महाक्षपटल के कार्यालय में सामंत महाराज (भान) की आज्ञा से ईश्वर ने इसे लिखा। कार्तिक वदी १, संवत २२। हस्ताक्षर महाराजाधिराज श्रीहर्ष।

[1-5] ये राज्य के उच्च कर्मचारियों के पद थे। इन का विवेचन हर्ष-कालीन शासन के परिच्छेद में थोड़ा-बहुत किया गया है।

[6] विषयपति ज़िलाधीश को कहते थे।

[7] चाट ऐसे सिपाहियों को कहते थे, जो नियमानुकूल राज्य की ओर से नियुक्त नहीं किए जाते थे, बल्कि स्वयं ही स्वतंत्रता पूर्वक गाँवों में विचरण किया करते थे।

[8] भट ऐसे सिपाहियों को कहते थे, जो नियमानुकूल राज्य की ओर से गाँव की रक्षा के लिए नियुक्त किए जाते थे।

[9-14] प्राचीन काल में प्रचलित विभिन्न प्रकार के करों के नाम हैं। इन का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए फ़्लीट का 'कारपस-इंस्क्रिप्शेनुम इंडिकारम' द्रष्टव्य है।

व

मधुबन का ताम्रलेख

हर्ष-संवत २५

१—ॐ स्वस्ति महानौहस्त्यश्वजयस्कंधावारात् कपित्थकायाः महाराजश्री-नरवर्द्धनस्तस्यपुत्रस्तत्पादानुध्यातश्श्रीवज्रिणीदेव्यामुत्पनः परमादित्यभक्तो महाराजश्रीराज्य-वर्द्धन—

२—स्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातश्श्रीमदप्सरोदेव्यामुत्पन्नः परमादित्यभक्तो महाराज श्रीमदादित्यवर्द्धनस्तस्यपुत्रस्तत्पादानुध्यातश्श्रीमहा—

३—सेनगुप्तादेव्यामुत्पन्नश्चतुस्समुद्रातिक्रांतकीर्तिः प्रतापानुरागोपनतान्यराजो वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत्तचक्र एकचक्ररथ इव प्रजानामार्त्तिहरः—

४—परमादित्यभक्तः परमभट्टारकमहाराजाधिराज श्रीप्रभाकरवर्द्धनस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातस्सितयशःप्रतानविच्छुरितसकलभुवनमण्डलः परिगृहीत—

५—धनदवरुणेन्द्रप्रभृतिलोकपालतेजास्सत्पथोपार्ज्जितानेकद्रविणभूमिप्रदानसंप्रीणि-तर्थिहृदयोतिशयितपूर्व्वराजचरितो देव्याममलयशोमत्याम्—

६—श्रीयशोमत्यामुत्पन्नः परमसौगतस्सुगतइव परहितैकरतः परमभट्टारकमहाराजा-धिराजश्रीराज्यवर्द्धनः। [राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्ता—

७—दयः कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयताः। उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वा प्रजानां प्रियं प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः।] तस्यानुज—

८—स्तत्पादनुध्यात परममाहेश्वरो महेश्वर इव सर्वसत्वानुकम्पी परमभट्टारक महाराजाधिराजश्रीहर्षः श्रावस्तिभुक्तौ कुण्डधानिवैषयिकसोमकुण्डकाग्रामे—

९—समुपगतान् महासामन्तमहाराजदौस्साधसाधनिकप्रमातारराजस्थानीयकुमारा-मात्योपरिकविषयपतिभटचाटसेवकादीन् प्रतिवासिजानपदांश्च समा—

१०—ज्ञापयति अस्तु वः सम्विदितम्मयम् सोमकुण्डका ग्रामो ब्राह्मणवामरथ्येन कूट-शासनेन भुक्तक इति विचार्य यतस्तच्छासनम् भङ्क्त्वा तस्मादाक्षिप्यच स्वसीमा—

११—पर्यन्तः सोद्रङ्गस्सर्व्वराजकुलाभाव्यप्रत्यायसमेतस्सर्व्वपरिहृतपरिहारो विषया-दुद्धृतपिण्डः पुत्रपौत्रानुगश्चन्द्रार्कक्षितिसमकालीनो—

१२—भूमिछिद्रन्यायेन मया पितुः परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्रीप्रभाकरवर्द्धन-देवस्य मातुर्भट्टारिकामहादेवीराज्ञीश्रीयशोमतीदेव्या—

१३—ज्येष्ठभ्रातृपरमभट्टारकमहाराजधिराजश्रीराज्यवर्द्धनदेवपादानञ्च पुण्ययशोभि-वृद्धये सावर्णिसगोत्रच्छंदोगसब्रह्मचारिभट्टवातस्वामि—

१४—विष्णुवृद्धसगोत्रवहृचसब्रह्मचारिभट्टशिवदेवस्वामिभ्याम् प्रतिग्रहधर्मणा-ग्रहारत्वेन प्रतिपादितो विदित्वा भवद्भिस्समनुमन्तव्यः प्रति—

१५—वासिजानपदैरप्याज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा यथासमुचिततुल्यमेयभागभोगकर-हिरण्यादिप्रत्याया एतयोरेवोपनेयास्सेवोपस्थानञ्च करणीयमित्य—

१६—पिच अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमभ्यनुमोदनीयम् लक्ष्म्यास्तडितसलिलबुद्बुदचञ्चलाया दानं फलं परयशःपरिपालनञ्च कर्मणा—

१७—मनसा वाचा कर्तव्यं प्राणीभिर्हितं हर्षेणैतत्समाख्यातन्धर्म्मार्ज्जनमनुत्तमम् दूतकोत्र महाप्रमातारमहासामन्तश्रीस्कंदगुप्तः महाक्षपटलाधिकरणाधि—

१८—कृत सामन्तमहाराजेश्वरगुप्तसमादेशाच्चोत्कीर्णम् गर्ज्जरेण सम्वत् २० ५ मार्गशीर्ष वदि ६।

स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य

ॐ स्वस्ति, नाव, हाथी और घोड़ों से युक्त कपित्थका के महान सैनिक शिविर से (यह घोषित किया गया) :—एक महाराज नरवर्द्धन थे। (उन की रानी) वज्रिणी देवी से महाराज राज्यवर्द्धन पैदा हुए, जो उन के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। (महाराज राज्यवर्द्धन की रानी) अप्सरोदेवी से महाराज आदित्यवर्द्धन उत्पन्न हुए, जो अपने (पिता) के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। (महाराज आदित्यवर्द्धन की रानी) महासेनगुप्ता देवी से उन के एक पुत्र परम भट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन पैदा हुए। (ये भी अपने पूर्व-पुरुषों की भाँति) अपने पिता के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। इस महाराज प्रभाकरवर्द्धन का यश चारों समुद्रों को पार कर गया। अन्य राजे उन के प्रताप तथा प्रेम के कारण उन्हें मस्तक नवाते थे। इसी महाराज ने वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए अपना बल प्रयोग किया और सूर्य की भाँति प्रजा के दुःख को नाश किया। (उन की रानी) निर्मल यशवाली यशोमती देवी से बुद्ध के परम भक्त और उन्हीं की भाँति परोपकारी परम भट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन पैदा हुए। ये भी पिता के चरणों के ध्यान में रत और आदित्य के परम भक्त थे। इन के उज्ज्वल यश के तंतु संपूर्ण भुवन मंडल में बिखर गए। इन्हों ने कुबेर, वरुण और इंद्र आदि लोकपालों के तेज को धारण कर सत्य और सुमार्ग से अर्जित द्रव्य, भूमि आदि प्रार्थीजनों को दे कर उन के हृदय को संतुष्ट किया। इन का चरित्र अपने पूर्वज राजाओं से बढ़ कर था। इन्हों ने देवगुप्त आदि राजाओं को एक साथ ही युद्ध में इस प्रकार

दमन किया, जैसे दुष्ट घोड़ों को चाबुक के प्रहार से रोका या घुमाया जाता है। इन्हों ने अपने शत्रुओं का मूलोच्छेद कर पृथ्वी को जीत लिया और प्रजा के हित कर्मों को करते हुए प्रतिज्ञा-पालन के लिए शत्रु-गृह में प्राण त्याग दिया। इन्हीं महाराज राज्यवर्द्धन के छोटे भाई उन के चरणों के ध्यान में रत, परमशैव तथा शिवजी की भाँति प्राणिमात्र पर दया करनेवाले परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्ष ने श्रावस्ती भुक्ति के अंतर्गत कुंडधानी विषय के सोमकुंडका ग्राम में एकत्रित महासामंत, महाराज, दौस्साधसाधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक, विषयपति, चाट, भट, सेवक और निवासियों के लिए निम्नलिखित आज्ञा-पत्र जारी किया—

सर्व साधारण को विदित हो कि यह सोमकुंडका नामक गाँव, जिसे वामरथ्य ब्राह्मण ने अपने जाली दलील के बल से, अपने अधिकार में कर लिया था, उस के प्रमाण को मैंने रद्द कर के उस गाँव को उस से छीन लिया। मैंने अपने पिता परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन, माता परमभट्टारिका महारानी यशोमती देवी और पूज्य बड़े भ्राता महाराज राज्यवर्द्धन के पुण्य और यश की वृद्धि के लिए, अपनी सीमा तक विस्तृत इस गाँव को उस की संपूर्ण आय सहित, जिस पर राजवंश के लोगों का अधिकार था, सब प्रकार के भारों से मुक्त और अपने ज़िले से अलग कर पुत्र-पौत्र आदि (भावी संतान) के लिए, जब तक चंद्र, सूर्य और पृथ्वी स्थित रहें, तब तक भूमिछिद्र के न्याय से सावर्णिगोत्र सामवेदी भट्टवातस्वामी तथा विष्णुवृद्धगोत्र ऋग्वेदी भट्ट शिवदेव स्वामी को अग्रहार के रूप में दान दिया। ऐसा समझ कर आप लोग इसे स्वीकार कीजिए। इस गाँव के निवासियों को चाहिए कि हमारी आज्ञा को शिरोधार्य कर तुल्य, मेय, भाग, भोग, कर, सुवर्ण आदि इन्हीं दोनों ब्राह्मणों को दें और इन्हीं की सेवा करें। इस के अतिरिक्त हमारे महान् कुल से संबंध का दावा करनेवाले और अन्य लोगों को भी इस दान का अनुमोदन करना चाहिए। लक्ष्मी, जो कि जल के बबूले तथा बिजली की भाँति चंचला है उस का फल, दान देना और दूसरों के यश की रक्षा करना है। मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणिमात्र का हित करना चाहिए। इस को हर्ष ने पुण्यार्जन करने का सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। इस विषय में महाप्रमातार महासामन्त श्रीस्कंदगुप्त दूतक हैं और महाक्षपटल के कार्यालय में सामंत महाराज ईश्वर गुप्त की आज्ञा से गर्जर ने इसे लिखा। मार्गशीर्ष वदी ६, संवत २५। हस्ताक्षर महाराजाधिराज श्रीहर्ष।

परिशिष्ट–२

अ

ग्रंथ-सूची

हर्षकालीन भारत के इतिहास का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्राचीन तथा नवीन। इस सामग्री का, जिस की सहायता इस ग्रंथ के प्रणयन में यत्र-तत्र ली गई है, निर्देश संक्षेप में नीचे किया जाता है—

प्राचीन सामग्री

(क) संस्कृत ग्रंथ

१—'हर्षचरित' नामक हर्ष के जीवन-संबंधी गद्य-काव्य को इस विभाग में प्रधान स्थान प्राप्त है। इस ग्रंथ का अमर लेखक बाणभट्ट हर्ष का समकालीन था; इस लिए उस समय का इतिहास लिखने के लिए यह अनमोल साधन है, यद्यपि इस में हर्ष के प्रारंभिक जीवन तथा राज्यारोहण मात्र का ही वृत्तांत है। इस पुस्तक में फ़्यूरर द्वारा संपादित 'श्रीहर्षचरित' (बंबई संस्कृत सीरीज़) का उपयोग किया गया है। कावेल तथा टॉमस कृत 'हर्षचरित' का अंग्रेज़ी अनुवाद (ओरियेंटल ट्रांसलेशन फ़ंड, न्यू सीरीज़ नं० २;१८९७) भी सहायक सिद्ध हुआ है।

२—'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' नामक महायान बौद्धधर्म का एक ग्रंथ, हाल में उपलब्ध हुआ है। त्रावणकोर राज्य के प्रसिद्ध पंडित महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री जी ने इस ग्रंथ को १९२५ ई० में त्रिवेन्द्रम-संस्कृत-सीरीज़ (नं० ८४) में प्रकाशित किया। इस में १००० श्लोकों का एक दीर्घ भाग है, जिस में लगभग ई० पू० ७०० से ८०० ई० तक प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास लिपिबद्ध है, तथा ७८ ई० के बाद का इतिहास सुसंबद्ध रूप में दिया गया है। इस ग्रंथ के आविष्कार से प्राचीन भारत के अनेक ऐतिहासिक पहेलियों का हल होना संभव हुआ है। विख्यात ऐतिहासिक तथा पुरातत्वविद् श्रीयुत जायसवाल महोदय ने अपनी 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया' नामक हाल में प्रकाशित,

पुस्तक में 'मंजुश्रीमूलकल्प' में दिए हुए इतिहास का गंभीर पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। इस से षष्ठ तथा सप्तम शताब्दी के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। परंतु 'मंजुश्री-मूलकल्प' में दिए हुए इतिहास को वेदवाक्य मानने की आवश्यकता नहीं है। इस में दिए हुए ऐतिहासिक तथ्यों का जब तक अन्य साधनों से समर्थन न हो, तब तक उन पर पूर्णतया आस्था स्थापित करना इतिहासकारों के लिए उचित न होगा। इस के अतिरिक्त इस की भाषा अशुद्धियों से भरी है। व्याकरण के नियमों का यत्र-तत्र उल्लंघन किया गया है, वाक्यों का निर्माण इतना दोषयुक्त है कि उन के अर्थ निकालने में तत्वान्वेषी के धैर्य की कठिन परीक्षा हो जाती है और बहुधा उन के आनुमानिक अर्थ से ही संतुष्ट रहना पड़ता है। बहुत से स्थानों में राजाओं के नामों का संकेत केवल उन के प्रथम अक्षर से ही किया गया है, उदाहरणार्थ हर्षवर्द्धन के लिए केवल 'ह' का प्रयोग किया गया है। इस से कभी-कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि लेखक का तात्पर्य किस से है?

३—इस काल पर विचार करने के लिए संस्कृत के और भी प्राचीन ग्रंथों से सहायता मिलती है। बाणभट्ट-रचित 'कादंबरी' से, जो कथा-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों में से है, इस समय की सामाजिक सभ्यता तथा धार्मिक परिस्थिति पर बहुत ही प्रकाश पड़ता है। इस पुस्तक में मोरेश्वर रामचंद्र काले द्वारा संपादित, बंबई से प्रकाशित, 'कादंबरी' के संस्करण का उपयोग किया गया है।

४—श्रीहर्ष-रचित 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' तथा 'नागानंद' नामक नाटकों से भी हर्षकालीन सभ्यता-संस्कृति के विषय में कम सहायता नहीं मिलती। इन का भी उपयोग आवश्यकतानुसार इस पुस्तक में किया गया है।

(ख) चीनी ग्रंथ

१—चीनी ग्रंथों में मुख्य ह्वेनसांग का यात्रा-विवरण है। यह पुस्तक भी 'हर्षचरित्र' की भाँति उस समय का इतिहास लिखने के लिए एक अमूल्य साधन है, तथा राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति से घनिष्ट परिचय प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। यह विवरण चीनी भाषा में सी-यू-की के नाम से प्रसिद्ध है और इस का अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में सेमुएल बील तथा रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से टॉमस वाटर्स ने किया है। इस पुस्तक में वाटर्स-कृत संक्षिप्त अनुवाद, 'आन् युवनच्वांग' (ओरियेटंल ट्रांसलेशन फ़ंड, न्यू सीरीज़, जिल्द १४, लंदन १९०४) काम में लाया गया है। पाद-टिप्पणियों में जहां कहीं भी 'वाटर्स' लिखा गया है, वहां इसी ग्रंथ से अभिप्राय है।

२—ह्वेनसांग की जीवनी चीनी भाषा में उस के एक मित्र ह्वी-ली ने लिखी थी। मूलग्रंथ का अंग्रेज़ी में अनुवाद बील ने "दि लाइफ़ आफ़ ह्वेनसांग" (नवीन संस्करण, लंदन १९११) के नाम से किया है। इस जीवनी से ह्वेनसांग के यात्राविवरण द्वारा प्राप्त ज्ञान की पूर्ति होती है। इस ग्रंथ में इस पुस्तक का उल्लेख केवल 'जीवनी' के नाम से किया गया है।

३—इत्सिंग का यात्राविवरण भी इस काल के इतिहास के लिए विशेष महत्व का है। मूलग्रंथ चीनी भाषा में है और उस का अनुवाद विख्यात जापानी विद्वान तककुसु ने 'ए रेकर्ड आफ़ दि बुद्धिष्ट रिलिजन' के नाम से (आक्सफ़ोर्ड, १८९६) किया है।

४—चीन के अनेक सरकारी इतिहासों से भी इस समय के संबंध में अत्यन्त महत्वपूर्ण और मनोरंजक बातें मालूम होती हैं। पर इन का अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में नहीं हुआ है; अतः इस ग्रंथ की रचना में इन का उपयोग नहीं हो सका।

(ग) अन्य उपकरण

प्राचीन शोध से उपलब्ध ताम्रपत्रों, शिलालेखों, सिक्कों और मुद्राओं से भी तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्य के निर्णय में भारी सहायता मिलती है। इस ग्रंथ में इन साधनों का पूर्ण उपयोग किया गया है। आवश्यकीय लेख, सिक्के, मुद्राएं एवं अन्य प्राचीन अवशेष इत्यादि उपकरणों का वर्णन निम्नलिखित ग्रंथों में मिलता है :—

१—आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, कलकत्ता।

२—आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, ईस्टर्न सर्किल, कलकत्ता।

३—आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ़ मैसूर, वार्षिक रिपोर्ट।

४—एपिग्राफ़िआ इंडिका।

५—फ़्लीट—कॉर्पस इंसक्रिप्टियोनुम् इंडिकारम्, जिल्द ३, गुप्त इंसक्रिपशंस।

६—फ्लीट—डाइनेस्टीज़ आफ़ दि कनारीज़ डिस्ट्रिक्टस्।

७—प्रो० पद्मनाथ भट्टाचार्य—कामरूप शासनावली।

८—ऐलन—गुप्ता-क्वाइंस।

९—कैटेलॉग आफ़ क्वाइंस इन दि इंडियन म्यूज़ियम।

१०—जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी।

११—कनिंघम—क्वाइंस आफ़ मिडिएवल इंडिया।

नवीन सामग्री

(क) पुस्तकें

१—अरवमुथन—दि कावेरी, दि मौखरिज, ऐंड दि संगम एज।

२—ओझा (गौरीशंकर हीराचंद)—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।

३—कीथ—हिस्ट्री आफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर और संस्कृत ड्रामा।

४—कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट।

५—चंदा (रमाप्रसाद)—गौड़राजमाला।

६—जायसवाल—इंपीरियल हिस्ट्री आफ़ इंडिया।

७—जुवो डुब्रे इल—एंश्यंट हिस्ट्री आफ़ दि डेक्कन।

८—टी० राजगोपालन—पल्लवाज़।

९—नारिमन, जैकसन ऐन्ड ओगडन—प्रियदर्शिका बाइ हर्ष (भूमिका)।

१०—पनिक्कर—श्रीहर्ष आफ़ कन्नौज।
११—पीरेज़—दि मौखरिज़।
१२—फ़र्कुहर—आउटलाइंस आफ़ दि रेलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया।
१३—बसाक (राधागोविंद)—दि हिस्ट्री आफ़ नॉर्थ-ईस्टर्न इंडिया।
१४—बनर्जी (राखालदास)—दि एज-आफ़ दि इंपीरियल गुप्तज़।
१५—भंडारकर (रामकृष्णगोपाल)—अर्ली हिस्ट्री आफ़ दि डेक्कन।
१६—मजुमदार (रमेशचंद्र)—आउटलाइंस आफ़ अर्ली इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड सिविलिज़ेशन।
१७—मुकर्जी (राधाकुमुद)—हर्ष।
१८—मुकर्जी (प्रभातकुमार)—इंडियन लिटरेचर इन चाइना ऐन्ड दि फ़ार ईस्ट।
१९—मोरेज़—कदंबकुल।
२०—रायचौधुरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंश्यंट इंडिया।
२१—वैद्य (चिंतामणि विनायक)—मिडिएवल इंडिया।
२२—सुब्रमनियन—हिस्ट्री आफ़ आंध्र।
२३—स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया—चतुर्थ संस्करण।
२४—हालदार (असित कुमार)—अजन्ता।

(ख) पत्रिकाएं

१—जर्नल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी।
२—जर्नल आफ़ दि बिहार ऐन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी।
३—जर्नल आफ़ दि आंध्र हिस्टारिकल सोसाइटी।
४—क्वार्टर्ली जर्नल आफ़ दि मिथिक सोसायटी।
५—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली।
६—इंडियन ऐन्टिक्वेरी।
७—ऐनल्स आफ़ दि भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट।

वर्णानुक्रमिक सूची